महाभारतम्

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती



विषय-सूची

अध्याय | विषय | पृष्ठ

आदिपर्व

E – समिधा
॥ स्वाध्यायन्मा प्रमदः ॥
स्वाध्याय में प्रमाद निषेध

॥ ओ३म् ॥

महाभारतम्

आदिपर्व

प्रथमोऽध्यायः

अवतरणिका

इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ॥१॥

इस ग्रन्थ में इतिहास और पुराणों का मन्थन करके उनका प्रशस्त रूप प्रकट किया गया है। भूत, वर्तमान और भविष्य काल की तीनों संज्ञाओं का भी वर्णन हुआ है।

जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयः ।
विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम् ॥२॥

इस ग्रन्थ में बुढ़ापा, मृत्यु, भय, रोग और पदार्थों के सत्यत्व तथा मिथ्यात्व का विशेष रूप से निश्चय किया गया है और अधिकारी-भेद से विभिन्न धर्मों एवं आश्रमों का भी लक्षण बताया गया है।

चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः ।
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः ॥३॥
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह ।
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्म तथैव च ॥४॥

इस ग्रन्थ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों के कर्तव्य का विधान तथा पुराणों=ब्राह्मण-ग्रन्थों का सम्पूर्ण मूल तत्त्व भी प्रकट हुआ है। तपस्या एवं ब्रह्मचर्य के स्वरूप, अनुष्ठान एवं फलों का विवरण; पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा; सत्ययुग, त्रेता, द्वापुर, कलियुग—इन सबके परिमाण और प्रमाण तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद के आध्यात्मिक अभिप्राय और अध्यात्मशास्त्र का भी विस्तार से वर्णन किया गया है।

न्यायशिक्षाचिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा ।
हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥५॥

न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान तथा पाशुपत=सर्वान्तिर्यामी परमेश्वर का भी इसमें विशद वर्णन है। इसमें यह भी बताया गया है कि श्रेष्ठ और साधारण मनुष्य आदि शरीरों में जन्म का कारण क्या है।

अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः ।
ज्ञानाञ्जनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥६॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः ।
तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः ॥७॥

संसार के जीव अज्ञान-अन्धकार से अन्धे होकर छटपटा रहे हैं। यह महाभारत ज्ञानाञ्जन की शलाका लगाकर उनकी आँखें खोल देता है। वह शलाका क्या है? धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थों का संक्षेप और विस्तार से वर्णन। यह न केवल अज्ञान की रतौंधी को दूर करता है, प्रत्युत सूर्य के समान उदित होकर मनुष्यों की आँखों के सामने के सम्पूर्ण अन्धकार को ही नष्ट कर देता है।

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः ।
नृबुद्धिकैरवाणां च कृतमेतत् प्रकाशनम् ॥८॥

यह महाभारत-पुराण पूर्ण चन्द्रमा के समान है, जिससे श्रुतियों की चाँदनी छिटकती है और मनुष्यों की बुद्धिरूपी कुमुदिनी सदा के लिए खिल जाती है।

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना ।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत्सम्प्रकाशितम् ॥९॥

यह भारत-इतिहास एक जाज्वल्यमान दीपक है। यह मोह-अन्धकार को मिटाकर लोगों के अन्तःकरण-रूप सम्पूर्ण अन्तरङ्ग गृह को भली-भाँति ज्ञानालोक से आलोकित कर देता है।

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ॥१०॥

संसार में जितने भी श्रेष्ठ कवि होंगे, उनके काव्य के लिए यह मूल आश्रय होगा। जैसे मेघ सम्पूर्ण प्राणियों के लिए जीवन-दाता है, वैसे ही यह अक्षय भारत-वृक्ष है।

तस्य वृक्षस्य वक्ष्यामि शाश्वत्पुष्पफलोदयम् ।
स्वादुमेध्यरसोपेतमच्छेद्यममरैरपि ॥११॥

यह महाभारत एक वृक्ष है। मैं इस वृक्ष के फलों का वर्णन करूँगा। इस वृक्ष के स्वादु, पवित्र, सरस एवं अविनाशी पुष्प तथा फल हैं—धर्म और मोक्ष। उन्हें देवता भी इस वृक्ष से अलग नहीं कर सकते।

नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा ।
आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा ॥१२॥
ह्रदानामुदधिःश्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।
यथैतानीतिहासानां तथा भारतमुच्यते ।
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥१३॥

जैसे दही में नवनीत, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में उपनिषद्, ओषधियों में अमृत, सरोवरों में समुद्र और पशुओं में गाय सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही (उन्हीं के समान) इतिहासों में यह महाभारत भी सर्वश्रेष्ठ है। महत्ता, भार अथवा गम्भीरता की विशेषता से ही इसे महाभारत कहते हैं।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥१४॥

इतिहास और पुराणों=ब्राह्मण-ग्रन्थों की सहायता से ही वेदों का अर्थ, विस्तार एवं समर्थन करना चाहिए। जो इतिहास एवं पुराण से अनभिज्ञ है, उससे वेद डरते हैं कि यह मुझपर प्रहार करेगा, अर्थ का अनर्थ कर देगा।

यश्चैनं शृणुयान्नित्यमार्षं श्रद्धासमन्वितः ।
स दीर्घमायुः कीर्तिं च स्वर्गतिं चाप्नुयान्नरः ॥१५॥

जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन इस आर्ष ग्रन्थ का श्रवण करता है, उसे दीर्घायु, कीर्ति और स्वर्ग=सुख की प्राप्ति होती है।

विचित्रार्थपदाख्यानमनेकसमयान्वितम् ।
प्रतिपन्नं नरैः प्राज्ञैर्वैराग्यमिव मोक्षिभिः ॥१६॥

जैसे मोक्ष के इच्छुक पुरुष वैराग्य की शरण ग्रहण करते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य अलौकिक अर्थ, विचित्र पद, अद्भुत आख्यान तथा भाँति-भाँति की परस्पर विलक्षण मर्यादाओं से युक्त इस महाभारत का आश्रय ग्रहण करते हैं।

आत्मेव वेदितव्येषु प्रियेष्विव हि जीवितम् ।
इतिहासः प्रधानार्थः श्रेष्ठः सर्वागमेष्वयम् ॥१७॥

जैसे जानने योग्य पदार्थों में आत्मा तथा प्रिय पदार्थों में अपना जीवन सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही सम्पूर्ण शास्त्रों में परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्तिरूप प्रयोजन को पूर्ण करनेवाला यह इतिहास सर्वोत्तम है।

अनाश्रित्यैदमाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥१८॥

जैसे भोजन किये बिना शरीर-धारण सम्भव नहीं है, वैसे ही इस इतिहास का आश्रय लिये बिना भूमण्डल पर कोई भी कथा नहीं है।

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत् ।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥१९॥

असीम बुद्धिवाले महात्मा व्यास ने यह अर्थ-शास्त्र कहा है। यह महान् धर्मशास्त्र भी है, इसे कामशास्त्र भी कहा गया है [और मोक्षशास्त्र तो यह है ही]।

श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्रव्यमन्यन्न रोचते ।
पुंस्कोकिलरुतं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव ॥२०॥

इस उपाख्यान को सुन लेने पर और कुछ सुनना अच्छा नहीं लगता। भला कोकिल का कलरव सुनकर कौओं की कठोर 'काँव-काँव' किसे पसन्द आएगी?

इति महाभारते आदिपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

कथा-प्रवेश, महाभारत का महत्त्व

सौतिरुवाच

श्रुत्वा तु सर्पसत्राय दीक्षितं जनमेजयम् ।
अभ्यगच्छदृषिर्विद्वान् कृष्णद्वैपायनस्तदा ।।१।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! जब विद्वान् महर्षि कृष्णद्वैपायन ने यह सुना कि राजा जनमेजय सर्पयज्ञ की दीक्षा ले चुके हैं, तब वे वहाँ आये ।

जनमेजयस्तु राजर्षिर्दृष्ट्वा तमृषिमागतम् ।
सगणोऽभ्युद्ययौ तूर्णं प्रीत्या भरतसत्तमः ।।२।।

भरतश्रेष्ठ राजर्षि जनमेजय महर्षि व्यासजी को आया देख अति हर्ष के साथ उठकर खड़े हो गये और अपने सेवकों के साथ तुरन्त ही उनके स्वागत के लिए चल दिये ।

काञ्चनं विष्टरं तस्मै सदस्यानुमतः प्रभुः ।
आसनं कल्पयामास यथा शक्रो बृहस्पतेः ।।३।।

जैसे इन्द्र बृहस्पतिजी को आसन प्रदान करते हैं, उसी प्रकार राजा जनमेजय ने सदस्यों की अनुमति लेकर व्यासजी के लिए स्वर्ण-आसन की व्यवस्था की ।

तत्रोपविष्टं वरदं देवर्षिगणपूजितम् ।
पूजयामास राजेन्द्रः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।।४।।

देवर्षियों द्वारा पूजित, वरदायक व्यासजी जब वहाँ बैठ गये, तब राजेन्द्र जनमेजय ने शास्त्रीय विधि के अनुसार उनका पूजन किया ।

ततस्तु सहितः सर्वैः सदस्यैर्जनमेजयः ।
इदं पश्चात् द्विजश्रेष्ठं पर्यपृच्छत् कृताञ्जलिः ।।५।।

उनका पाद्य, आचमनीय, अर्घ्य द्वारा विधिवत् सत्कार करके सब सदस्यों सहित राजा जनमेजय ने हाथ जोड़कर द्विजश्रेष्ठ व्यासजी से इस प्रकार प्रश्न किया—

जनमेजय उवाच

कुरूणां पाण्डवानां च भवान् प्रत्यक्षदर्शिवान् ।
तेषां चरितमिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ।।६।।

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन् ! आप कौरवों और पाण्डवों को प्रत्यक्ष देख चुके हैं, अतः मैं आपके द्वारा वर्णित उनके चरित्र को सुनना चाहता हूँ ।

कथं समभवद् भेदस्तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तच्च युद्धं कथं वृत्तं भूतान्तकरणं महत् ।।७।।

वे तो राग-द्वेष आदि दोषों से रहित सत्कर्म करनेवाले थे, उनमें भेद-बुद्धि कैसे उत्पन्न हुई ? और प्राणियों का अन्त करनेवाला उनका वह महायुद्ध किस प्रकार हुआ ?

पितामहानां सर्वेषां दैवेनानिष्टचेतसाम् ।
कार्त्स्न्येनैतन्ममाचक्ष्व यथावृत्तं द्विजोत्तम ।।८।।

हे द्विजश्रेष्ठ ! प्रतीत होता है कि प्रारब्ध ने ही प्रेरणा करके मेरे उन सब पितामहों के मन को युद्धरूपी अनिष्ट में लगा दिया था । उनके उस सम्पूर्ण वृत्तान्त का आप यथावत् रूप से वर्णन करें ।

सौतिरुवाच

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ।।९।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—जनमेजय का यह वचन सुनकर कृष्ण द्वैपायन व्यास ने निकट में ही बैठे हुए अपने शिष्य वैशम्पायन को यह आदेश दिया—

व्यास उवाच

कुरूणां पाण्डवानां च यथा भेदोऽभवत् पुरा ।
तदस्मै सर्वमाचक्ष्व यन्मत्तः श्रुतवानसि ।।१०।।

व्यासजी बोले—वैशम्पायन ! पूर्वकाल में कौरव और पाण्डवों में जिस प्रकार फूट पड़ी थी, जिसे तुम मुझसे पहले सुन चुके हो, वह समस्त वृत्तान्त राजा जनमेजय को सुनाओ ।

वैशम्पायन उवाच

क्षणं कुरु महाराज विपुलोऽयमनुक्रमः ।
पुण्याख्यानस्य वक्तव्यः कृष्णद्वैपायनेरितः ।।११।।

वैशम्पायनजी बोले—महाराज ! इसके लिए कुछ समय निर्धारित कीजिए, क्योंकि व्यासजी द्वारा क्रमानुसार वर्णित यह पवित्र आख्यान बहुत विस्तृत है और वह सब आपके समक्ष कहकर सुनाना है ।

अस्मिन्नर्थश्च धर्मश्च निखिलेनोपदिश्यते ।
इतिहासे महापुण्ये बुद्धिश्च परिनैष्ठिकी ।।१२।।

इसमें अर्थ और धर्म का पूर्णरूप से उपदेश दिया गया है। इस परम पावन इतिहास के श्रवण और अध्ययन से मोक्ष-बुद्धि प्राप्त होती है।

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ।
महीं विजयते राजा शत्रूंश्चापि पराजयेत् ॥१३॥

यह 'जय' नामक इतिहास विजय-प्राप्ति की इच्छावाले पुरुष को अवश्य सुनना चाहिए। इसका श्रवण करनेवाला राजा भूमि पर विजय पाता और शत्रुओं को परास्त करता है।

महिषीयुवराजाभ्यां श्रोतव्यं बहुशस्तथा ।
वीरं जनयते पुत्रं कन्यां वा राज्यभागिनीम् ॥१४॥

युवराज तथा रानी को बारम्बार इसका श्रवण करते रहना चाहिए, इससे वह वीर पुत्र को अथवा राज्य-सिंहासन पर बैठनेवाली श्रेष्ठ कन्या को जन्म देती है।

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम् ।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥१५॥

महा बुद्धिमान् व्यासजी ने इसे पुण्यमय धर्मशास्त्र, उत्तम अर्थशास्त्र तथा सर्वोत्तम मोक्षशास्त्र भी कहा है।

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्ग्यं तथैव च ।
भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते ॥१६॥

इस ग्रन्थ का श्रवण एवं अध्ययन धन, यश, आयु पुण्य तथा स्वर्ग=सुख की प्राप्ति करानेवाला है। इसमें भरतवंशियों के महान् जन्म-वृत्तान्त का वर्णन है, अतः इसे 'महाभारत' कहते हैं।

नरेण धर्मकामेन सर्वः श्रोतव्य इत्यपि ।
निखिलेनेतिहासोऽयं ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥१७॥

धर्म की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को यह सारा महाभारत इतिहास पूर्णरूप से श्रवण करने योग्य है। इसके श्रवण से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

न तां स्वर्गगतिं प्राप्य तुष्टिं प्राप्नोति मानवः ।
यां श्रुत्वैव महापुण्यमितिहासमुपाश्नुते ॥१८॥

इस महान् पुण्यदायक इतिहास को सुनने मात्र से ही मनुष्य को जो सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता है, वह स्वर्गलोक प्राप्त कर लेने से भी नहीं मिलता।

यथा समुद्रो भगवान् यथा मेरुर्महागिरिः ।
उभौ ख्यातौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥१९॥

जैसे ऐश्वर्यपूर्ण समुद्र और महान् पर्वत मेरु दोनों रत्नों की खान कहे गये हैं, वैसे ही महाभारत रत्न-स्वरूप कथाओं और उपदेशों का भण्डार कहा जाता है।

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम् ॥२०॥

इस ग्रन्थ का निर्माण करनेवाले महामुनि कृष्णद्वैपायन ने प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर महाभारत नामक इस अद्भुत इतिहास को तीन वर्षों में पूर्ण किया है।

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥२१॥

हे भरतश्रेष्ठ ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो बात इस ग्रन्थ में है, वही अन्यत्र भी है; जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।

इति महाभारते आदिपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

महाराज दुष्यन्त का चरित्र

वैशम्पायन उवाच

पौरवाणां वंशकरो दुष्यन्तो नाम वीर्यवान् ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतकुलभूषण जनमेजय ! पूरुवंश का विस्तार करनेवाले दुष्यन्त नाम के एक राजा हो गये हैं। वे महापराक्रमी तथा चारों समुद्रों से घिरे हुए समस्त भूमण्डल के पालक थे।

नासीच्चौरभयं तात न क्षुधाभयमण्वपि ।
नासीद् व्याधिभयं चापि तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥२॥

महाराज दुष्यन्त के शासन-काल में चोरों का भय नहीं था। भूख का भय तो नाम को भी न था तथा रोग और व्याधि का डर भी नहीं रह गया था।

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि रसवन्ति च ।
सर्वरत्नसमृद्धा च मही पशुमती तथा ॥३॥

उनके राज्य में समय पर वर्षा होती थी तथा अन्न रसयुक्त होते थे। पृथिवी सब प्रकार के रत्नों से सम्पन्न तथा पशुधन से परिपूर्ण थी।

स चाद्भुतमहावीर्यो वज्रसंहननो युवा।
उद्यम्य मन्दरं दोर्भ्यां वहेत् सवनकाननम् ॥४॥

राजा दुष्यन्त स्वयं भी युवक थे। उनका शरीर वज्र के समान दृढ़ था। वे अद्भुत एवं महान् पराक्रम से सम्पन्न थे। वे अपने दोनों हाथों से उपवनों और काननों सहित मन्दराचल को उठाकर ले जाने की शक्ति रखते थे।

चतुष्पथगदायुद्धे बभूव परिनिष्ठितः।
बले विष्णुसमश्चासीत् तेजसा भास्करोपमः ॥५॥

वे गदायुद्ध के प्रक्षेप, विक्षेप, परिक्षेप और अभिक्षेप—इन चारों प्रकारों में अत्यन्त कुशल थे। वे बल में विष्णु के समान और तेज में सूर्य के समान थे।

अक्षोभ्यत्वेऽर्णवसमः सहिष्णुत्वे धरासमः।
सम्मतः स महीपालः प्रसन्नपुरराष्ट्रवान् ॥६॥

वे समुद्र के समान अक्षोभ्य एवं गम्भीर और पृथिवी के समान सहनशील थे। महाराज दुष्यन्त का सर्वत्र सम्मान था। उनके नगर तथा राष्ट्र के लोग सदा प्रसन्न रहते थे।

स कदाचिन्महाबाहुः प्रभूतबलवाहनः।
निर्ययौ परमप्रीत्या वनं मृगजिघांसया ॥७॥

एक समय की बात है, महाबाहु राजा दुष्यन्त बहुत-से सैनिक और सवारियों को साथ लिये वन में हिंसक पशुओं का शिकार[1] करने के लिए अति प्रसन्नता के साथ नगर से बाहर निकले।

तत्र मृगसहस्राणि[2] हत्वा सबलवाहनः।
राजा मृगप्रसङ्गेन वनमन्यद् विवेश ह ॥८॥

उस वन में सेना और सवारियों के साथ राजा दुष्यन्त ने अनेक हिंसक पशुओं का वध करके एक मृग का पीछा करते हुए दूसरे वन में प्रवेश किया।

प्रेक्षमाणो वनं तत् तु सुप्रहृष्टविहङ्गमम्।
आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम् ॥९॥

उस वन की शोभा देखते हुए उनकी दृष्टि एक उत्तम आश्रम पर पड़ी जो अत्यन्त रमणीय और मनोरम था। वहाँ बहुत-से पक्षी हर्षोल्लास में भरकर चहक रहे थे।

दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं तत्र काश्यपस्य महात्मनः।
चकाराभिप्रवेशाय मतिं स नृपतिस्तदा ॥१०॥

कश्यप गोत्रीय महात्मा कण्व के उस मनोहर एवं रमणीय आश्रम को देखकर राजा दुष्यन्त ने उसमें प्रवेश करने का विचार किया।

ततोऽगच्छन्महाबाहुरेकोऽमात्यान्विसृज्य तान्।
नापश्यच्चाश्रमे तस्मिंस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥११॥

उस आश्रम में प्रवेश का निश्चय कर महाबाहु राजा दुष्यन्त साथ आये हुए अपने मन्त्रियों को भी बाहर छोड़कर अकेले ही उस आश्रम में गये, परन्तु वहाँ कठोर व्रत का पालन करनेवाले महर्षि दिखाई नहीं दिये।

सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाऽऽश्रमम्।
उवाच क इहेत्युच्चैर्वनं सन्नादयन्निव ॥१२॥

महर्षि कण्व को न देखकर तथा आश्रम को सूना पाकर राजा ने सम्पूर्ण वन को प्रतिध्वनित-सा करते हुए पूछा—"यहाँ कौन है?"

श्रुत्वाथ तस्य तं शब्दं कन्या श्रीरिव रूपिणी।
निश्चक्रामाश्रमात्तस्मात्तापसी वेषधारिणी ॥१३॥

दुष्यन्त के उस शब्द को सुनकर एक मूर्तिमती लक्ष्मी-सी सुन्दरी कन्या तापसी का वेष धारण किये आश्रम से बाहर निकली।

---

१. मनोविनोद के लिए शिकार खेलना—निरीह पशुओं के वध को राजर्षि मनु आदि शास्त्रकारों ने व्यसनों में गिनाया है, परन्तु प्रजा के कल्याण के लिए हिंसक पशुओं और खेती को हानि पहुँचानेवाले सेही आदि जन्तुओं का शिकार करना सर्वथा उचित है।
एक बात सदा स्मरण रखनी चाहिए कि मारे हुए पशुओं को खाने का कहीं विधान नहीं है।

२. सहस्र शब्द का अर्थ हज़ार भी होता है परन्तु सर्वत्र यही अर्थ करना उचित नहीं है। निघण्टु में 'सहस्र' शब्द बहु के अर्थ में पठित है—**सहस्रं बहुनामसु पठितम्।** [निघ० ३।१], अतः हमने अर्थ किया है—'**अनेक**'। इस प्रसङ्ग में यही अर्थ समीचीन है।

सा तं दृष्ट्वैव राजानं दुष्यन्तमसितेक्षणा ।
स्वागतं त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ॥१४॥

कजरारे नेत्रोंवाली उस शुभलक्षणा कन्या ने राजा दुष्यन्त को देखते ही उनके प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित करते हुए शीघ्रतापूर्वक कहा—"अतिथि देव ! आपका स्वागत है।"

आसनेनार्चयित्वा च पाद्येनार्घ्येण चैव हि ।
पप्रच्छानामयं राजन् कुशलं च नराधिपम् ॥१५॥

"हे राजन् !" फिर आसन, पाद्य और अर्घ्य अर्पण करके उनका सत्कार करने के पश्चात् उसने राजा से पूछा—"अतिथि देव ! आपका शरीर तो नीरोग है ? घर पर कुशल तो है ?"

यथावदर्चयित्वाथ पृष्ट्वा चानामयं तदा ।
उवाच स्मयमानेव किं कार्यं क्रियतामिति ॥१६॥

राजा दुष्यन्त का विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके और उनका आरोग्य एवं कुशल पूछकर वह तपस्विनी कन्या मुस्कुराती हुई-सी बोली—"कहिए, आपकी क्या सेवा की जाए ?"

दुष्यन्त उवाच

आगतोऽहं महाभागमृषिं कण्वमुपासितुम् ।
क्व गतो भगवान् भद्रे तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥१७॥

दुष्यन्त बोले—भद्रे ! मैं परम भाग्यशाली महर्षि कण्व का सत्सङ्ग-लाभ करने के लिए आया हूँ। शोभने ! कृपया बताओ, भगवान् कण्व कहाँ गये हैं ?"

शकुन्तलोवाच

गतः पिता मे भगवान् फलान्याहर्तुमाश्रमात् ।
मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व द्रष्टास्येनमुपागतम् ॥१८॥

शकुन्तला बोली—अतिथिदेव ! मेरे पूज्य पिता-जी फल लाने के लिए आश्रम से बाहर गये हैं। अतः दो घड़ी प्रतीक्षा कीजिए, लौटने पर उनसे मिलिएगा।

वैशम्पायन उवाच

अपश्यमानस्तमृषिं तथा चोक्तस्तया च सः ।
तां दृष्ट्वा च वरारोहामित्युवाच महीपतिः ॥१९॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—जनमेजय ! महर्षि कण्व को आश्रम में न देखकर और उस तापसी कन्या के वहाँ ठहरने के लिए आग्रह करने पर, उस सर्वाङ्ग-सुन्दरी कन्या को देखकर राजा बोले।

दुष्यन्त उवाच

का त्वं कस्यासि सुश्रोणि किमर्थं चागता वनम् ।
एवं रूपगुणोपेता कुतस्त्वमसि शोभने ॥२०॥

दुष्यन्त बोले—मनोहर कटि-प्रदेश से सुशोभित हे सुन्दरी ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? और इस वन में किस लिए आई हो ? शोभने ! तुममें ऐसे अद्भुत रूप और गुणों का विकास कैसे हुआ ?

दर्शनादेव वै शुभे त्वया मेऽपहृतं मनः ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥२१॥

शुभे ! तुमने दर्शनमात्र से ही मेरे मन को हर लिया है। कल्याणि ! मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहता हूँ, अतः मुझे सब-कुछ ठीक-ठीक बताओ।

शकुन्तलोवाच

कण्वस्याहं भगवतो दुष्यन्त दुहिता मता ।
तपस्विनो धृतिमतो धर्मज्ञस्य महात्मनः ॥२२॥

शकुन्तला ने कहा—महाराज दुष्यन्त ! मैं तपस्वी, धृतिमान्, धर्मज्ञ तथा महात्मा भगवान् कण्व की पुत्री मानी जाती हूँ।

दुष्यन्त उवाच

ऊर्ध्वरेता महाभागे भगवाँल्लोकपूजितः ।
कथं त्वं तस्य दुहिता सम्भूता वरवर्णिनी ॥२३॥

दुष्यन्त बोले—महाभागे ! विश्ववन्द्य कण्व तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, ऐसी अवस्था में तुम जैसी सुन्दरी कुमारी उनकी पुत्री कैसे हो सकती है ?

शकुन्तलोवाच

यथायमागमो मह्यं यथा चेदमभूत् पुरा ।
शृणु राजन् यथातत्त्वं यथास्मि दुहिता मुनेः ॥२४॥

शकुन्तला ने कहा—राजन् ! ये सब बातें मुझे जिस प्रकार ज्ञात हुई हैं, मेरा यह जन्म-आदि पूर्व-काल में जिस प्रकार हुआ है तथा मैं जिस प्रकार कण्व मुनि की पुत्री हूँ, वह सम्पूर्ण वृत्तान्त ठीक-ठीक बता रही हूँ, सुनिए।

ऋषिः कश्चिदिहागम्य मम जन्माभ्यनोदयत् ।
तस्मै प्रोवाच भगवान् यथा तच्छृणु पार्थिव ॥२५॥

पृथिवीपते ! एक दिन किसी ऋषि ने यहाँ

आकर मेरे जन्म के सम्बन्ध में मुनि से पूछा। उस समय भगवान् कण्व ने जो बात बताई, वही कहती हूँ, सुनिए।

कण्व उवाच

तप्यमानः किल पुरा विश्वामित्रो महत् तपः।
सुभृशं तापयामास शक्रं सुरगणेश्वरम् ॥२६॥

कण्व बोले—प्राचीन समय की बात है,[1] महर्षि विश्वामित्र बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे। उन्होंने अपनी तपस्या से देवताओं के राजा इन्द्र को अत्यन्त सन्ताप में डाल दिया।

तपसा दीप्तवीर्योऽयं स्थानान्मां च्यावयेदिति।
भीतः पुरन्दरस्तस्मान्मेनकामिदमब्रवीत् ॥२७॥

इन्द्र को यह भय हो गया कि तपस्या से अधिक शक्तिशाली होकर ये विश्वामित्र मुझे अपने स्थान से भ्रष्ट कर देंगे, अतः उन्होंने मेनका से इस प्रकार कहा—

गुणैरप्सरसां दिव्यैर्मेनके त्वं विशिष्यसे।
श्रेयो मे कुरु कल्याणि यत्त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ॥२८

मेनके! अप्सराओं के जो दिव्य गुण हैं, वे तुममें सबसे अधिक हैं। कल्याणि! तुम मेरा भला करो और मैं तुमसे जो बात कहता हूँ, उसे सुनो।

रूप-यौवन-माधुर्य-चेष्टित-स्मित-भाषणैः।
लोभयित्वा वरारोहे तपसस्तं निवर्तय ॥२९॥

वरारोहे! तुम अपने रूप, यौवन, मधुर स्वभाव, हाव-भाव, मन्द मुस्कान और सरस वार्तालाप आदि के द्वारा मुनि विश्वामित्र को लुभाकर उन्हें तपस्या से निवृत्त (विरत) कर दो।

सागच्छत् त्वरिता भूमिं यत्रासीन्मुनिसत्तमः।
तस्या रूपगुणान् दृष्ट्वा स तु विप्रर्षभस्तदा ॥३०॥
चकार भावं संसर्गात् तया कामवशं गतः।
न्यमन्त्रयत चाप्येनां सा चाप्यैच्छदनिन्दिता ॥३१॥

देवराज इन्द्र का आदेश पाकर मेनका उस स्थान पर गई जहाँ मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र विराजमान थे। उसके रूप और गुणों को देखते ही मुनिवर विश्वामित्र काम के अधीन हो गये। सम्पर्क में आने के कारण मेनका में उनका अनुराग हो गया। उन्होंने मेनका को अपने निकट आने का निमन्त्रण दिया। अनिन्द्य सुन्दरी मेनका तो यह चाहती ही थी, अतः वह उनसे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए राजी हो गई।

तौ तत्र सुचिरं कालमुभौ व्यहरतां तदा।
जनयामास स मुनिर्मेनकायां शकुन्तलाम् ॥३२॥

तत्पश्चात् वे दोनों वहाँ दीर्घकाल तक इच्छा-अनुसार विहार तथा रमण करते रहे। फिर मुनि ने मेनका के गर्भ से शकुन्तला को जन्म दिया।

जातमुत्सृज्य तं गर्भं मेनका मालिनीमनु।
कृतकार्या ततस्तूर्णमगच्छच्छक्रसंसदम् ॥३३॥

मेनका का कार्य पूरा हो चुका था, अतः वह उस नवजात गर्भ को मालिनी के तट पर छोड़कर तुरन्त इन्द्रलोक को चली गई।

तं वने विजने गर्भं सिंहव्याघ्रसमाकुले।
दृष्ट्वा शयानं शकुनाः समन्तात् पर्यवारयन् ॥३४॥

सिंह और व्याघ्रों से भरे हुए निर्जन वन में उस शिशु को सोते देख शकुन्तों (पक्षियों) ने उसे सब ओर से घेर लिया।

पर्यरक्षन्त तां तत्र शकुन्ता मेनकात्मजाम्।
उपस्प्रष्टुं गतश्चाहमपश्यं शयितामिमाम् ॥३५॥
निर्जने विपिने रम्ये शकुन्तैः परिवारिताम्।
आनयित्वा ततश्चैनां दुहितृत्वे न्यवेशयम् ॥३६॥

इस प्रकार वहाँ शकुन्त ही मेनका कुमारी की रक्षा कर रहे थे। उसी समय स्नान करने के लिए जब मैं मालिनी के तट पर गया, तो देखा—यह रमणीय निर्जन वन में पक्षियों से घिरी हुई सो रही है। इस कन्या को वहाँ से लाकर मैंने इसे अपनी पुत्री के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

शरीरकृत् प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते।
क्रमेणैते त्रयोऽप्युक्ताः पितरो धर्मशासने ॥३७॥

जो गर्भाधान के द्वारा शरीर का निर्माण करता है, जो अभयदान देकर प्राणों की रक्षा करता है तथा

१. यह इतिहास कितना सत्य है, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। रोचकता लाने के लिए कभी-कभी कल्पना का सहारा लिया जाता है। हो सकता है, यहाँ भी कवि-कल्पना ही हो। प्रसङ्ग को दृष्टि में रखते हुए हमने इसे यहाँ समाविष्ट कर दिया है।

जिसका अन्न भोजन किया जाता है, धर्मशास्त्र में क्रमशः ये तीनों पुरुष पिता कहे गये हैं।

निर्जने तु वने यस्माच्छकुन्तैः परिवारिता।
शकुन्तलेति नामास्याः कृतं चापि ततो मया ॥३८॥

निर्जन वन में इसे शकुन्तों ने घेर रखा था, इसलिए 'शकुन्तान् लाति रक्षकत्वेन गृह्णाति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस कन्या का नाम मैंने शकुन्तला रख दिया।

शकुन्तलोवाच

एतदाचष्ट पृष्टः सन् मम जन्म महर्षये।
सुतां कण्वस्य मामेवं विद्धि त्वं मनुजाधिप ॥३९॥

शकुन्तला बोली—राजन्! उन महर्षि के पूछने पर पिता कण्व ने मेरे जन्म का यह वृत्तान्त उन्हें बताया था। इस प्रकार आप मुझे कण्व की ही पुत्री समझिए।

दुष्यन्त उवाच

सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं यथा कल्याणि भाषसे।
भार्या मे भव सुश्रोणि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥४०॥

दुष्यन्त बोले—कल्याणि! तुमने जो कुछ कहा है, उससे भली-भाँति स्पष्ट हो गया कि तुम क्षत्रिय कन्या हो। सुश्रोणि! तुम मेरी पत्नी बन जाओ। बोलो, मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिए क्या करूँ?

इच्छामि त्वां वरारोहे भजमानामनिन्दिते।
त्वदर्थं मां स्थितं विद्धि त्वद्गतं हि मनो मम ॥४१॥

वरारोहे! तुम्हारा शील और स्वभाव प्रशंसा के योग्य है। मैं चाहता हूँ, तुम मुझे स्वेच्छा से स्वीकार करो। मैं तुम्हारे लिए ही यहाँ ठहरा हूँ। मेरा मन तुममें ही लगा हुआ है।

सा त्वं मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनि।
गान्धर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि ॥४२॥

सुन्दरि! मैं तुम्हें पाने के लिए इच्छुक (उत्सुक) हूँ। तुम भी मुझे पाने की इच्छा रखकर गन्धर्व विवाह के द्वारा मेरी पत्नी बन जाओ।

आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः।
आत्मनैवात्मनो दानं कर्तुमर्हसि धर्मतः ॥४३॥

आत्मा ही अपना बन्धु है। आत्मा ही अपना आश्रय है, अतः तुम स्वयं ही धर्मपूर्वक आत्मसमर्पण करने योग्य हो।

शकुन्तलोवाच

यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चात्मा प्रभुर्मम।
प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो ॥४४॥

शकुन्तला ने कहा—पौरवश्रेष्ठ! यदि यह गन्धर्व विवाह धर्म का मार्ग है, यदि आत्मा स्वयं ही अपना दान करने में समर्थ है तो इसके लिए मैं तैयार हूँ, किन्तु प्रभो! मेरी एक शर्त है, उसे सुन लीजिए।

मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत् त्वदनन्तरः।
यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे सङ्गमस्त्वया ॥४५॥

महाराज दुष्यन्त! मेरे गर्भ से आपके द्वारा जो पुत्र उत्पन्न हो, वही आपके बाद युवराज हो। यदि आपको यह शर्त स्वीकार हो, तो आपके साथ मेरा समागम हो सकता है।

वैशम्पायन उवाच

एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाविचारयन्।
जग्राह विधिवत् पाणावुवास च तया सह ॥४६॥
विश्वास्य चैनां स प्रायादब्रवीच्च पुनः पुनः।
प्रेषयिष्ये तवार्थाय वाहिनीं चतुरङ्गिणीम् ॥४७॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—जनमेजय! शकुन्तला की यह बात सुनकर राजा दुष्यन्त ने बिना कुछ सोचे-विचारे यह उत्तर दे दिया—'ऐसा ही होगा।' ऐसा कहकर दुष्यन्त ने शकुन्तला का विधिवत् पाणिग्रहण किया और उसके साथ एकान्तवास किया, फिर उसे विश्वास दिलाकर विदा हुए। जाते समय उन्होंने बार-बार कहा—"तुम्हें राजमहल में लिवा ले जाने के लिए मैं चतुरङ्गिणी सेना भेजूंगा।"

मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु कण्वोऽप्याश्रममागमत्।
शकुन्तला च पितरं ह्रिया नोपजगाम तम् ॥४८॥

राजा दुष्यन्त को गये दो ही घड़ी बीती थीं कि महर्षि कण्व भी आश्रम में आ गये, परन्तु शकुन्तला लज्जावश पहले के समान पिता के समीप नहीं गई।

विज्ञायाथ च तां कण्वो दिव्यज्ञानो महातपाः।
उवाच भगवान् प्रीतः पश्यन् दिव्येन चक्षुषा ॥४९॥

महातपस्वी भगवान् कण्व दिव्यज्ञान से सम्पन्न थे। उन्होंने दिव्य दृष्टि से देखकर शकुन्तला की तात्कालिक अवस्था को जान लिया, अतः वे प्रसन्न होकर बोले—

त्वयाद्य भद्रे रहसि मामनादृत्य यः कृतः ।
पुंसा सह समायोगो न स धर्मोपघातकः ॥५०॥

भद्रे ! आज तुमने मेरी अवहेलना करके जो एकान्त में किसी पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है, वह तुम्हारे धर्म का नाशक नहीं है ।

धर्मात्मा च महात्मा च दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः ।
अभ्यगच्छः पतिं यत् त्वं भजमानं शकुन्तले ॥५१॥
महात्मा जनिता लोके पुत्रस्तव महाबलः ।
य इमां सागरापाङ्गीं कृत्स्नां भोक्ष्यति मेदिनीम् ॥५२॥

शकुन्तले ! महामना दुष्यन्त धर्मात्मा और श्रेष्ठ पुरुष हैं । वे तुम्हें चाहते थे । तुमने योग्य पति के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है, अतः लोक में तुम्हारे गर्भ से एक महाबली और महात्मा पुत्र उत्पन्न होगा जो समुद्र से घिरी हुई इस सम्पूर्ण पृथिवी का उपभोग करेगा । (समुद्र-पर्यन्त पृथिवी का चक्रवर्ती शासक होगा)

प्रतिज्ञाय तु दुष्यन्ते प्रतियाते शकुन्तलाम् ।
गर्भं सुषाव वामोरूः कुमारममितौजसम् ॥५३॥

उधर राजा दुष्यन्त शकुन्तला से पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करके चले गये (और शकुन्तला को भूल गये अथवा जान-बूझकर नहीं बुलाया) इधर आश्रम में समय आने पर शकुन्तला ने एक अमित पराक्रमी कुमार को जन्म दिया ।

जातकर्मादिसंस्कारं कण्वः पुण्यकृतां वरः ।
विधिवत् कारयामास वर्धमानस्य धीमतः ॥५४॥

पुण्यवानों में श्रेष्ठ महायशस्वी कण्व ने उस प्रतिदिन बढ़ते हुए बुद्धिमान् बालक के जातकर्म आदि सभी संस्कार विधि-विधान से कराये ।

सिंहव्याघ्रान् वराहांश्च षड्वर्ष एव बालकः ।
बबन्ध वृक्षे बलवानाश्रमस्य समीपतः ॥५५॥

छह वर्ष की अवस्था में ही वह बलवान् बालक सिंहों, व्याघ्रों, वराहों को पकड़कर खींच लाता और आश्रम के समीपवर्ती वृक्षों से बाँध देता था ।

आरोहन् दमयंश्चैव क्रीडंश्च परिधावति ।
ततोऽस्य नाम चक्रुस्ते कण्वाश्रमनिवासिनः ॥५६॥

फिर वह सबका दमन करते हुए उनकी पीठ पर चढ़ जाता और क्रीड़ा करते हुए उन्हें सब ओर दौड़ाता हुआ दौड़ता था । यह देख कण्व-आश्रम में रहनेवाले ऋषियों ने उसका नामकरण किया—

अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्यसौ ।
स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत ॥५७॥

"यह सब जीवों का दमन करता है, अतः यह 'सर्वदमन' नाम से प्रसिद्ध हो"—तबसे उस कुमार का नाम सर्वदमन हो गया ।

तस्य तद्बलमाज्ञाय कण्वः शिष्यानुवाच ह ।
भर्तुः प्रापयतागारं सहपुत्रां शकुन्तलाम् ॥५८॥

उस बालक के बल को समझकर कण्व ने अपने शिष्यों से कहा—"तुम लोग शकुन्तला को पुत्रसहित इसके पति के घर में पहुँचा दो—

नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते ।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ॥५९॥

"स्त्रियों का अपने भाई-बन्धुओं के यहाँ अधिक समय तक रहना अच्छा नहीं होता । वह उनकी कीर्ति, शील तथा पातिव्रत धर्म का नाश करनेवाला होता है, अतः इसे शीघ्र पति के घर में पहुँचा दो ।"

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे प्रातिष्ठन्त महौजसः ।
शकुन्तलां पुरस्कृत्य दुष्यन्तस्य पुरं प्रति ॥६०॥

"बहुत अच्छा" कहकर वे सभी महातेजस्वी शिष्य (पुत्रसहित) शकुन्तला को आगे करके दुष्यन्त के नगर की ओर चले ।

निवेदयित्वा ते सर्वे आश्रमं पुनरागताः ।
पूजयित्वा यथान्यायमब्रवीच्च शकुन्तला ॥६१॥

सब शिष्यगण शकुन्तला को राजसभा में छोड़ और राजा को महर्षि का संदेश सुनाकर पुनः आश्रम को लौट आये । शकुन्तला न्यायपूर्वक महाराज के प्रति सम्मान का भाव प्रकट करते हुए बोली—

अयं पुत्रस्त्वया राजन् मय्युत्पन्नः सुरोपमः ।
यथासमयमेतस्मिन् वर्तस्व पुरुषोत्तम ॥६२॥

"राजन् ! यह आपका पुत्र है । यह देवोपम कुमार आपके द्वारा मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ है । पुरुषोत्तम ! इसके लिए आपने मेरे साथ जो शर्त रखी है, उसका पालन कीजिए अर्थात् इसे युवराज-पद पर अभिषिक्त कीजिए ।

सोऽथ श्रुत्वैव तद् वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि ।
अब्रवीन्न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसि ॥६३॥

राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का वह वचन सुनकर सब बातों का स्मरण रखते हुए भी उससे यह कहा—"दुष्ट तपस्विनि ! मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है । तुम किसकी स्त्री हो ?"

धर्मकामार्थसम्बन्धं न स्मरामि त्वया सह ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कामं यद् वापीच्छसि तत्कुरु ॥६४॥

"तुम्हारे साथ मेरा धर्म, काम अथवा अर्थ को लेकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है, इस बात का मुझे तनिक भी स्मरण नहीं है । तुम इच्छानुसार जाओ या रहो अथवा जैसी तुम्हारी रुचि हो, वैसा करो ।"

सैवमुक्ता वरारोहा व्रीडितेव तपस्विनी ।
निःसंज्ञेवदुःखेन तस्थौ स्थूणेव निश्चला ॥६५॥

सुन्दर अङ्गोंवाली तपस्विनी शकुन्तला दुष्यन्त के ऐसा कहने पर लज्जित हो, दुःख से बेहोश-सी हो गई और खंभे की भाँति निश्चल-भाव से खड़ी रह गई ।

सा मुहूर्तमिव ध्यात्वा क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ।
जानन्नपि महाराज कस्मादेवं प्रभाषसे ॥६६॥

दो घड़ी तक कुछ सोचकर फिर क्रुद्ध होकर वह बोली—"महाराज ! आप सब-कुछ जान-बूझकर भी ऐसी बात क्यों कहते हैं ?

अत्र ते हृदयं वेद सत्यस्यैवानृतस्य च ।
कल्याणं वद साक्ष्येण माऽऽत्मानमवमन्यथाः ॥६७॥

"इस विषय में क्या सत्य है और क्या असत्य—आपका हृदय जानता है । उसी को साक्षी बनाकर, हृदय पर हाथ रखकर सच्ची बात कहिए, जिससे आपका कल्याण हो । आप अपने आत्मा की अवहेलना मत कीजिए ।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥६८॥

"जो अपने वास्तविक रूप को छिपाकर अपने आपको और ही कुछ दिखाता है, अपनी आत्मा का अपहरण करनेवाले उस चोर ने कौन-सा पाप नहीं किया ?

एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं
न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम् ।
यो वेदिता कर्मणः पापकस्य
तस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि ॥६९॥

"आप समझते हैं कि उस समय मैं अकेला था (कोई देखनेवाला नहीं था) परन्तु आपको पता नहीं कि वह सनातन मुनि (परमात्मा) सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है । वह सबके पाप-पुण्य को जानता है और आप उसी के निकट रहकर पाप कर रहे हैं ।

स्वयं प्राप्तेति मामेवं मावमंस्था पतिव्रताम् ।
अर्चार्हां नार्चयसि मां स्वयं भार्यामुपस्थिताम् ॥७०॥

"मैं स्वयं आपके पाप आई हूँ, ऐसा समझकर मुझ पतिव्रता पत्नी का अनादर मत करो । मैं आपके द्वारा आदर पाने योग्य हूँ और स्वयं आपके निकट आयी हुई आपकी पत्नी हूँ, तथापि आप मेरा आदर नहीं करते हैं ?

किमर्थं मां प्राकृतवदुपप्रेक्षसि संसदि ।
न खल्वहमिदं शून्ये रौमि किं न शृणोषि मे ॥७१॥

"आप किस लिए गँवार पुरुषों की भाँति भरी सभा में मुझे अपमानित कर रहे हैं ? मैं अरण्य-रोदन (सूने जंगल में रोना) तो नहीं कर रही हूँ ? फिर आप मेरी बात क्यों नहीं सुनते ?

यदि मे याचमानाया वचनं न करिष्यसि ।
दुष्यन्त शतधा मूर्धा ततस्तेऽद्य स्फुटिष्यति ॥७२॥

"महाराज दुष्यन्त ! यदि मेरे उचित याचना करने पर भी आप मेरी बात नहीं मानेंगे, तो आज ही आपके सिर के सैकड़ों टुकड़े हो जाएँगे ।

भार्यां पतिः सम्प्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः ।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः ॥७३॥

"पति ही पत्नी के भीतर गर्भरूप से प्रवेश करके पुत्र के रूप में जन्म लेता है । यही जाया (जन्म देनेवाली स्त्री) का जायात्व है, जिसे पुराणवेत्ता विद्वान् जानते हैं ।

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥७४॥

"पुत्र 'पुत्'=दुःख नामक नरक से पिता का

त्राण करता है, अतः साक्षात् ब्रह्माजी ने उसे पुत्र कहा है।

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।□
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥७५

"वही भार्या है, जो गृह-कार्य में कुशल हो। वही भार्या है जो सन्तानवती हो। वही भार्या है, जो अपने पति को प्राणों के समान प्रिय मानती हो और वही भार्या है, जो पतिव्रता हो।

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।□
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥७६॥

"भार्या पुरुष का आधा अङ्ग है। भार्या उसका सबसे उत्तम मित्र है। भार्या धर्म, अर्थ और काम का मूल है तथा संसार-सागर से पार उतरने की इच्छावाले पुरुष के लिए भार्या ही प्रमुख साधन है।

भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः ।□
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रिया युताः ॥७७॥

"पत्नीवाले ही यज्ञादि कर्म कर सकते हैं, सपत्नीक पुरुष ही सच्चे गृहस्थ हैं। पत्नीवाले पुरुष सुखी एवं प्रसन्न रहते हैं और जो पत्नी से युक्त हैं, वे ही लक्ष्मी से सम्पन्न हैं (क्योंकि पत्नी ही गृह-लक्ष्मी है।)

सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः ।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः ॥७८॥

"पत्नी ही एकान्त में प्रिय वचन बोलनेवाली सङ्गिनी या मित्र है। धर्मकार्यों में स्त्रियाँ पिता की भाँति पति की हितैषिणी होती हैं और संकट के समय माता की भाँति दुःख में हाथ बँटाती तथा कष्ट-निवारण करती हैं।

कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै ।
यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद्दाराः परा गतिः ॥७९

"परदेश में यात्रा करनेवाले पुरुष के साथ यदि उसकी पत्नी हो तो वह घोर घने जंगल में भी विश्राम पा सकता है—सुख से रह सकता है। लोक-व्यवहार में भी जिसके साथ स्त्री है, उसी पर सब विश्वास करते हैं, अतः स्त्री ही पुरुष की श्रेष्ठ गति है।

सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः ।
रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि ॥८०॥

"रति, प्रीति तथा धर्म—पत्नी के ही अधीन हैं, ऐसा सोचकर पुरुष को चाहिए कि वह कुपित होने पर भी पत्नी के साथ कोई अप्रिय व्यवहार न करे।

आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम् ।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम् ॥८१॥

"स्त्रियाँ पति के आत्मा के जन्म लेने का सनातन पुण्यक्षेत्र हैं। ऋषियों में भी क्या शक्ति है कि बिना स्त्री के सन्तान उत्पन्न कर सकें!

प्रतिपद्य यदा सूनुर्धरणीरेणुगुण्ठितः ।□
पितुराश्लिष्यतेऽङ्गानि किमस्त्यभ्यधिकं ततः ॥८२॥

"जब पुत्र धरती की धूल में सना हुआ पास आता है और पिता के अङ्गों से लिपट जाता है, उस समय जो सुख मिलता है, उससे बढ़कर और क्या सुख हो सकता है?

स त्वं स्वयमभिप्राप्तं साभिलाषमिमं सुतम् ।
प्रेक्षमाणं कटाक्षेण किमर्थमवमन्यसे ॥८३॥

"आपका यह पुत्र स्वयं आपके पास आया है और प्रेमपूर्ण तिरछी चितवन से आपकी ओर देखता हुआ आपकी गोद में बैठने के लिए उत्सुक है, फिर आप इसका तिरस्कार क्यों कर रहे हैं?

ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।
गुरुर्गरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः ॥८४॥

"मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, चौपायों में गौ सर्वश्रेष्ठ है, गौरवशाली व्यक्तियों में गुरु श्रेष्ठ है और स्पर्श करने योग्य वस्तुओं में पुत्र ही सबसे श्रेष्ठ है।

ननु नामाङ्कमारोप्य स्नेहाद् ग्रामान्तरं गताः ।
मूर्ध्नि पुत्रानुपाघ्राय प्रतिनन्दन्ति मानवाः ॥८५॥

"प्रायः देखा जाता है कि दूसरे ग्राम की यात्रा करके लौटे हुए मनुष्य घर आने पर बड़े स्नेह से पुत्रों को गोद में उठा लेते हैं तथा उनके मस्तक सूँघकर आनन्दित होते हैं।

वेदेष्वपि वदन्तीमं मन्त्रग्रामं द्विजातयः ।
जातकर्मणि पुत्राणां तवापि विदितं तथा ॥८६॥

"पुत्रों के जातकर्म-संस्कार के समय वेदज्ञ ब्राह्मण जिस वैदिक मन्त्रसमूह का उच्चारण करते हैं, उसे आप भी जानते हैं। (वह मन्त्रसमुदाय निम्न है—)

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥८७॥

"हे बालक ! तुम मेरे अङ्ग-अङ्ग से प्रकट हुए हो, हृदय से उत्पन्न हुए हो। तुम पुत्र नाम से प्रसिद्ध मेरे आत्मा ही हो, अतः वत्स ! तुम सौ वर्षों तक जीवित रहो।

कामं त्वया परित्यक्ता गमिष्यामि स्वमाश्रमम् ।
इमं तु बालं संत्यक्तुं नार्हस्यात्मजमात्मनः ॥८८॥

"महाराज ! आपके द्वारा स्वेच्छा से त्याग दी जाने पर मैं पुनः अपने आश्रम को लौट जाऊँगी, परन्तु आपको अपने इस नन्हें-से पुत्र का त्याग नहीं करना चाहिए।"

दुष्यन्त उवाच

न पुत्रमभिजानामि त्वयि जातं शकुन्तले ।
असत्यवचना नार्यः कस्ते श्रद्धास्यते वचः ॥८९॥

दुष्यन्त बोले—शकुन्तले ! मैं तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न इस पुत्र को नहीं जानता। स्त्रियाँ प्रायः झूठ बोलनेवाली होती हैं[1], अतः तुम्हारी बात पर कौन विश्वास करेगा ?

सर्वमेतत् परोक्षं मे यत् त्वं वदसि तापसि ।
नाहं त्वामभिजानामि यथेष्टं गम्यतां त्वया ॥९०॥

तुम जो कुछ कहती हो, वह सब मेरी आँखों के सामने नहीं हुआ। हे तापसी ! मैं तुम्हें नहीं पहचानता। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहाँ चली जाओ।

शकुन्तलोवाच

राजन् सर्षपमात्राणि परछिद्राणि पश्यसि ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि ॥९१॥

शकुन्तला ने कहा—राजन् ! आप दूसरों के सरसों के बराबर दोषों को तो देखते हैं किन्तु अपने बेल के समान बड़े-बड़े दोषों को देखकर भी नहीं देखते।

मूर्खो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
अशुभं वाक्यमादत्ते पुरीषमिव सूकरः ॥९२॥

मूर्ख मनुष्य परस्पर वार्तालाप करनेवाले दूसरे लोगों की भली-बुरी बातें सुनकर उनमें से बुरी बातों का ही ग्रहण करता है, ठीक वैसे ही, जैसे सूअर अन्य वस्तुओं के रहते हुए भी विष्ठा को ही अपना भोजन बनाता है।

प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
गुणवद् वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः ॥९३॥

परन्तु विद्वान् मनुष्य दूसरे वक्ताओं के शुभाशुभ वचनों को सुनकर उनमें से गुणयुक्त बातों को ही अपनाता है, ठीक उसी प्रकार, जैसे हंस पानी को छोड़कर केवल दूध को ग्रहण कर लेता है।

अन्यान् परिवदन् साधुर्यथा हि परितप्यते ।
तथा परिवदन्नन्याँस्तुष्टो भवति दुर्जनः ॥९४॥

साधु पुरुष दूसरों की निन्दा का अवसर आने पर जैसे अत्यन्त सन्तप्त हो उठता है, ठीक उसी प्रकार दुष्ट पुरुष दूसरों की निन्दा का अवसर मिलने पर बहुत सन्तुष्ट होता है।

सत्यधर्मच्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव ।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः ॥९५॥

जो सत्यरूपी धर्म से भ्रष्ट है, वह पुरुष क्रोध में भरे हुए विषधर सर्प के समान भयंकर है। उससे नास्तिक भी डरता है, फिर आस्तिक की तो बात ही क्या है ?

स्वयमुत्पाद्य वै पुत्रं सदृशं यो न मन्यते ।
तस्य देवाः श्रियं घ्नन्ति न च लोकानुपाश्नुते ॥९६॥

जो स्वयं हि अपने सदृश पुत्र को उत्पन्न करके उसका सम्मान नहीं करता, उसकी सम्पत्ति को देवता नष्ट कर देते हैं तथा वह उत्तम लोकों में नहीं जाता।

स त्वं नृपतिशार्दूल पुत्रं न त्यक्तुमर्हसि ।
आत्मानं सत्यधर्मौ च पालयन् पृथिवीपते ॥९७॥

नृपश्रेष्ठ ! प्रजानाथ ! आप अपने आत्मा, सत्य और धर्म का पालन करते हुए अपने सिर पर कपट का बोझ न उठाएँ और अपने पुत्र को त्यागने का (पुत्र-त्याग का) पाप न करें।

वरं कूपशताद् वापी वरं वापीशतात् क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशताद् वरम् ॥९८॥

सौ कुएँ खुदवाने की अपेक्षा एक बावड़ी बनवाना उत्तम है। सौ बावड़ी खुदवाने की अपेक्षा एक यज्ञ कर लेना उत्तम है। सौ यज्ञ करने की अपेक्षा एक पुत्र को जन्म देना उत्तम है और सौ पुत्रों को उत्पन्न करने की अपेक्षा भी सत्य का पालन श्रेष्ठ है।

१. झूठ महाराज दुष्यन्त स्वयं बोल रहे हैं और दोष नारी जाति पर लगा रहे हैं। आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥६६॥

एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ एक ओर तथा सत्य-भाषण का पुण्य दूसरी ओर यदि तराजू पर रखा जाए तो हजार अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य का पलड़ा ही भारी होता है ।

नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद् विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते ॥१००॥

सत्य के समान कोई धर्म नहीं है । सत्य से बढ़कर कुछ भी नहीं है और असत्य से बढ़कर तीव्रतर पाप इस संसार में और कोई नहीं है ।

राजन् सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः ।
मा त्याक्षीः समयं राजन् सत्यं संगतमस्तु ते ॥१०१॥

राजन् ! सत्य परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप है । सत्य सबसे बड़ा नियम है, अतः महाराज ! आप अपनी सत्य प्रतिज्ञा को न छोड़िए । सत्य आपका जीवन-सङ्गी हो ।

त्वामृतेऽपि हि दुष्यन्त शैलराजावतंसकाम् ।
चतुरन्तामिमामुर्वीं पुत्रो मे पालयिष्यति ॥१०२॥

महाराज दुष्यन्त ! मैं एक बात कहे देती हूँ—आपके सहयोग के बिना भी मेरा यह पुत्र चारों समुद्रों से घिरी हुई गिरिराज हिमालयरूपी मुकुट से सुशोभित इस सम्पूर्ण वसुन्धरा का शासन करेगा !

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा राजानं प्रातिष्ठत शकुन्तला ।
अथान्तरिक्षाद् दुष्यन्तं वागुवाचाशरीरिणी ॥१०३॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—जनमेजय! राजा दुष्यन्त से ऐसा कहकर शकुन्तला वहाँ से चलने को उद्यत हुई । इतने में ही दुष्यन्त को सम्बोधित करते हुए आकाशवाणी[1] हुई—

भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥१०४॥

दुष्यन्त ! तुम अपने पुत्र का पालन करो । शकुन्तला का अनादर मत करो । तुमने ही इस गर्भ का आधान किया था । शकुन्तला सत्य कहती है ।

दुष्यन्त उवाच

शृण्वन्त्वेतद् भवन्तोऽस्य देवदूतस्य भाषितम् ।
अहं चाप्येवमेवैनं जानामि स्वयमात्मजम् ॥१०५॥
यद्यहं वचनादस्या गृह्णीयामिममात्मजम् ।
भवेद्धि शंक्यो लोकस्य नैव शुद्धो भवेदयम् ॥१०६॥

दुष्यन्त ने कहा—राजसभा में उपस्थित आप लोग इस देवदूत के कथन को भली भाँति सुन लें । मैं भी अपने इस पुत्र को इसी रूप में जानता हूँ । परन्तु यदि केवल शकुन्तला के कहने से मैं इसे ग्रहण कर लेता, तो सब लोग इसपर सन्देह करते और यह बालक विशुद्ध नहीं माना जाता ।"

वैशम्पायन उवाच

तं विशोध्य तदा राजा देवदूतेन भारत ।
हृष्टः प्रमुदितश्चापि प्रतिजग्राह तं सुतम् ॥१०७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे भारत ! इस प्रकार देवदूत के वचन से उस बालक की शुद्धता प्रमाणित करके राजा दुष्यन्त ने हर्ष और आनन्द में मग्न हो अपने उस पुत्र को ग्रहण किया ।

तां चैव भार्यां दुष्यन्तः पूजयामास धर्मतः ।
अब्रवीच्चैव तां राजा सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥१०८॥

दुष्यन्त ने अपनी पत्नी शकुन्तला का भी धर्म-पूर्वक आदर-सत्कार किया और उसे सान्त्वना प्रदान करते हुए कहा—

कृतो लोकपरोक्षोऽयं सम्बन्धो वै त्वया सह ।
तस्मादेतन्मया देवि त्वच्छुद्ध्यर्थं विचारितम् ॥१०६॥

"देवि ! मैंने तुम्हारे साथ जो विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया था, उसे साधारण जनता नहीं जानती थी, अतः तुम्हारी शुद्धि के लिए ही मैंने यह उपाय सोचा था ।

यच्च कोपितयात्यर्थं त्वयोक्तोऽस्म्यप्रियं प्रिये ।
प्रणयिन्या विशालाक्षि तत्क्षान्तं ते मया शुभे ॥११०

"हे प्रिये ! विशाल-लोचने ! तुमने भी क्रुद्ध होकर जो मेरे लिए अत्यन्त अप्रिय वचन कहे हैं, वे सब मेरे प्रति अत्यन्त प्रेम होने के कारण ही कहे हैं, अतः शुभे ! मैंने तुम्हारा वह सब अपराध क्षमा कर दिया है ।"

१. आकाशवाणी केवल कविकल्पना है । महाभारत इतिहास के साथ-साथ काव्य भी है । काव्य में रोचकता लाने के लिए कवि-कल्पना आवश्यक है । एक श्लोक आगे ही आकाशवाणी को **'देवदूतस्य भाषितम्'** कह दिया है ।

तामेवमुक्त्वा राजर्षिर्दुष्यन्तो महिषीं प्रियाम् ।
वासोभिरन्नपानैश्च पूजयामास भारत ॥१११॥

हे जनमेजय ! अपनी प्यारी रानी से ऐसी बात कहकर राजर्षि दुष्यन्त ने अन्न-पान और वस्त्र आदि द्वारा उसका आदर-सत्कार किया ।

दुष्यन्तस्तु तदा राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥११२॥

तत्पश्चात् महाराज दुष्यन्त ने शकुन्तला-कुमार का नाम 'भरत' रखकर उसे युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया ।

स राजा चक्रवर्त्यासीत् सार्वभौमः प्रतापवान् ।
ईजे च बहुभिर्यज्ञैर्यथा शक्रो मरुत्पतिः ॥११३॥

महाराज भरत सम्पूर्ण भूमण्डल में विख्यात, प्रतापी एवं चक्रवर्ती सम्राट् थे । उन्होंने देवराज इन्द्र की भाँति बहुत-से यज्ञों का अनुष्ठान किया ।

भरताद् भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम् ।
अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ॥११४॥

भरत से ही इस भूखण्ड का नाम भारत (अथवा भूमि का नाम भारती) हुआ । उन्हीं से यह कौरव-वंश भरतवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ । उनके पश्चात् उस कुल में पहले तथा आज भी जो राजा हो गये हैं, वे भारत (भरतवंशी) कहे जाते हैं ।

इति महाभारते आदिपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

शान्तनु का जन्म, गङ्गा के साथ उनका विवाह और भीष्म का जन्म

वैशम्पायन उवाच

भरतस्यान्वये जाताः सत्त्ववन्तो नराधिपाः ।
देवर्षिकल्पा नृपते बहवो राजसत्तमाः ॥१॥
येषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः ।
तेषां प्रतीपो राजाऽऽसीत् सर्वभूतहितः सदा ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भरत के वंश में सभी नरेश धैर्यवान् एवं शक्तिशाली थे । उस वंश में बहुत-से श्रेष्ठ नृपति देवर्षियों के समान थे जिनके सम्पूर्ण नामों की गणना असम्भव है । उन्हीं राजाओं में एक राजा थे प्रतीप । वे सदा सम्पूर्ण प्राणियों के हित में संलग्न रहते थे ।

तपस्तेपे सुतस्यार्थे सभार्यः कुरुनन्दन ।
शान्तस्य जज्ञे सन्तानस्तस्मादासीत् स शान्तनुः ॥३॥

कुरुनन्दन ! राजा प्रतीप अपनी पत्नी को साथ लेकर पुत्र के लिए तपस्या करने लगे । तप के फल-स्वरूप उन्हें एक पुत्र की प्राप्ति हुई । शान्त पिता की सन्तान होने से वे शान्तनु कहलाए ।

स्वे च राज्येऽभिषिच्यैनं वनं राजा विवेश ह ।
बभूव मृगयाशीलः शान्तनुर्वनगोचरः ॥४॥

[युवा होने पर] महाराज प्रतीप ने शान्तनु को अपने राज्य पर अभिषिक्त कर दिया तथा स्वयं वन में प्रवेश किया । शान्तनु हिंसक पशुओं को मारने के उद्देश्य से वन में घूमते रहते थे ।

स कदाचिन्महाराज ददर्श परमां स्त्रियम् ।
जाज्वल्यमानां वपुषा साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ॥५॥

महाराज जनमेजय ! एक दिन उन्होंने एक परम सुन्दरी नारी देखी, जो अपने तेजस्वी शरीर से ऐसे प्रकाशित हो रही थी, मानो साक्षात् लक्ष्मी ही दूसरा शरीर धारण करके आ गई हो ।

तां दृष्ट्वा हृष्टरोमाभूद् विस्मितो रूपसम्पदा ।
पिबन्निव च नेत्राभ्यां नातृप्यत नराधिपः ॥६॥

उसे देखते ही राजा शान्तनु के शरीर में रोमाञ्च हो आया । वे उसके सौन्दर्य से आश्चर्यचकित हो उठे और दोनों नेत्रों द्वारा उसकी सौन्दर्य-सुधा का पान करते हुए भी तृप्त नहीं हो रहे थे ।

सा च दृष्ट्वैव राजानं विचरन्तं महाद्युतिम् ।
स्नेहादागतसौहार्दा नातृप्यत विलासिनी ॥७॥

वह भी वहाँ विचरते उस महातेजस्वी राजा शान्तनु को देखते ही मुग्ध हो गई । स्नेहवश उसके हृदय में सौहार्द का उदय हो आया । वह विलासिनी राजा को देखते-देखते तृप्त नहीं होती थी ।

तामुवाच ततो राजा सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा।
देवी[1] वा दानवी वा त्वं भार्या मे भव शोभने ।।८।।

तब राजा शान्तनु ने उसे सान्त्वना देते हुए मधुर वाणी में कहा—"शोभने ! तुम देवी[1] हो अथवा दानवी, मैं तुमसे याचना करता हूँ कि तुम मेरी पत्नी बन जाओ।"

उवाच चैव राज्ञः सा ह्लादयन्ती मनो गिरा।
भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशानुगा ।।९।।

[महाराज के ऐसा करने पर] वह देवी अपनी मधुर वाणी से महाराज के मन को आनन्द प्रदान करती हुई बोली—"भूपाल ! मैं आपकी महारानी बनूंगी एवं आपके अधीन रहूँगी।

यत्तु कुर्यामहं राजञ्छुभं वा यदि वाशुभम्।
न तद् वारियतव्यास्मि न वक्तव्या तथाप्रियम् ।।१०।।

"[परन्तु एक शर्त है—] राजन् ! मैं भला या बुरा जो कुछ भी करूँ, उसके लिए आप मुझे रोक नहीं सकेंगे तथा मुझसे कभी अप्रिय वचन भी नहीं कहेंगे।

एवं हि वर्तमानेऽहं त्वयि वत्स्यामि पार्थिव।
वारिता विप्रियं चोक्ता त्यजेयं त्वामसंशयम् ।।११।।

"पृथिवीपते ! ऐसा बर्ताव करने पर ही मैं आपके समीप रहूँगी। यदि आपने कभी मुझे किसी कार्य से रोका अथवा अप्रिय वचन कहे, तो मैं निश्चय ही आपका साथ छोड़ दूंगी।"

तथेति सा यदा तूक्ता तदा भरतसत्तम।
प्रहर्षमतुलं लेभे प्राप्य तं पार्थिवोत्तमम् ।।१२।।

हे भरतश्रेष्ठ ! उस समय "बहुत अच्छा" कहकर राजा ने जब उसकी शर्त स्वीकार कर ली, तब उस नृपश्रेष्ठ को पति-रूप में प्राप्त करके उस देवी को अनुपम आनन्द मिला।

रममाणस्तया सार्धं यथाकामं नरेश्वरः।
अष्टावजनयत् पुत्रांस्तस्याममरसंनिभान् ।।१३।।

उसके साथ इच्छानुसार रमण करते हुए महाराज शान्तनु ने उसके गर्भ से देवताओं के समान तेजस्वी आठ पुत्र उत्पन्न किये।

जातं जातं च सा पुत्रं क्षिपत्यम्भसि भारत।
न च तां किंचनोवाच त्यागाद् भीतो महीपतिः[2] ।।१४

हे भारत ! जो-जो पुत्र उत्पन्न होता, उसे वह जल में डुबा देती। राजा उससे कुछ नहीं कहते थे, उन्हें यह डर था कि कहीं यह मुझे छोड़कर न चली जाए।

अथैनामष्टमे पुत्रे जाते प्रहसन्तीमिव।
उवाच राजा दुःखार्तः परीप्सन् पुत्रमात्मनः ।।१५।।

तत्पश्चात् जब आठवाँ पुत्र उत्पन्न हुआ, तब मुस्कराती हुई-सी अपनी पत्नी से राजा ने अपने पुत्र के प्राण बचाने की इच्छा से दुःखातुर होकर कहा—

मा वधीः कस्य कासीति किं हिनत्सि सुतानिति।
पुत्रघ्नि सुमहत्पापं सम्प्राप्तं ते सुगर्हितम् ।।१६।।

"अरी ! इस बालक का तो वध मत कर। तू किसकी कन्या है ? कौन है ? क्यों अपने ही पुत्रों को मारे डालती है ? पुत्रघातिनि ! तुझे पुत्रहत्या का यह अत्यन्त निन्दित और भारी पाप लगा है।

स्त्र्युवाच

पुत्रकाम न ते हन्मि पुत्रं पुत्रवतां वर।
जीर्णस्तु मम वासोऽयं यथा स समयः कृतः ।।१७।

स्त्री बोली—पुत्र की इच्छा रखनेवाले नरेश ! तुम पुत्रवानों में श्रेष्ठ हो। मैं तुम्हारे इस पुत्र को नहीं मारूँगी, परन्तु मेरे यहाँ रहने का समय अब समाप्त हो गया, जैसी कि पहले ही शर्त हो चुकी है।

---

१. यह स्त्री गङ्गा थी। लोक में ऐसा प्रसिद्ध है कि गङ्गानदी स्त्री का रूप धारण करके तथा शान्तनु की पत्नी बनकर उनके घर में रही थी। यह मिथ्या भ्रान्ति और प्रमत्त प्रलाप है। नदी स्त्री नहीं बन सकती। इस देवी का नाम गङ्गा था। आज भी गङ्गा नामवाली अनेक स्त्रियां मिल जाएँगी।

२. मनुष्य को पत्नी का ऐसा दास नहीं बनना चहिए कि पत्नी जो चाहे करती रहे और पति विवश होकर चुपचाप देखता रहे। इतिहास में सदुपदेश भी स्थान-स्थान पर समाविष्ट रहता है। सम्भवतः पत्नी का दास न बनने की प्रेरणा देने के लिए ही व्यासजी ने इस कथानक का समावेश किया हो।

वैशम्पायन उवाच

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि देवी तमभ्यभाषत ।
आदाय च कुमारं तं जगामथ यथेप्सितम् ॥१८॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—जनमेजय ! आपका कल्याण हो, अब मैं जाऊँगी"—ऐसा कहकर गङ्गा देवी उस नवजात शिशु को साथ लेकर अपने अभीष्ट स्थान को चली गई ।

स तु देवव्रतो नाम गाङ्गेय इति चाभवत् ॥१९॥

उस बालक का नाम देवव्रत हुआ । कुछ लोग उसे गाङ्गेय भी कहते थे ।

इति महाभारते आदिपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

शान्तनु के गुणों का वर्णन, गङ्गा द्वारा सुशिक्षित पुत्र की प्राप्ति और देवव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

स राजा शान्तनुर्धीमान् देवराजर्षि-सत्कृतः ।
धर्मात्मा सर्वलोकेषु सत्यवागिति विश्रुतः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! राजा शान्तनु अति बुद्धिमान् थे, देवता और राजर्षि भी उनका सत्कार करते थे । वे धर्मात्मा नरेश सम्पूर्ण भूमण्डल में सत्यवादी के रूप में विख्यात थे ।

दमो दानं क्षमा बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम् ।
नित्यान्यासन् महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे ॥२॥

उन महाबली नरश्रेष्ठ शान्तनु में इन्द्रिय-संयम, दान, क्षमा, बुद्धि, लज्जा, धैर्य तथा उत्तम तेज आदि सद्गुण सदा विद्यमान थे ।

अरागद्वेषसंयुक्तः सोमवत् प्रियदर्शनः ।
तेजसा सूर्यकल्पोऽभूत् क्षमया पृथिवीसमः ॥३॥

उनमें न राग था, न द्वेष । वे चन्द्रमा की भाँति प्रियदर्शी थे । वे तेज में सूर्य के समान और क्षमा में पृथिवी के समान थे ।

सर्वास्त्रेषु स निष्णातः पार्थिवेष्वितरेषु च ।
महाबलो महासत्त्वो महावीर्यो महारथः ॥४॥

लौकिक और अलौकिक सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की कला में वे पारङ्गत थे । उनके बल, सत्त्व=धैर्य तथा वीर्य=पराक्रम महान् थे । वे महारथी वीर थे ।

स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा गङ्गामनुसरन् नदीम् ।
भागीरथीमल्पजलां शान्तनुर्दृष्टवान् नृपः ॥५॥

एक समय किसी हिंसक पशु को बाण से बींधकर राजा शान्तनु उसका पीछा करते हुए भागीरथी गङ्गा के तट पर आये । उन्होंने देखा कि गंगा में बहुत थोड़ा जल रह गया है ।

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास शान्तनुः पुरुषर्षभः ।
स्यन्दते किं त्वियं नाद्य सरिच्छ्रेष्ठा यथा पुरा ॥६॥

उसे देखकर पुरुषों में श्रेष्ठ महाराज शान्तनु इस चिन्ता में पड़ गये कि नदियों में श्रेष्ठ यह गङ्गा आज पहले की भाँति क्यों नहीं बह रही है ?

ततो निमित्तमन्विच्छन् ददर्श स महामनाः ।
कुमारं रूपसम्पन्नं बृहन्तं चारुदर्शनम् ॥७॥
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणं यथा देवं पुरन्दरम् ।
कृत्स्नां गङ्गां समावृत्य शरैस्तीक्ष्णैरवस्थितम् ॥८॥

जब उन महामना नरेश ने इसके कारण का पता लगाते हुए आगे बढ़कर देखा, तब उन्हें पता चला कि एक अत्यन्त सुन्दर, मनोहर रूप से सम्पन्न विशालकाय कुमार देवराज इन्द्र के समान दिव्यास्त्र का अभ्यास कर रहा है और अपने तीखे बाणों से सारी गङ्गा की धारा को रोककर खड़ा है ।

स तु तं पितरं दृष्ट्वा मोहयामास मायया ।
सम्मोह्य तु ततः क्षिप्रं तत्रैवान्तरधीयत ॥९॥

उधर बालक ने अपने पिता को देखकर माया से मोहित कर दिया और उन्हें मोहित करके वहीं अन्तर्धान हो (छुप) गया ।

दर्शयामास तं गङ्गा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ तं कुमारमलंकृतम् ॥१०॥

तब परम सुन्दर रूप धारण किये हुए तथा अपने पुत्र का दाहिना हाथ पकड़े हुए गङ्गादेवी सामने आई और वस्त्राभूषणों से अलंकृत कुमार देवव्रत को दिखाया ।

गङ्गोवाच

यं पुत्रमष्टमं राजंस्त्वं पुरा मय्यविन्दथाः ।
स चायं पुरुषव्याघ्र सर्वास्त्रविदनुत्तमः ॥११॥

गङ्गादेवी ने कहा—राजन् ! पूर्वकाल में आपने अपने जिस आठवें पुत्र को मेरे गर्भ से प्राप्त किया था, यह वही है । पुरुषसिंह ! यह सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ है ।

गृहाणेमं महाराज मया संवर्धितं सुतम् ।
आदाय पुरुषव्याघ्र नयस्वैनं गृहं विभो ॥१२॥

राजन् ! मैंने इसे पाल-पोसकर बड़ा कर दिया है । अब आप अपने इस पुत्र को ग्रहण कीजिए । हे नरश्रेष्ठ ! स्वामिन् ! इसे घर ले जाइए ।

वेदानधिजगे साङ्गान् वसिष्ठादेष वीर्यवान् ।
कृतास्त्रः परमेष्वासो देवराजसमो युधि ॥१३॥

आपका यह पराक्रमी पुत्र महर्षि वसिष्ठ से छहों अङ्गों सहित समस्त वेदों का अध्ययन कर चुका है । यह अस्त्र-विद्या का पण्डित है, महान् धनुर्धर है और युद्ध में देवराज इन्द्र के समान पराक्रमी है ।

वैशम्पायन उवाच

तयैवं समनुज्ञातः पुत्रमादाय शान्तनुः ।
भ्राजमानं यथादित्यमाययौ स्वपुरं प्रति ॥१४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—गङ्गादेवी के इस प्रकार आदेश देने पर महाराज शान्तनु सूर्य के समान तेजस्वी अपने पुत्र को लेकर राजधानी में आये ।

पौरवेषु ततः पुत्रं राज्यार्थमभयप्रदम् ।
गुणवन्तं महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥१५॥

कुछ समय पश्चात् उन्होंने सबको अभय देने-वाले महात्मा एवं गुणवान् पुत्र को राजकाज में सहयोग करने के लिए समस्त पौरवों के बीच में युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिया ।

पौरवाञ्छान्तनोः पुत्रः पितरं च महायशाः ।
राष्ट्रं च रञ्जयामास वृत्तेन भरतर्षभ ॥१६॥

भरतकुलभूषण जनमेजय ! शान्तनु के उस महा-यशस्वी पुत्र ने अपने आचार-व्यवहार से अपने पिता को, पौरव समाज को तथा समस्त राष्ट्र को प्रसन्न कर लिया ।

स तथा सह पुत्रेण रममाणो महीपतिः ।
वर्तयामास वर्षाणि चत्वार्यमितविक्रमः ॥१७॥

अमित पराक्रमशाली महाराज शान्तनु ने वैसे गुणवान् पुत्र के साथ आनन्दपूर्वक रहते हुए चार वर्ष व्यतीत किये ।

स कदाचिद् वनं यातो यमुनामभितो नदीम् ।
महीपतिरनिर्देश्यामाजिघ्रद् गन्धमुत्तमम् ॥१८॥
तस्य प्रभवमन्विच्छन् विचचार समन्ततः ।
स ददर्श तदा कन्यां दाशानां देवरूपिणीम् ॥१९॥

एक दिन वे यमुना नदी के निकटवर्ती वन में गये । वहाँ राजा को अवर्णनीय एवं परम उत्तम सुगन्ध का अनुभव हुआ । तब वे उसके उद्गमस्थान का पता लगाते हुए सब ओर विचरने लगे । घूमते-घूमते उन्होंने मल्लाहों की एक कन्या देखी, जो देवाङ्गनाओं के समान रूपवती थी ।

तामपृच्छत् स दृष्ट्वैव कन्यामसितलोचनाम् ।
कस्य त्वमसि का चासि किं च भीरु चिकीर्षसि ॥२०॥

श्याम नेत्रोंवाली उस कन्या को देखते ही राजा ने पूछा—"भीरु ! तू कौन है ? किसकी पुत्री है और क्या करना चाहती है ?"

साब्रवीद् दाशकन्यास्मि धर्मार्थं वाहये तरीम् ।
पितुर्नियोगाद् भद्रं ते दाशराज्ञो महात्मनः ॥२१॥

वह बोली—"राजन् ! आपका कल्याण हो । मैं निषाद-कन्या हूँ और अपने पिता महामना निषाद-राज की आज्ञा से धर्मार्थ नौका चलाती हूँ ।"

समीक्ष्य राजा दाशेयीं कामयामास शान्तनुः ।
स गत्वा पितरं तस्या वरयामास तां तदा ॥२२॥

[रूप और यौवन से सम्पन्न] उस निषाद-कन्या को देखकर राजा शान्तनु ने उसे प्राप्त करने की इच्छा की । फिर उसके पिता के पास जाकर उन्होंने उसका वरण किया :

पर्यपृच्छत् ततस्तस्याः पितरं चात्मकारणात् ।
स च तं प्रत्युवाचेदं दाशराजो महीपतिम् ॥२३॥

उन्होंने उसके पिता से पूछा—"मैं अपने लिए तुम्हारी कन्या चाहता हूँ ।" यह सुनकर निषादराज ने राजा शान्तनु को यह उत्तर दिया—

दाश उवाच

जातमात्रैव मे देया वराय वरवर्णिनी ।
हृदि कामस्तु मे कश्चित् तं निबोध जनेश्वर ॥२४॥

निषाद बोला—जनेश्वर ! जब से इस सुन्दरी कन्या का जन्म हुआ है, तभी से मेरे मन में यह चिन्ता है कि इसका किसी श्रेष्ठ वर से विवाह करूँ, परन्तु मेरे हृदय में एक अभिलाषा है, उसे सुन लीजिए ।

अस्यां जायेत यः पुत्रः स राजा पृथिवीपते ।
त्वदूर्ध्वमभिषेक्तव्यो नान्यः कश्चन पार्थिव ॥२५॥

पृथिवीपते ! इसके गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो, आपके पश्चात् उसी का राजा के पद पर अभिषेक किया जाए, अन्य किसी राजकुमार का नहीं ।

वैशम्पायन उवाच

नाकामयत तं दातुं वरं दाशाय शान्तनुः ।
मनसिजेन तीव्रेण दह्यमानोऽपि भारत ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! राजा शान्तनु प्रचण्ड कामाग्नि से जल रहे थे, तो भी उनके मन में निषाद को वह वर देने की इच्छा नहीं हुई ।

स चिन्तयन्नेव तदा दाशकन्यां महीपतिः ।
प्रत्ययाद्धास्तिनपुरं कामोपहतचेतनः ॥२७॥

काम की वेदना से चञ्चल चित्तवाले वे उस निषाद-कन्या का ही चिन्तन करते हुए उस समय हस्तिनापुर को लौट गये ।

ततः कदाचिच्छोचन्तं शान्तनुं ध्यानमास्थितम् ।
पुत्रो देवव्रतोऽभ्येत्य पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥२८॥

तत्पश्चात् एक दिन जब राजा शान्तनु ध्यानस्थ होकर कुछ सोच रहे थे—चिन्ता में पड़े थे, तब उनके पुत्र देवव्रत अपने पिता के पास आये और इस प्रकार बोले—

सर्वतो भवतः क्षेमं विधेयाः सर्वपार्थिवाः ।
तत् किमर्थमिहाभीक्ष्णं परिशोचसि दुःखितः ॥२९॥

"पिताजी ! आपका तो सब प्रकार से कुशल-मङ्गल है । भूमण्डल के सभी नरेश आपकी आज्ञा के अधीन हैं, फिर आप दुःखी होकर शोक और चिन्ता में क्यों डूबे रहते हैं ?

ध्यायन्निव च मां राजन्नाभिभाषसे किंचन ।
व्याधिमिच्छामि ते ज्ञातुं प्रतिकुर्यां हि तत्र वै ॥३०॥

"राजन् ! आप किसी का ध्यान-सा करते हुए मुझसे कोई बात तक नहीं करते । आपको कौन-सा रोग लग गया है, यह मैं जानना चाहता हूँ, जिससे मैं उसका प्रतिकार कर सकूँ ।"

शान्तनुरुवाच

असंशयं ध्यानपरो यथा वत्स तथा शृणु ।
अपत्यं नस्त्वमेवैकः कुले महति भारत ॥३१॥

शान्तनु बोले—वत्स ! इसमें सन्देह नहीं कि मैं चिन्ता में डूबा रहता हूँ । वह चिन्ता कैसी है, सो बताता हूँ--सुनो ! भारत ! तुम इस विशाल वंश में मेरे एक ही पुत्र हो ।

कथंचित् तव गाङ्गेय विपत्तौ नास्ति नः कुलम् ।
असंशयं त्वमेवैकः शतादपि वरः सुतः ॥३२॥

गङ्गानन्दन ! यदि किसी प्रकार तुम पर कोई विपत्ति आई तो उस दिन हमारा यह वंश समाप्त हो जाएगा । इसमें सन्देह नहीं कि तुम अकेले ही मेरे लिए सौ पुत्रों से भी बढ़कर हो ।

शस्त्रनित्यश्च सततं पौरुषे पर्यवस्थितः ।
अनित्यतां च लोकानामनुशोचामि पुत्रक ॥३३॥

तुम भी सदा अस्त्र-शस्त्रों के अभ्यास में लगे रहते हो और सदा पुरुषार्थ=युद्ध के लिए तत्पर रहते हो । वत्स ! मैं इस जगत् की अनित्यता को लेकर निरन्तर शोकग्रस्त एवं चिन्तित रहता हूँ ।

न चाप्यहं वृथा भूयो दारान् कर्तुमिहोत्सहे ।
सन्तानस्याविनाशाय कामये भद्रमस्तु ते ॥३४॥

मैं पुनः व्यर्थ विवाह नहीं करना चाहता किन्तु हमारी वंश-परम्परा का लोप न हो, इसी के लिए मुझे पुनः पत्नी की कामना हुई है । तुम्हारा कल्याण हो ।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्कारणं राज्ञो ज्ञात्वा सर्वमशेषतः ।
देवव्रतो महाबुद्धिः प्रज्ञया चान्वचिन्तयत् ॥३५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा के दुःख का वह सारा कारण जानकर परम बुद्धिमान

देवव्रत ने अपनी बुद्धि से भी उसपर विचार-विमर्श किया।

अभ्यगच्छत्तदैवाशु वृद्धामात्यं पितुर्हितम्।
तमपृच्छत्तदाभ्येत्य पितुस्तच्छोककारणम् ॥३६॥

फिर वे उसी समय तुरन्त अपने पिता के हितैषी वृद्ध मन्त्री के पास गये और पिता के वास्तविक शोक के कारण के विषय में उनसे पूछ-ताछ की।

तस्मै स कुरुमुख्याय यथावत् परिपृच्छते।
वरं शशंस कन्यां तामुद्दिश्य भरतर्षभ ॥३७॥

भरतभूषण ! कुरुवंश के श्रेष्ठ पुरुष देवव्रत के यथावत् पूछने पर उस गन्धवती कन्या के लिए दाशराज ने जो वर माँगा था, मन्त्री ने वह कह सुनाया।

ततो देवव्रतो वृद्धैः क्षत्रियैः सहितस्तदा।
अभिगम्य दाशराजं कन्यां वव्रे पितुः स्वयम् ॥३८॥

यह सुनकर कुमार देवव्रत ने उसी समय वृद्ध क्षत्रियों के साथ निषादराज के पास जाकर स्वयं अपने पिता के लिए उसकी कन्या माँगी।

तं दाशः प्रतिजग्राह विधिवत् प्रतिपूज्य च।
अब्रवीच्चैनमासीनं राजसंसदि भारत ॥३९॥

हे भारत ! निषाद ने उनका सम्मान और विधिवत् पूजा करके तथा आसन पर बैठने के पश्चात् साथ आये हुए क्षत्रियों की मण्डली में दाशराज ने उनसे कहा—

दाश उवाच

अर्थितश्चापि राजर्षिः प्रत्याख्यातः पुरा मया।
स चाप्यासीत्सत्यवत्या भृशमर्थी महायशाः ॥४०
कन्यापितृत्वात्किंचित्तु वक्ष्यामि त्वां नराधिप।
बलवत्सपत्नतामत्र दोषं पश्यामि केवलम् ॥४१

दाशराज बोला—महान् कीर्तिवाले राजर्षि शान्तनु सत्यवती को पहले भी बहुत आग्रहपूर्वक माँग चुके हैं परन्तु उनके माँगने पर भी मैंने उनकी बात अस्वीकार कर दी थी। युवराज ! मैं कन्या का पिता होने के कारण आपसे भी कुछ कहना चाहूँगा। आपके यहाँ जो सम्बन्ध हो रहा है, उसमें मुझे केवल एक ही दोष दिखाई देता है, वह है बलवान् के साथ शत्रुता।

यस्य हि त्वं सपत्नः स्या गन्धर्वस्यासुरस्य वा।
न स जातु चिरं जीवेत् त्वयि क्रुद्धे परंतप ॥४२॥

शत्रुसंतापक ! आप जिसके शत्रु होंगे, वह गन्धर्व हो या असुर, आपके क्रुद्ध होने पर कभी चिरजीवी नहीं हो सकता।

देवव्रत उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति ॥४३

देवव्रत ने कहा—लो, तुम जो कुछ चाहते या कहते हो, मैं वैसा ही करूँगा। इस सत्यवती के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही हमारा राजा बनेगा।

दाश उवाच

यत् त्वया सत्यवत्यर्थे सत्यधर्मपरायण।
राजमध्ये प्रतिज्ञातमनुरूपं तवैव तत् ॥४४॥

दाशराज बोला—सत्यधर्मपरायण राजकुमार ! आपने सत्यवती के हित के लिए इन राजाओं के बीच में जो प्रतिज्ञा की है, वह आपके ही योग्य है।

नान्यथा तन्महाबाहो संशयोऽत्र न कश्चन।
तवापत्यं भवेद् यत्तु तत्र नः संशयो महान् ॥४५॥

हे महाबाहो ! आपकी प्रतिज्ञा टल नहीं सकती, उसके विषय में मुझे कोई सन्देह नहीं है। परन्तु आपका जो पुत्र होगा, वह शायद इस प्रतिज्ञा पर दृढ़ न रहे, यही हमारे मन में बड़ा भारी संशय है।

वैशम्पायन उवाच

तस्यैतन्मतमाज्ञाय सत्यधर्मपरायणः।
प्रत्यजानात्तदा राजन्पितुः प्रियचिकीर्षया ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! निषादराज के अभिप्राय को जानकर सत्यधर्म में तत्पर रहनेवाले कुमार देवव्रत ने उस समय पिता का प्रिय करने की इच्छा से यह कठोर प्रतिज्ञा की—

देवव्रत उवाच

अद्य प्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ॥४७॥

देवव्रत ने कहा—निषादराज ! आज से मेरा आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत चलता रहेगा। मेरे

पुत्र न होने पर भी स्वर्ग में मुझे अक्षय लोक प्राप्त होंगे।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
ददामीत्येव तं दाशो धर्मात्मा प्रत्यभाषत ॥४८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—देवव्रत का यह वचन सुनकर धर्मात्मा निषादराज के रोंगटे खड़े हो गये। उसने तुरन्त उत्तर दिया—"मैं यह कन्या आपके पिता के लिए प्रदान करता हूँ।"

ततः स पितुरर्थाय तामुवाच यशस्विनीम् ।
अधिरोह रथं मातर्गच्छावः स्वगृहानिति ॥४९॥

तत्पश्चात् देवव्रत पिता के मनोरथ की सिद्धि के लिए उस यशस्विनी निषाद-कन्या से बोले—"हे माता! इस रथ पर बैठिए। अब हम लोग अपने घर चलें।"

एवमुक्त्वा तु भीष्मस्तां रथमारोप्य भामिनीम् ।
आगम्य हास्तिनपुरं शान्तनोः संन्यवेदयत् ॥५०॥

ऐसा कहकर देवव्रत ने उस भामिनी को रथ पर बैठा लिया और हस्तिनापुर आकर उसे महाराज शान्तनु को सौंप दिया।

तस्य तद्दुष्करं कर्म प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
समेताश्च पृथक् चैव भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥५१॥

उनके उस दुष्कर कर्म की सब राजा लोग एकत्र होकर और अलग-अलग भी प्रशंसा करने लगे। सबने एकस्वर से कहा—"यह राजकुमार वास्तव में 'भीष्म' है।"

इति महाभारते आदिपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य की उत्पत्ति, चित्राङ्गद का निधन, भीष्म द्वारा काशिराज की कन्याओं का अपहरण, अम्बिका और अम्बालिका के साथ विचित्रवीर्य का विवाह और निधन

वैशम्पायन उवाच

ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा शान्तनुर्नृपः ।
तां कन्यां रूपसम्पन्नां स्वगृहे संन्यवेशयत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तत्पश्चात् विवाह सम्पन्न हो जाने पर प्रजापालक राजा शान्तनु ने उस रूपवती कन्या को अपने राजप्रासाद में रखा।

ततः शान्तनवो धीमान् सत्यवत्यामजायत ।
वीरश्चित्राङ्गदो नाम वीर्यवान् पुरुषेश्वरः ॥२॥

कुछ काल के पश्चात् सत्यवती के गर्भ से शान्तनु का बुद्धिमान् पुत्र वीर चित्राङ्गद उत्पन्न हुआ, जो अत्यन्त पराक्रमी तथा समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ था।

अथापरं महेष्वासं सत्यवत्यां सुतं प्रभुः ।
विचित्रवीर्यं राजानं जनयामास वीर्यवान् ॥३॥

तत्पश्चात् महापराक्रमी और शक्तिशाली राजा शान्तनु ने दूसरे पुत्र महान् धनुर्धर राजा विचित्रवीर्य को जन्म दिया।

अप्राप्तवति तस्मिंस्तु यौवनं पुरुषर्षभे ।
स राजा शान्तनुर्धीमान् कालधर्ममुपेयिवान् ॥४॥

नरश्रेष्ठ विचित्रवीर्य अभी यौवन को प्राप्त भी नहीं हुए थे कि बुद्धिमान् महाराज शान्तनु की मृत्यु हो गई।

स्वर्गते शान्तनौ भीष्मश्चित्राङ्गदमरिंदमम् ।
स्थापयामास वै राज्ये सत्यवत्या मते स्थितः ॥५॥

शान्तनु के स्वर्गवासी हो जाने पर भीष्म ने सत्यवती के परामर्श से शत्रुओं का दमन करनेवाले वीर चित्राङ्गद को राजगद्दी पर बैठा दिया।

स तु चित्राङ्गदः शौर्यात् सर्वांश्चिक्षेप पार्थिवान् ।
मनुष्यं न हि मेने स कंचित् सदृशमात्मनः ॥६॥

चित्राङ्गद अपने शौर्य के घमण्ड में आकर सब राजाओं का तिरस्कार करने लगे। वे किसी भी मनुष्य को अपने समान नहीं मानते थे।

तं क्षिपन्तं सुरांश्चैव मनुष्यानसुरांस्तथा ।
गन्धर्वराजो बलवांस्तुल्यनामाभ्ययात् तदा ॥७॥

मनुष्यों पर ही नहीं वे देवताओं और असुरों पर भी आक्षेप करते थे। एक दिन उन्हीं के समान नाम-वाला गन्धर्वराज चित्राङ्गद उनके पास आया।

तेनास्य सुमहद् युद्धं कुरुक्षेत्रे बभूव ह।
मायाधिकोऽवधीद् वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम् ॥८॥

उसके साथ कुरुक्षेत्र में राजा चित्राङ्गद का बड़ा भारी युद्ध हुआ। उस युद्ध में मायाविशारद गन्धर्व ने कुरुश्रेष्ठ वीर चित्राङ्गद का वध कर डाला।

विचित्रवीर्यं च तदा बालमप्राप्तयौवनम्।
कुरुराज्ये महाबाहुरभ्यषिञ्चदनन्तरम् ॥९॥

चित्राङ्गद के मारे जाने पर महाबाहु भीष्म ने विचित्रवीर्य को जो अभी बालक ही थे, युवावस्था में नहीं पहुँचे थे, कुरुदेश राज्य पर अभिषिक्त कर दिया।

विचित्रवीर्यः स तदा भीष्मस्य वचने स्थितः।
अन्वशासन्महाराज पितृपैतामहं पदम् ॥१०॥

महाराज जनमेजय ! तब विचित्रवीर्य भीष्मजी की आज्ञा के अधीन रहकर अपने बाप-दादों के राज्य का शासन करने लगे।

सम्प्राप्तयौवनं दृष्ट्वा भ्रातरं धीमतां वरः।
भीष्मो विचित्रवीर्यस्य विवाहायाकरोन्मतिम् ॥११

जब विचित्रवीर्य धीरे-धीरे युवावस्था में पहुँचे, तब बुद्धिमानों में श्रेष्ठ भीष्मजी ने उनकी अवस्था देख उनके विवाह का विचार किया।

अथ काशिपतेर्भीष्मः कन्यास्तिस्रोऽप्सरोपमाः।
शुश्राव सहिता राजन् वृण्वाना वै स्वयंवरम् ॥१२॥

राजन् ! उन दिनों काशिराज की अप्सराओं के समान सुन्दर तीन कन्याएँ थीं। भीष्मजी ने सुना कि वे तीनों कन्याएं एक ही साथ स्वयंवर-सभा में पति का वरण करनेवाली हैं।

ततः स रथिनां श्रेष्ठो रथेनैकेन शत्रुजित्।
जगामानुमते मातुः पुरीं वाराणसीं प्रभुः ॥१३॥

तब माता सत्यवती की आज्ञा ले रथियों में श्रेष्ठ शत्रुविजयी भीष्म एकमात्र रथ के साथ वाराणसी पुरी को गये।

तत्र राज्ञः समुदितान् सर्वतः समुपागतान्।
ददर्श कन्यास्ताश्चैव भीष्मः शान्तनुनन्दनः ॥१४॥

वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्म ने देखा कि सब ओर से आये हुए नरेशों का समुदाय स्वयंवर सभा में उपस्थित है तथा वे कन्याएँ भी स्वयंवर-मञ्च पर विद्यमान हैं।

कीर्त्यमानेषु राज्ञां तु तदा नामसु सर्वशः।
एकाकिनं तदा भीष्मं वृद्धं शान्तनुनन्दनम् ॥१५॥
सोद्वेगा इव तं दृष्ट्वा कन्याः परमशोभनाः।
अपाक्रामन्त ताः सर्वा वृद्ध इत्येव चिन्तया ॥१६॥

उस समय सब ओर राजाओं का नाम ले-लेकर उन सबका परिचय दिया जा रहा था। इतने में ही शान्तनुनन्दन भीष्म, जो अब वृद्ध हो चले थे, वहाँ अकेले ही पहुँचे। उन्हें देखकर वे सब परम सुन्दरी कन्याएँ उद्विग्न-सी होकर तथा 'ये बूढ़े हैं'—ऐसा सोचती हुईं वहाँ से दूर भाग गईं।

वृद्धः परमधर्मात्मा वलीपलितधारणः।
किं कारणमिहायातो निर्लज्जो भरतर्षभः ॥१७॥
मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यति भारत।
ब्रह्मचारीति भीष्मो हि वृथैव प्रथितो भुवि।
इत्येवं प्रब्रुवन्तस्ते हसन्ति स्म नृपाधमाः ॥१८॥

भरतकुल-भूषण ! वहाँ जो नीच स्वभाव के नरेश एकत्र थे, वे परस्पर निम्न बातें कहते हुए उनकी हँसी उड़ाने लगे—"भरतवंशियों में श्रेष्ठ भीष्म तो बड़े धर्मात्मा सुने जाते थे। ये वृद्ध हो गये हैं, शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई हैं, सिर के बाल श्वेत हो गये हैं, फिर क्या कारण है कि ये यहाँ आये हैं ? ये तो बड़े निर्लज्ज जान पड़ते हैं। अपनी प्रतिज्ञा को झूठी करके ये लोगों को क्या मुँह दिखाएँगे ? भूमण्डल में व्यर्थ ही यह बात फैल गई है कि भीष्मजी ब्रह्मचारी हैं।"

क्षत्रियाणां वचः श्रुत्वा भीष्मश्चुक्रोध भारत।
उवाच च महीपालान् राजञ्जलदनिःस्वनः ॥१९॥

भरतकुलश्रेष्ठ राजन् ! क्षत्रियों की ये बातें सुनकर भीष्मजी क्रुद्ध हो उठे और उन समस्त राजाओं को ललकारते हुए मेघ के समान गम्भीर वाणी में बोले—

ता इमाः पृथिवीपाला जिहीर्षामि बलादितः।
ते यतध्वं परं शक्त्या विजयायेतराय वा ॥२०॥

भूमिपालो ! मैं इन कन्याओं को यहाँ से बलपूर्वक अपहरण करके ले जाना चाहता हूँ। तुम लोग अपनी सारी शक्ति लगाकर विजय अथवा पराजय के लिए मुझे रोकने का यत्न करो।

एवमुक्त्वा महीपालान् काशिराजं च वीर्यवान् ।
एवमुक्त्वा महीपालान् काशिराजं च वीर्यवान् ।

उन सब राजाओं और काशिराज से उपर्युक्त बातें कहकर और उन सब कन्याओं को अपने रथ में बिठाकर पराक्रमी भीष्मजी सबको ललकारते हुए वहाँ से शीघ्रतापूर्वक चल दिये ।

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे समुत्पेतुरमर्षिताः ।
संस्पृशन्तः स्वकान्बाहून्दशन्तो दशनच्छदान् ॥२२

फिर तो वे समस्त नरेश इस अपमान को न सह सके, वे अपनी भुजाओं को ठोकते और दाँतों से ओठ चबाते हुए अपने स्थान से उछल पड़े ।

ततः समभवद् युद्धं तेषां तस्य च भारत ।
एकस्य च बहूनां च तुमुलं लोमहर्षणम् ॥२३॥

हे जनमेजय ! तत्पश्चात् उन राजाओं और भीष्मजी का घोर युद्ध हुआ । भीष्मजी अकेले थे और राजा लोग बहुत । उनमें रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयंकर संग्राम छिड़ गया ।

तान् विनिर्जित्य तु रणे सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
कन्याभिः सहितःप्रायाद् भारतो भारतान्प्रति ॥२४॥

अन्त में, सम्पूर्ण शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ भरत-कुलतिलक भीष्मजी ने उन सब योद्धाओं को जीत-कर कन्याओं को साथ ले भरतवंशियों की राजधानी हस्तिनापुर को प्रस्थान किया ।

ताः सर्वगुणसम्पन्ना भ्राता भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय प्रददौ विक्रमाहृताः ॥२५॥

भाई भीष्म ने अपने पराक्रम द्वारा हर कर लाई हुई उन सर्वगुणसम्पन्न कन्याओं को अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य को सौंप दिया ।

एवं धर्मेण धर्मज्ञः कृत्वा कर्मातिमानुषम् ।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य विवाहायोपचक्रमे ॥२६॥
विवाहं कारयिष्यन्तं भीष्मं काशिपतेः सुता ।
ज्येष्ठा तासामिदं वाक्यमब्रवीद्ध सती तदा ॥२७॥

धर्मज्ञ भीष्मजी इस प्रकार धर्मपूर्वक अलौकिक पराक्रम करके भाई विचित्रवीर्य के विवाह की तैयारी करने लगे । काशिराज की उन कन्याओं में जो सबसे बड़ी थी, वह बड़ी सती-साध्वी थी । उसने जब सुना कि भीष्मजी मेरा विवाह अपने छोटे भाई के साथ करेंगे, तब वह उनसे इस प्रकार बोली—

मया सौभपतिः पूर्वं मनसा हि वृतः पतिः ।
एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ धर्मतत्त्वं समाचर ॥२८॥

"धर्मात्मन् ! मैंने पहले से ही मन-ही-मन सौभ नामक विमान के अधिपति राजा शाल्व को पतिरूप में वरण कर लिया था । इस बात को सोच-समझकर जो धर्म का सार प्रतीत हो, वही कार्य कीजिए ।"

विनिश्चित्य स धर्मज्ञो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अनुजज्ञे तदा ज्येष्ठामम्बां काशिपतेः सुताम् ॥२९॥

[उसके ऐसा कहने पर] धर्मज्ञ भीष्म ने वेदों के पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणों के साथ भली-भाँति विचार करके काशिराज की ज्येष्ठ पुत्री अम्बा को उसी समय शाल्व के यहाँ जाने की आज्ञा प्रदान कर दी ।

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ॥३०॥

अम्बिका और अम्बालिका नाम की शेष दो कन्याओं को भीष्मजी ने शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य को पत्नी के रूप में प्रदान कर दिया ।

तयोः पाणी गृहीत्वा तु रूपयौवनदर्पितः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कामात्मा समपद्यत ॥३१॥

उन दोनों सुन्दरी कन्याओं का पाणिग्रहण करके रूप और यौवन के मद से भरे धर्मातमा विचित्रवीर्य कामातमा बन गये ।

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः ।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ॥३२॥

राजा विचित्रवीर्य ने उन दोनों पत्नियों के साथ सात वर्ष तक निरन्तर विहार किया, उस असंयम के परिणामस्वरूप वे यौवन में ही राजयक्ष्मा के शिकार हो गये ।

सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः ।
जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ॥३३॥

उनके हितैषी मित्रों ने नामी और विश्वसनीय चिकित्सकों द्वारा उनके रोग-निवारण की पूरी चेष्टा की, तो भी जैसे सूर्य अस्ताचल को चले जाते हैं, उसी प्रकार वे कौरव-नरेश यमलोक को चले गये ।

इति महाभारते आदिपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥

सप्तमोऽध्यायः

भीष्मजी द्वारा राज्यग्रहण की अस्वीकृति, व्यासजी द्वारा विचित्रवीर्य के क्षेत्र से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर की उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती दीना कृपणा पुत्रगृद्धिनी।
पुत्रस्य कृत्वा कार्याणि गाङ्गेयं वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुत्र की इच्छा रखनेवाली सत्यवती अपने पुत्र के वियोग से अत्यन्त दीन और कृपण हो गई। अपने पुत्र के प्रेतकार्य करके उसने गङ्गानन्दन भीष्म से कहा—

यथा कर्म शुभं कृत्वा स्वर्गोपगमनं ध्रुवम् ।
यथा चायुर्ध्रुवं सत्ये त्वयि धर्मस्तथा ध्रुवः ॥२॥

"जैसे शुभकर्म करके स्वर्गलोक में जाना निश्चित है, जैसे सत्य-भाषण से आयु का बढ़ना अवश्यम्भावी है, वैसे ही तुममें धर्मपालन का होना भी निश्चित है।

वेत्थ धर्मांश्च धर्मज्ञ समासेनेतरेण च।
विविधास्त्वं श्रुतीर्वेत्थ वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥३॥

"धर्मज्ञ ! तुम सब धर्मों को संक्षेप और विस्तार से जानते हो। नाना प्रकार की श्रुतियों और समस्त वेदाङ्गों का भी तुम्हें पूर्ण ज्ञान है।

व्यवस्थानं च ते धर्मे कुलाचारं च लक्षये।
प्रतिपत्तिं च कृच्छ्रेषु शुक्राङ्गिरसयोरिव ॥४॥

"मैं तुम्हारी धर्मनिष्ठा और कुलोचित सदाचार को भी देखती हूँ। संकट के समय शुक्राचार्य और बृहस्पति की भाँति तुम्हारी बुद्धि उपयुक्त कर्तव्य का निर्णय करने में समर्थ है।

तस्मात् सुभृशमाश्वस्य त्वयि धर्मभृतां वर।
कार्ये त्वां विनियोक्ष्यामि तत् श्रुत्वा कर्तुमर्हसि ॥५॥

"इसलिए धर्मात्माओं में श्रेष्ठ भीष्म ! तुमपर अत्यन्त विश्वास रखकर ही मैं तुम्हें एक आवश्यक कार्य में लगाना चाहती हूँ। तुम उसे सुनो और उसका पालन करने की चेष्टा करो।

मम पुत्रस्तव भ्राता वीर्यवान् सुप्रियश्च ते।
बाल[1] एव गतः स्वर्गमपुत्रः पुरुषर्षभ ॥६॥
इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च भारत ॥७॥
तयोरुत्पादयापत्यं सन्तानाय कुलस्य नः।
मन्नियोगान्महाबाहो धर्मं कर्तुमिहार्हसि ॥८॥

"मेरा पुत्र और तुम्हारा भाई विचित्रवीर्य जो पराक्रमी होने के साथ ही तुम्हें अतिप्रिय था, छोटी अवस्था में ही स्वर्गवासी हो गया। नरश्रेष्ठ ! उसके कोई पुत्र भी उत्पन्न नहीं हुआ। तुम्हारे भाई की ये दोनों सुन्दरी रानियाँ—काशिराज की कन्याएँ—मनोहर रूप और यौवन से सम्पन्न हैं। इनके हृदय में पुत्र पाने की अभिलाषा है। हे भारत ! तुम हमारे कुल की सन्तान-परम्परा की रक्षा के लिए स्वयं ही इन दोनों के गर्भ से पुत्र उत्पन्न करो। महाबाहो ! मेरी आज्ञा से यह धर्मकार्य तुम अवश्य करो !"

भीष्म उवाच

असंशयं परो धर्मस्त्वया मातरुदाहृतः।
राज्यार्थे नाभिषिञ्चेयं नोपेयां जातु मैथुनम् ॥९॥

भीष्म ने कहा—माता ! तुमने जो कुछ कहा है, वह धर्मयुक्त है, इसमें संशय नहीं, परन्तु मैं राज्य के लोभ से न तो अपना अभिषेक कराऊँगा और न स्त्री-सहवास ही करूँगा।

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ॥१०॥

मैं तीनों लोकों का राज्य, देवताओं का साम्राज्य अथवा इन दोनों से भी अधिक महत्त्व की वस्तु भी एकदम त्याग सकता हूँ, परन्तु सत्य को किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता।

त्यजेच्च पृथिवी गन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद् रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् ॥११
प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मताम्।
त्यजेच्छब्दं तथाऽऽकाशः सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥१२

१. 'बाल' से तात्पर्य यहाँ थोड़ी अवस्था से है। पिछले अध्याय [६।११] में इन्हें 'सम्प्राप्तयौवनम्' कहा है।

विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन ॥१३

हो सकता है पृथिवी अपनी गन्ध को छोड़ दे, जल अपने रस का परित्याग कर दे, तेज रूप का और वायु स्पर्श नामक स्वाभाविक गुण का त्याग कर दे, सूर्य अपनी प्रभा और अग्नि अपनी उष्णता को छोड़ दे, आकाश अपने शब्द गुण का और चन्द्रमा अपनी शीतलता का परित्याग कर दे, इन्द्र अपने पराक्रम को छोड़ दे और धर्मराज धर्म की उपेक्षा कर दें परन्तु मैं किसी प्रकार सत्य को छोड़ने का विचार भी नहीं कर सकता।

सत्यवत्युवाच

जानामि ते स्थितिं सत्ये परां सत्यपराक्रम ।
इच्छन्सृजेथास्त्रीँल्लोकानन्यांस्त्वं स्वेन तेजसा ॥१४
जानामि चैव सत्यं तन्मदर्थे यच्च भाषितम् ।
आपद्धर्मं त्वमावेक्ष्य वह पैतामहीं धुरम् ॥१५॥

सत्यवती बोली—सत्यपराक्रम ! मैं जानती हूँ सत्य में तुम्हारी दृढ़ निष्ठा है। तुम चाहो तो अपने ही तेज से नई त्रिलोकी की रचना कर सकते हो। मैं उस सत्य को भी जानती हूँ जिसकी तुमने मेरे लिए घोषणा की थी। फिर भी मेरा आग्रह है कि तुम आपद्धर्म का विचार करके बाप-दादों के दिये हुए इस राज्य-भार को वहन करो।

यथा ते कुलतन्तुश्च धर्मश्च न पराभवेत् ।
सुहृदश्च प्रहृष्येरंस्तथा कुरु परन्तप ॥१६॥

अतः परंतप ! जिस उपाय से तुम्हारे वंश की परम्परा नष्ट न हो, धर्म की भी अवहेलना न होने पाये तथा प्रेमी सुहृद् भी सन्तुष्ट हो जाएँ, तुम वही करो।

भीष्म उवाच

राज्ञि धर्माननवेक्षस्व मा नः सर्वान् व्यनीनशः ।
सत्याच्च्युतिः क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते ॥१७॥

भीष्म बोले—राजमाता ! धर्म की ओर दृष्टि-पात करो। हम सबका नाश मत करो। क्षत्रिय का सत्य से विचलित होना किसी भी धर्म में अच्छा नहीं माना गया है।

पुनर्भरतवंशस्य हेतुं सन्तानवृद्धये ।
वक्ष्यामि नियतं मातस्तन्मे निगदतः शृणु ॥१८॥
ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद् धनेनोपनिमन्त्र्यताम् ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत् प्रजाः ॥१९

मातः ! भरतवंश की सन्तान-परम्परा को बढ़ाने और सुरक्षित रखने के लिए जो निश्चित उपाय है, उसे बताता हूँ—सुनो ! किसी गुणवान् ब्राह्मण को धन देकर बुलाओ, जो विचित्रवीर्य की स्त्रियों के गर्भ से सन्तान उत्पन्न कर सके।

सत्यवत्युवाच

कन्यापुत्रो मम पुरा द्वैपायन इति श्रुतः ।
सत्यवादी शमपरस्तपस्वी दग्धकिल्बिषः ॥२०॥

सत्यवती ने कहा—पहले कन्या-अवस्था में मेरे गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो द्वैपायन के नाम से विख्यात है। वे सत्यवादी, शान्त, तपस्वी तथा पाप से शून्य हैं।

स नियुक्तो मया व्यक्तं त्वया चाप्रतिमद्युतिः ।
भ्रातुः क्षेत्रेषु कल्याणमपत्यं जनयिष्यति ॥२१॥

मेरे और तुम्हारे आग्रह करने पर वे अनुपम तेजस्वी व्यास अवश्य ही अपने भाई के क्षेत्र में कल्याणकारी सन्तान उत्पन्न करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

महर्षेः कीर्तने तस्य भीष्मः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
तदिदं धर्मयुक्तं च हितं चैव कुलस्य नः ॥२२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महर्षि व्यास का नाम लेते ही भीष्मजी हाथ जोड़कर बोले—"माताजी ! आपने जो बात कही है, वह धर्मयुक्त तो है ही, हमारे कुल के लिए भी हितकर है।"

ततस्तस्मिन् प्रतिज्ञाते चिन्तयामास वै मुनिम् ।
प्रादुर्बभूवाविदितः वचनं चेदमब्रवीत् ॥२३॥

उस समय भीष्मजी द्वारा इस प्रकार अपनी सम्मति देने पर सत्यवती ने मुनिवर कृष्णद्वैपायन का चिन्तन किया। तब वे सहसा वहाँ आ पहुँचे और अपनी माता से इस प्रकार बोले—

भवत्या यदभिप्रेतं तदहं कर्तुमागतः ।
शाधि मां धर्मतत्त्वज्ञे करवाणि प्रियं तव ॥२४॥

"धर्म के तत्त्व को जाननेवाली माताजी ! आपकी

जो हार्दिक इच्छा हो, उसके अनुसार कार्य करने के लिए मैं आया हूँ। आज्ञा दीजिए, मैं आपकी कौन-सी प्रिय सेवा करूँ।

सत्यवत्युवाच

यवीयसस्तव भ्रातुर्भार्ये सुरसुतोपमे।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च धर्मतः ॥२५॥
तयोरुत्पादयापत्यं समर्थो ह्यसि पुत्रक।
अनुरूपं कुलस्यास्य संतत्याः प्रसवस्य च ॥२६॥

सत्यवती बोली—तुम्हारे छोटे भाई की पत्नियाँ देवकन्याओं के समान सुन्दर, रूप और युवावस्था से सम्पन्न हैं। उनके मन में धर्मतः पुत्र पाने की अभिलाषा है। पुत्र ! तुम इसके लिए समर्थ हो, अतः इन दोनों के गर्भ से ऐसी सन्तानों को जन्म दो, जो इस कुल-परम्परा की रक्षा तथा वृद्धि के लिए सर्वथा सुयोग्य हों।

व्यास उवाच

ईप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत् सनातनम्।
भ्रातुः पुत्रान् प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान् ॥२७

व्यासजी ने कहा—मैं आपकी इच्छा के अनुरूप कार्य करूँगा। नियोगरूपी सनातनमार्ग शास्त्रों में देखा गया है। मैं उसी के अनुसार अपने भाई के लिए मित्र और वरुण के समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करूँगा।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभिगम्य सा देवी स्नुषां रहसि संगताम्।
धर्म्यमर्थसमायुक्तमुवाच वचनं हितम् ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तत्पश्चात् देवी सत्यवती ने एकान्त में बैठी हुई अपनी पुत्रवधू अम्बिका के पास जाकर उससे [आपद्] धर्म और अर्थ से युक्त हितकारक वचन कहा—

नष्टं च भारतं वंशं पुनरेव समुद्धर।
पुत्रं जनय सुश्रोणि देवराजसमप्रभम्।
स हि राज्यधुरं गुर्वीमुद्वक्ष्यति कुलस्य नः ॥२९॥

"सुश्रोणि ! तुम नष्ट होते हुए भरतवंश का पुनः उद्धार करो। तुम देवराज इन्द्र के समान तेजस्वी पुत्र को जन्म दो, वही हमारे कुल के इस महान् राज्य-भार को वहन करेगा।"

ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा।
संवेशयन्ती शयने शनैर्वचनमब्रवीत् ॥३०॥

तत्पश्चात् सत्यवती ठीक समय पर अपनी ऋतु-स्नाता पुत्र-वधू को शय्या पर बैठाती हुई धीरे से बोली—

कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति ॥३१॥

"कौसल्ये ! तुम्हारे एक देवर हैं, वे ही आज तुम्हारे पास गर्भाधान के लिए आएँगे। तुम सावधान होकर उनकी प्रतीक्षा करो। वे ठीक आधी रात के समय यहाँ पधारेंगे।"

श्वश्र्वास्तद् वचनं श्रुत्वा शयाना शयने शुभे।
सा चिन्तयत् तदा भीष्ममन्यांश्च कुरुपुङ्गवान् ॥३२

सास की बात सुनकर कौसल्या पवित्र शय्या पर शयन करके उस समय मन-ही-मन भीष्म तथा अन्य श्रेष्ठ कुरुवंशियों का चिन्तन करने लगी।

ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ॥३३॥

उधर नियोगविधि के अनुसार [शरीर पर घी चुपड़े, संयतचित्त, कुत्सित रूप में] सत्यवादी महर्षि व्यास ने अम्बिका के महल में प्रवेश किया। उस समय बहुत-से दीपक वहाँ प्रकाशित हो रहे थे।

तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत् ॥३४

व्यासजी के शरीर का रंग काला था, उनकी जटाएँ पिंगल वर्ण की और आँखें चमक रही थीं तथा दाढ़ी-मूँछ भूरे रंग की दिखाई देती थीं। उन्हें देखकर देवी कौसल्या ने [भय के मारे] अपनी आँखें मूँद लीं।

सम्बभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया।
भयात् काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ॥३५

माता का प्रिय करने की इच्छा से व्यासजी ने उसके साथ समागम[1] किया, परन्तु काशिराज की

१. लोक में ऐसी भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि विचित्रवीर्य की दोनों पत्नियाँ व्यासजी के सामने से निकल गईं और उन्हें गर्भ रह गया। ऐसा होना सर्वथा असम्भव है। वस्तुतः धृतराष्ट्र आदि सभी नियोग के द्वारा उत्पन्न हुए थे।

कन्या भय के मारे उनकी ओर अच्छी प्रकार से देख न सकी।

ततो निष्क्रान्तमागम्य माता पुत्रमुवाच ह।
अप्यस्या गुणवान् पुत्र राजपुत्रो भविष्यति ॥३६॥

जब व्यासजी अम्बिका के महल से बाहर निकले, तब माता सत्यवती ने आकर उनसे पूछा—"वत्स! क्या अम्बिका के गर्भ से कोई गुणवान् राजकुमार उत्पन्न होगा?"

व्यास उवाच

नागायुतसमप्राणो महाबुद्धिर्भविष्यति।
किं तु मातुः स वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति ॥३७॥

व्यासजी बोले—माँ! गर्भ-स्थित यह पुत्र दस सहस्र हाथियों के समान बलवान् और अत्यन्त बुद्धिमान् होगा, परन्तु माता के दोष से वह अन्धा ही होगा।

सत्यवत्युवाच

नान्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन।
ज्ञातिवंशस्य गोप्तारं पितॄणां वंशवर्धनम्।
द्वितीयं कुरुवंशस्य राजानं दातुमर्हसि ॥३८॥

सत्यवती बोली—तपोधन! कुरुवंश का राजा अन्धा हो, यह उचित नहीं है, अतः कुरुवंश के लिए दूसरा राजा दो, जो ज्ञाति-भाइयों तथा समस्त कुल का संरक्षक एवं पिता के वंश को बढ़ानेवाला हो।

वैशम्पायन उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय निश्चक्राम महायशाः।
सापि कालेन कौसल्या सुषुवेऽन्धं तमात्मजम् ॥३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महायशस्वी व्यासजी 'तथाऽस्तु' कहकर वहाँ से निकल गये। प्रसव का समय आने पर कौसल्या ने उस अन्धे पुत्र को जन्म दिया।

पुनरेव तु सा देवी परिभाष्य स्नुषां ततः।
ऋषिमावाहयत् सत्या यथापूर्वमरिन्दम ॥४०॥

शत्रुदमन! तत्पश्चात् देवी सत्यवती ने अपनी दूसरी पुत्र-वधू को समझा-बुझाकर गर्भाधान के लिए तैयार किया और इसके लिए पूर्ववत् महर्षि व्यास का आवाहन किया।

ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत।
अम्बालिकामथाभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम्।
विवर्णा पाण्डुसंकाशा समपद्यत भारत ॥४१॥

महर्षि व्यास ने उसी [नियोग की संयमपूर्ण] विधि से देवी अम्बालिका के साथ समागम किया। भारत! महर्षि व्यास को देखकर वह कान्तिहीन तथा पाण्डुवर्ण की-सी हो गई।

ततो निष्क्रान्तमालोक्य सत्या पुत्रमथाब्रवीत्।
शशंस स पुनर्मात्रे तस्य बालस्य पाण्डुताम् ॥४२॥

उस महल से निकलने पर सत्यवती ने अपने पुत्र से उसके विषय में पूछा। तब व्यासजी ने भी माता से उस बालक के पाण्डुवर्ण होने की बात बता दी।

तं माता पुनरेवान्यमेकं पुत्रमयाचत।
तथेति च महर्षिस्तां मातरं प्रत्यभाषत ॥४३॥

तब फिर सत्यवती ने पुनः एक दूसरे पुत्र के लिए उनसे याचना की। महर्षि ने 'बहुत अच्छा' कहकर माता की आज्ञा स्वीकार कर ली।

ततः कुमारं सा देवी प्राप्तकालमजीजनत्।
पाण्डुं लक्षणसम्पन्नं दीप्यमानमिव श्रिया।
यस्य पुत्रा महेष्वासा जज्ञिरे पञ्च पाण्डवाः ॥४४॥

तत्पश्चात् देवी अम्बालिका ने समय आने पर एक पाण्डुवर्ण के पुत्र को जन्म दिया, जो अपनी दिव्य कान्ति से उद्भासित हो रहा था। यह वही बालक था, जिसके पुत्र महाधनुर्धारी पाँच पाण्डव हुए।

ऋतुकाले ततो ज्येष्ठां वधूं तस्मै न्ययोजयत्।
सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य तम्।
नाकरोद् वचनं देव्या भयात् सुरसुतोपमा ॥४५॥

तत्पश्चात् ऋतुकाल आने पर सत्यवती ने अपनी बड़ी बहू अम्बिका को पुनः व्यासजी से मिलने के लिए नियुक्त किया। परन्तु देवकन्या के समान सुन्दरी अम्बिका ने महर्षि के उस कुत्सित रूप और गन्ध का चिन्तन करके भय के कारण देवी सत्यवती की आज्ञा नहीं मानी।

ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम्।
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता ॥४६॥

काशिराज की पुत्री अम्बिका ने अप्सरा के समान सुन्दरी अपनी एक दासी को अपने ही वस्त्र-आभूषणों से विभूषित करके उन काले-कलूटे महर्षि व्यास के पास भेज दिया।

कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः।
उत्तिष्ठन्नब्रवीदेनामभुजिष्या भविष्यसि ॥४७॥
अयं च ते शुभे गर्भः श्रेयानुदरमागतः।
धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः ॥४८॥

एकान्त में मिलकर महर्षि व्यास उसपर बहुत सन्तुष्ट हुए। जब वे सहवास करके उठे, तब उससे बोले—"शुभे! अब तू दासी नहीं रहेगी। तेरे उदर में एक अत्यन्त श्रेष्ठ बालक आया है। वह लोक में धर्मात्मा तथा समस्त बुद्धिमानों में श्रेष्ठ होगा।

स जज्ञे विदुरो नाम कृष्णद्वैपायनात्मजः।
धृतराष्ट्रस्य वै भ्राता पाण्डोश्चैव महात्मनः ॥४९॥

वही बालक विदुर हुआ, जो कृष्णद्वैपायन व्यास का पुत्र था। एक पिता का होने के कारण वह राजा धृतराष्ट्र और महात्मा पाण्डु का भाई था।

कृष्णद्वैपायनोऽप्येतत् सत्यवत्यै न्यवेदयत्।
प्रलम्भमात्मनश्चैव शूद्रायाः पुत्रजन्म च ॥५०॥

कृष्णद्वैपायन व्यास ने सत्यवती को भी सब बातें बता दीं। उन्होंने यह रहस्य प्रकट कर दिया कि अम्बिका ने अपनी दासी भेजकर मेरे साथ छल किया है, अतः शूद्रा दासी के गर्भ से ही पुत्र उत्पन्न होगा।

एते विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे द्वैपायनादपि।
जज्ञिरे देवगर्भाभाः कुरुवंशविवर्धनाः ॥५१॥

विचित्रवीर्य के क्षेत्र में व्यासजी से ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो देवकुमारों के समान तेजस्वी तथा कुरुवंश की वृद्धि करनेवाले थे।

इति महाभारते आदिपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

कुरुदेश की सर्वाङ्गीण उन्नति का दिग्दर्शन, राजा धृतराष्ट्र का विवाह

वैशम्पायन उवाच

तेषु त्रिषु कुमारेषु जातेषु कुरुजाङ्गलम्।
कुरवोऽथ कुरुक्षेत्रं त्रयमेतदवर्धत ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन तीनों कुमारों [धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर] के जन्म से कुरुवंश, कुरुजाङ्गल देश और कुरुक्षेत्र—इन तीनों की बड़ी भारी उन्नति एवं समृद्धि हुई।

ऊर्ध्वसस्याभवद् भूमिः सस्यानि रसवन्ति च।
यथर्तुवर्षी पर्जन्यो बहुपुष्पफला द्रुमाः ॥२॥

पृथिवी पर खेती की उपज बहुत बढ़ गई, सभी अन्न रस से भरपूर होते थे, बादल ठीक समय पर वर्षा करते थे, वृक्षों में प्रभूत फल और फूल लगने लगे।

नाभवन् दस्यवः केचिन्नाधर्मरुचयो जनाः।
प्रदेशेष्वपि राष्ट्राणां कृतं युगमवर्तत ॥३॥

कोई भी मनुष्य डाकू नहीं था। पाप में रुचि रखनेवाले लोगों का सर्वथा अभाव था। राष्ट्र के विभिन्न प्रान्तों में सतयुग छा रहा था।

मानक्रोधविहीनाश्च नरा लोभविवर्जिताः।
अन्योऽन्यमभ्यनन्दन्त धर्मोत्तरमवर्तत ॥४॥

सब लोग अभिमान और क्रोध से रहित तथा लोभ से दूर रहनेवाले थे, सभी एक-दूसरे को प्रसन्न रखने की चेष्टा करते थे। लोगों के आचार-व्यवहार में धर्म की ही प्रधानता थी।

नाभवत्कृपणः कश्चिन्नाभवन्विधवा स्त्रियः।
तस्मिञ्जनपदे रम्ये कुरुभिर्बहुलीकृते ॥५॥

कौरवों द्वारा बढ़ाये हुए उस रमणीय जनपद में न तो कोई कंजूस था और न ही विधवा स्त्रियाँ देखी जाती थीं।

गृहेषु कुरुमुख्यानां पौराणां च नराधिप।
दीयतां भुज्यतां चेति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥६॥

हे जनमेजय! कुरुकुल के प्रधान पुरुषों तथा अन्य नगरनिवासियों के घरों में सदा सब ओर यही बात सुनाई देती थी कि—'दान दो और अतिथियों को भोजन कराओ।'

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्च महामतिः ।
जन्मप्रभृति भीष्मेण पुत्रवत् परिपालिताः ॥७॥

धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा परम बुद्धिमान् विदुर—इन तीनों भाइयों का भीष्मजी ने जन्म से ही पुत्र की भाँति पालन किया ।

संस्कारैः संस्कृतास्ते तु व्रताध्ययनसंयुताः ।
श्रमव्यायामकुशलाः समपद्यन्त यौवनम् ॥८॥

उन्होंने ही सबके संस्कार कराये। तब वे ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन तथा वेदों के स्वाध्याय में तत्पर हो गये। परिश्रम और व्यायाम में भी उन्होंने विशेष कुशलता प्राप्त की। फिर धीरे-धीरे वे युवावस्था को प्राप्त हुए।

धनुर्वेदेऽश्वपृष्ठे च गदायुद्धेऽसिचर्मणि ।
तथैव गजशिक्षायां नीतिशास्त्रेषु पारगाः ॥९॥

धनुर्वेद, घोड़े की सवारी, गदायुद्ध, ढाल-तलवार के प्रयोग, गजशिक्षा और नीतिशास्त्र में वे तीन भाई पारंगत हो गये।

इतिहासपुराणेषु नानाशिक्षासु बोधिताः ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञाः सर्वत्र कृतनिश्चयाः ॥१०॥

उन्हें इतिहास, पुराण=ब्राह्मणग्रन्थ तथा नाना प्रकार के शिष्टाचारों का भी ज्ञान कराया गया। वे वेद-वेदाङ्गों के तत्त्वज्ञ तथा सर्वत्र एक निश्चित सिद्धान्त के माननेवाले थे।

पाण्डुर्धनुषि विक्रान्तो नरेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
अन्येभ्यो बलवानासीद् धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥११॥

पाण्डु धनुर्विद्या में उस समय के मनुष्यों में सबसे बढ़कर पराक्रमी थे। इसी प्रकार राजा धृतराष्ट्र दूसरे लोगों की अपेक्षा शारीरिक बल में बहुत बढ़-कर थे।

त्रिषु लोकेषु न त्वासीत्कश्चिद्विदुरसम्मितः ।
धर्मनित्यस्तथा राजन् धर्मे च परमं गतः ॥१२॥

राजन्! तीनों लोकों में विदुरजी के समान दूसरा कोई भी मनुष्य धर्मपरायण तथा धर्म में ऊँची अवस्था को प्राप्त [आत्मद्रष्टा] नहीं था।

धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद् राज्यं न प्रत्यपद्यत ।
पारशवत्वाद् विदुरो राजा पाण्डुर्बभूव ह ॥१३॥

धृतराष्ट्र अन्धे होने के कारण और विदुरजी पारशव [शूद्रा के गर्भ से ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न] होने से राज्य न पा सके, अतः सबसे छोटे पाण्डु ही राजा हुए।

कदाचिदथ गाङ्गेयः सर्वनीतिमतां वरः ।
विदुरं धर्मतत्त्वज्ञं वाक्यमाह यथोचितम् ॥१४॥

एक समय की बात है, सम्पूर्ण नीतिज्ञों में श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजी धर्म के तत्त्व को जाननेवाले विदुरजी से यह न्यायोचित वचन बोले—

भीष्म उवाच

गुणैः समुदितं सम्यगिदं नः प्रथितं कुलम् ।
अत्यन्यान्पृथिवीपालान्पृथिव्यामधिराज्यभाक् ॥१५

भीष्मजी बोले—पुत्र विदुर! हमारा यह कुल अनेक सद्गुणों से सम्पन्न होकर संसार में विख्यात हो रहा है। यह अन्य भूपालों को जीतकर इस भूमण्डल के साम्राज्य का अधिकारी हुआ है।

तच्चैतद् वर्धते भूयः कुलं सागरवद् तथा ।
तथा मया विधातव्यं त्वया चैव न संशयः ॥१६॥

वत्स! हमारा यह कुल भविष्य में भी समुद्र की भाँति बढ़ता रहे, निःसन्देह वही उपाय मुझे और तुम्हें भी करना चाहिए।

श्रूयते यादवी कन्या स्वनुरूपा कुलस्य नः ।
सुबलस्यात्मजा चैव तथा मद्रेश्वरस्य च ॥१७॥

सुना जाता है कि यदुवंशी शूरसेन की कन्या पृथा [जो इस समय राजा कुन्तिभोज की गोद ली हुई पुत्री है] सर्वथा हमारे कुल के अनुरूप है। इसी प्रकार गान्धारराज सुबल और मद्रनरेश के यहाँ भी एक-एक कन्या सुनी जाती है।

कुलीना रूपवत्यश्च ताः कन्याः पुत्र सर्वशः ।
उचिताश्चैव सम्बन्धे तेऽस्माकं क्षत्रियर्षभाः ॥१८

वत्स! वे सब कन्याएँ बड़ी सुन्दरी तथा उत्तम कुल में उत्पन्न हैं। वे श्रेष्ठ क्षत्रियगण हमारे साथ विवाह-सम्बन्ध करने के सर्वथा योग्य हैं।

मन्ये वरयितव्यास्ता इत्यहं धीमतां वर ।
सन्तानार्थं कुलस्यास्य यद् वा विदुर मन्यसे ॥१९॥

बुद्धिमानों में श्रेष्ठ विदुर! मेरी सम्मति से इस कुल की सन्तान-परम्परा को बढ़ाने के लिए उक्त

कन्याओं का वरण करना चाहिए, अथवा जैसी तुहारी सम्मति हो, वैसा किया जाए।

विदुर उवाच

भवान्पिता भवान्माता भवान्नः परमो गुरुः।
तस्मात्स्वयं कुलस्यास्य विचार्य कुरु यद्धितम् ॥२०॥

विदुर बोले—प्रभो! आप हमारे पिता हैं, आप ही माता हैं और आप ही परम गुरु हैं, अतः स्वयं सोच-विचारकर जिस बात में इस कुल का हित हो, वही कीजिए।

वैशम्पायन उवाच

दूतं गान्धारराजस्य प्रेषयामास भारत।
अचक्षुरिति तत्रासीत् सुबलस्य विचारणा ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! विदुर से विचार-विमर्श कर भीष्मजी ने गान्धारराज के पास अपना दूत भेजा। धृतराष्ट्र अन्धे हैं, इस बात को लेकर सुबल के मन में बड़ी उथल-पुथल हुई।

कुलं ख्यातिं च वृत्तं च बुद्ध्या तु प्रसमीक्ष्य सः।
ददौ तां धृतराष्ट्राय गान्धारीं धर्मचारिणीम् ॥२२॥

परन्तु उनके कुल, प्रसिद्धि और आचार आदि के विषय में बुद्धिपूर्वक विचार करके उसने धर्म-परायणा गान्धारी धृतराष्ट्र के लिए प्रदान कर दी।

तस्याः सहोदराः कन्याः पुनरेव ददौ दश।
गान्धारराजः सुबलो भीष्मेण वरितस्तदा ॥२३॥
सत्यव्रतां सत्यसेनां सुदेष्णां च सुसंहिताम्।
तेजःश्रवां सुश्रवां च तथैव निकृतिं शुभाम् ॥२४॥
शंभुवां च दशार्णां च गान्धारीर्दश विश्रुताः।
एकाह्नां प्रतिजग्राह धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ॥२५॥

गान्धारराज सुबल ने भीष्मजी द्वारा वरण करने पर गान्धारी की दस सहोदरा बहिनें भी धृतराष्ट्र को विवाह दीं। उनके नाम इस प्रकार हैं—सत्यव्रता, सत्यसेना, सुदेष्णा, सुसंहिता, तेजःश्रवा, सुश्रवा, निकृति, शुभा, शंभुवा, दशार्णा और विश्वप्रसिद्ध गान्धारी। महाराज धृतराष्ट्र ने इन सबके साथ एक ही दिन विवाह किया।[1]

गान्धारी त्वथ शुश्राव धृतराष्ट्रमचक्षुषम्।
ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा ॥२६॥
बबन्ध नेत्रे स्वे राजन् पतिव्रतपरायणा।
नाभ्यसूयां पतिमहमित्येवं कृतनिश्चया ॥२७॥

उधर जब गान्धारी ने सुना कि धृतराष्ट्र अन्धे हैं तब उन्होंने रेशमी वस्त्र लेकर और उसकी कई तह करके उससे अपनी आँखें बाँध लीं। राजन्! गान्धारी बड़ी पतिव्रता थी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं [सदा पति के अनुकूल रहूँगी] उनके दोष नहीं देखूँगी।

गान्धारी तु वरारोहाः शीलाचारविचेष्टितैः।
तुष्टिं कुरूणां सर्वेषां जनयामास भारत ॥२८॥

हे भारत! सुन्दर शरीरवाली गान्धारी ने अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार तथा सद्व्यवहारों से समस्त कौरवों को प्रसन्न कर लिया।

इति महाभारते आदिपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

पाण्डु और विदुर का विवाह

वैशम्पायन उवाच

शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताऽभवत्।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणाऽप्रतिमा भुवि ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यदुवंशियों में श्रेष्ठ शूरसेन हो गये हैं, जो वसुदेवजी के पिता थे। उनके एक पुत्री उत्पन्न हुई जिसका नाम पृथा रखा

१. धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे। यह संख्या असम्भव-सी लगती है। परन्तु पाठक इस स्थल को ध्यानपूर्वक पढ़ें। गान्धारी की दस बहिनों का विवाह भी धृतराष्ट्र के साथ एक ही दिन हुआ है। ग्यारह पत्नियों से सौ सन्तानों का उत्पन्न होना असम्भव नहीं है। इन ग्यारह के अतिरिक्त एक वैश्य कन्या से भी इनका विवाह हुआ था।

गान्धारी के पेट-से तूंबी का उत्पन्न होना, उस तूंबी में से छोटे-छोटे बच्चों का निकलना, उन्हें घी के बर्तनों में रखना आदि असम्भव गप्प है जो तर्क की तुला पर खरी नहीं उतरती।

गया। इस भूमण्डल में उसके रूप की तुलना में कोई अन्य कुमारी नहीं थी।

पितृष्वस्रीयाय स तामनपत्याय भारत।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यं स सत्यवाक् ॥२॥

हे भारत! सत्यवादी शूरसेन ने अपने फुफेरे भाई सन्तानहीन कुन्तिभोज से पहले ही यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि मैं तुम्हें अपनी प्रथम सन्तान भेंट कर दूंगा।

अग्रजामथ तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकांक्षिणे।
प्रददौ कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ॥३॥

उन्हें पहले कन्या ही उत्पन्न हुई, अतः कृपाकांक्षी महात्मा सखा राजा कुन्तिभोज को उनके मित्र शूरसेन ने वह कन्या दे दी।

सत्त्वरूपगुणोपेता धर्मारामा महाव्रता।
दुहिता कुन्तिभोजस्य पृथा पृथुललोचना ॥४॥

हे जनमेजय! महाराज कुन्तिभोज की वह पुत्री विशाल नेत्रोंवाली पृथा धर्म, सुन्दर रूप तथा उत्तम गुणों से सम्पन्न थी। वह एकमात्र धर्म में ही रत रहनेवाली तथा महान् व्रतों का पालन करनेवाली थी।

तां तु तेजस्विनीं कन्यां रूपयौवनशालिनम्।
व्यवृण्वन् पार्थिवाः केचिदतीव स्त्रीगुणैर्युताम् ॥५॥

स्त्रीजनोचित्त सर्वोत्तम गुण प्रभूत मात्रा में प्रकट होकर उस कन्या की शोभा बढ़ा रहे थे, फलतः सुन्दर रूप और युवावस्था से सुशोभित उस तेजस्विनी राजकन्या के लिए कई राजाओं ने महाराज कुन्तिभोज से याचना की।

ततः सा कुन्तिभोजेन राज्ञाऽऽहूय नराधिपान्।
पित्रा स्वयंवरे दत्ता दुहिता राजसत्तम ॥६॥

राजेन्द्र! तब कन्या के पिता कुन्तिभोज ने उन सब राजाओं को बुलाकर अपनी पुत्री पृथा को स्वयंवर में उपस्थित किया।

ततः सा रङ्गमध्यस्थं तेषां राज्ञां मनस्विनी।
ददर्श राजशार्दूलं पाण्डुं भरतसत्तमम् ॥७॥

उस स्वयंवर में मनस्विनी कुन्ती ने सब राजाओं के बीच में रङ्गमञ्च पर बैठे हुए भरतवंशशिरोमणि नृपश्रेष्ठ पाण्डु को देखा।

सिंहदर्पं महोरस्कं वृषभाक्षं महाबलम्।
आदित्यमिव सर्वेषां राज्ञां प्रच्छाद्य वै प्रभाः ॥८॥

उनमें सिंह के समान बल-दर्प जाग रहा था। उनकी छाती बहुत चौड़ी थी। उनके नेत्र बैल की आँखों के समान बड़े-बड़े थे। वे महाबली थे। वे सब राजाओं की प्रभा को अपने तेज से आच्छादित करके सूर्य की भाँति प्रदीप्त हो रहे थे।

तं दृष्ट्वा सानवद्याङ्गी कुन्तिभोजसुता शुभा।
पाण्डुं नरवरं रङ्गे हृदयेनाकुलाभवत् ॥९॥

निर्दोष अङ्गोंवाली कुन्तिभोजकुमारी शुभलक्षणा कुन्ती स्वयंवर की रङ्गभूमि में नरश्रेष्ठ पाण्डु को देख कर मन-ही-मन उन्हें पाने के लिए व्याकुल हो उठी।

व्रीडमाना स्रजं कुन्ती राज्ञः स्कन्धे समासजत्।
ततस्तस्याः पिता राजन् विवाहमकरोत् प्रभुः ॥१०॥

फिर कुन्ती ने लजाते-लजाते राजा पाण्डु के गले में जयमाला डाल दी। तब उसके पिता कुन्तिभोज ने [शास्त्रविधि के अनुसार पाण्डु के साथ] कुन्ती का विवाह कर दिया।

कृत्वोद्वाहं तदा तं तु नानावसुभिरर्चितम्।
स्वपुरं प्रेषयामास स राजा कुरुसत्तम ॥११॥

हे राजेन्द्र! महाराज कुन्तिभोज ने विवाह-संस्कार सम्पन्न करके उस समय उन्हें नाना प्रकार के धन और रत्नों से सम्मानित किया। फिर पाण्डु को उनकी राजधानी में भेज दिया।

सम्प्राप्य नगरं राजा पाण्डुः कौरवनन्दनः।
न्यवेशयत तां भार्यां कुन्तीं स्वभवने प्रभुः ॥१२॥

हस्तिनापुर में पहुँचकर शक्तिशाली कौरवनन्दन राजा पाण्डु ने अपनी प्रिय पत्नी कुन्ती को राजमहल में पहुँचा दिया।

ततः शान्तनवो भीष्मो राज्ञः पाण्डोर्यशस्विनः।
विवाहस्यापरस्यार्थे चकार मतिमान् मतिम् ॥१३॥

तत्पश्चात् शान्तनुनन्दन परम बुद्धिमान् भीष्मजी ने यशस्वी राजा पाण्डु के द्वितीय विवाह के लिए विचार किया।

सोऽमात्यैः स्थविरैः सार्धं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
बलेन चतुरङ्गेण ययौ मद्रपतेः पुरम् ॥१४॥

वे वृद्ध मन्त्रियों, ब्राह्मणों, महर्षियों और चतु-

रङ्गिणी [रथ, हाथी, घोड़े और पैदल] सेना के साथ मद्रराज की राजधानी में गये।

तमागतमभिश्रुत्य भीष्मं वाहीकपुङ्गवः।
प्रत्युद्गम्यार्चयित्वा च पुरं प्रावेशयन्नृपः ॥१५॥

वाहीकशिरोमणि राजा शल्य भीष्मजी का आगमन सुनकर उनकी अगवानी के लिए नगर से बाहर आये तथा उनका यथोचित स्वागत-सत्कार करके उन्हें राजधानी में ले गये।

दत्त्वा तस्यासनं शुभ्रं पाद्यमर्घ्यं तथैव च।
मधुपर्कं च मद्रेशः पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ॥१६॥

वहाँ उनके लिए सुन्दर आसन, पाद्य, अर्घ्य तथा मधुपर्क अर्पित करके मद्रराज शल्य ने भीष्मजी से उनके आने का प्रयोजन पूछा।

तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं कुरूद्वहः।
आगतं मां विजानीहि कन्यार्थिनमरिन्दम ॥१७॥

तब कुरुकुल का भार वहन करनेवाले भीष्मजी ने मद्रराज से इस प्रकार कहा—"शत्रुदमन! तुम मुझे कन्या के लिए आया हुआ समझो।"

श्रूयते भवतः साध्वी स्वसा माद्री यशस्विनी।
तामहं वरयिष्यामि पाण्डोरर्थे यशस्विनीम् ॥१८॥

सुना है, तुम्हारी माद्री नामवाली एक यशस्विनी बहिन है, जो बड़े साधु स्वभाव की है। मैं उस यशस्विनी माद्री का अपने पाण्डु के लिए वरण करता हूँ।

तमेवंवादिनं भीष्मं शल्यः सम्प्रीतमानसः।
ददौ तां समलंकृत्य स्वसारं कौरवर्षभं ॥१९॥

भीष्म के ऐसा कहने पर शल्य का चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने अपनी बहिन को वस्त्राभूषणों से समलंकृत करके राजा पाण्डु के लिए कुरुश्रेष्ठ भीष्मजी को सौंप दिया।

स तां माद्रीमुपादाय प्रविष्टो गजसाह्वयम्।
जग्राह विधिवत् पाणिं माद्रयाः पाण्डुर्नराधिपः ॥२०

भीष्मजी माद्री को लेकर हस्तिनापुर में आये। वहाँ पहुँचने पर राजा पाण्डु ने माद्री का विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया।

स ताभ्यां व्यहरत् सार्धं भार्याभ्यां राजसत्तमः।
कुन्त्या माद्रया च राजेन्द्रो यथाकामं यथासुखम् ॥२१

राजाओं में श्रेष्ठ महाराज पाण्डु अपनी दोनों पत्नियों—कुन्ती और माद्री—के साथ आनन्दपूर्वक यथेष्ट विहार करने लगे।

ततः स कौरवो राजा विहृत्य त्रिदशा निशाः।
जिगीषया महीं पाण्डुर्निरक्रामत् पुरात् प्रभो ॥२२

हे जनमेजय! कुरुवंशी राजा पाण्डु तीस रात्रियों तक विहार करके समस्त भूमण्डल पर विजय प्राप्त करने की इच्छा लेकर राजधानी से बाहर निकले।

स राजा देवगर्भाभो विजिगीषुर्वसुन्धराम्।
हृष्टपुष्टबलैः प्रायात् पाण्डुः शत्रूननेकशः ॥२३॥

राजा पाण्डु देवकुमार के समान तेजस्वी थे। उन्होंने इस भूमण्डल पर विजय पाने की इच्छा से हृष्ट-पुष्ट सैनिकों के साथ अनेक शत्रुओं पर आक्रमण किया।

तं कृताञ्जलयः सर्वे प्रणता वसुधाधिपाः।
उपाजग्मुर्धनं गृह्य रत्नानि विविधानि च ॥२४॥

भूमण्डल के समस्त राजाओं ने उनके सामने हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिये तथा अनेक प्रकार के रत्न एवं धन लेकर उनके पास आये।

तेन ते निर्जिताः सर्वे पृथिव्यां शूरपार्थिवाः।
तमेकं मेनिरे शूरं देवेष्विव पुरन्दरम् ॥२५॥

पाण्डु के द्वारा परास्त हुए सभी शूरवीर नरेश देवताओं में इन्द्र की भाँति इस पृथिवी पर सब मनुष्यों में एकमात्र उन्हीं को अद्वितीय शूरवीर मानने लगे।

तदादाय ययौ पाण्डुः पुनर्मुदितवाहनः।
हर्षयिष्यन् स्वराष्ट्राणि पुरं च गजसाह्वयम् ॥२६॥

उधर उन सब रत्नों और उस धन को लेकर महाराजा पाण्डु अपने राष्ट्र के लोगों का हर्ष बढ़ाते हुए पुनः हस्तिनापुर की ओर चले आये। उस समय उनकी सवारी के अश्व आदि भी बहुत प्रसन्न थे।

शान्तनो राजसिंहस्य भरतस्य च धीमतः।
प्रणष्टः कीर्तिजः शब्दः पाण्डुना पुनराहृतः ॥२७॥

भूपालों में सिंह के समान पराक्रमी शान्तनु तथा परम बुद्धिमान् भरत की कीर्ति-कथा, जो नष्ट-सी हो गई थी, उसे महाराज पाण्डु ने पुनर्जीवित कर दिया।

ये पुरा कुरुराष्ट्राणि जह्रुः कुरुधनानि च।
ते नागपुरसिंहेन पाण्डुना करदीकृताः ॥२८॥

जिन राजाओं ने पहले कुरुदेश के धन तथा कुरुराष्ट्र का अपहरण किया था, उनको हस्तिनापुर के सिंह पाण्डु ने अपना करद बना लिया।

तस्य वीरस्य विक्रान्तैः सहस्रशतदक्षिणैः।
अश्वमेधशतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः ॥२९॥

वीरवर पाण्डु के पराक्रम से धृतराष्ट्र ने बड़े-बड़े सौ अश्वमेध यज्ञ किये तथा प्रत्येक यज्ञ में एक-एक लाख स्वर्णमुद्राओं की दक्षिणा दी।

अथ पारशवीं कन्यां देवकस्य महीपतेः।
रूपयौवनसम्पन्नां स शुश्रावापगासुतः ॥३०॥

एक समय गङ्गानन्दन भीष्म ने सुना कि राजा देवक के यहाँ एक कन्या है, जो शूद्रजातीय स्त्री के गर्भ से एक ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न की गई है। वह मनोहर रूप और युवावस्था से सम्पन्न है।

ततस्तु वरयित्वा तामानीय भरतर्षभः।
विवाहं कारयामास विदुरस्य महामतेः ॥३१॥

तब भरतकुलतिलक भीष्म ने उसका वरण किया और उसे अपने यहाँ लाकर उसके साथ परम बुद्धिमान् विदुरजी का विवाह कर दिया।

तस्यां चोत्पादयामास विदुरः कुरुनन्दनः।
पुत्रान् विनयसम्पन्नानात्मनः सदृशान् गुणैः ॥३२॥

कुरुनन्दन विदुर ने उसके गर्भ से अपने ही समान गुणवान् और विनयशील अनेक पुत्र उत्पन्न किये।

इति महाभारते आदिपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥

दशमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र के पुत्रों का जन्म

वैशम्पायन उवाच

ततः पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य पार्थिव।
महारथानां वीराणां कन्या चैका शताधिका ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महाराज धृतराष्ट्र की दस स्त्रियाँ थीं। उनसे धृतराष्ट्र के एक सौ वीर महारथी पुत्र उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् एक कन्या हुई जो सौ पुत्रों के अतिरिक्त थी।

धृतराष्ट्रस्य वैश्यायामेकश्चापि शतात् परः।
जन्मतस्तु प्रमाणेन ज्येष्ठो राजा युधिष्ठिरः ॥२॥

दस क्षत्राणी पत्नियों के अतिरिक्त धृतराष्ट्र की एक पत्नी वैश्य जाति की कन्या थी। उससे भी एक पुत्र का जन्म हुआ [इसका नाम युयुत्सु था]। यह पूर्वोक्त सौ पुत्रों से अतिरिक्त था। जन्मकाल के प्रमाण से राजा युधिष्ठिर सबसे बड़े थे।

स जातमात्र एवाथ धृतराष्ट्रसुतो नृप।
रासभारावसदृशं रुराव च ननाद च ॥३॥

राजन्! धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन जन्म लेते ही गधे के रेंकने की-सी आवाज में रोने-चिल्लाने लगा। [उस समय—]

विदुर उवाच

राजन् कुलान्तकरणो भवितैष सुतस्तव।
त्यजैनमेकं शान्ति चेत् कुलस्येच्छसि भारत ॥४॥

विदुर ने कहा—राजन्! आपका यह पुत्र समस्त कुल का नाश करनेवाला होगा। भारत! यदि आप अपने कुल का कल्याण चाहते हैं तो इस एक पुत्र को त्याग दें।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।□
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥५॥

नीति का वचन है कि सम्पूर्ण कुल के हित के लिए एक व्यक्ति को त्याग दे, गाँव के हित के लिए एक कुल को छोड़ दे, देश के कल्याण के लिए एक गाँव का परित्याग कर दे और आत्मा के कल्याण के लिए सम्पूर्ण भूमण्डल को भी त्याग दे।

न चकार तथा राजा पुत्रस्नेहसमन्वितः ॥६॥

परन्तु पुत्रस्नेह के बन्धन में बँधे हुए राजा धृतराष्ट्र ने वैसा नहीं किया।

जनमेजय उवाच

ज्येष्ठानुज्येष्ठतां तेषां नामानि च पृथक् पृथक् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्यात् प्रकीर्तय ॥७॥

जनमेजय ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! धृतराष्ट्र के पुत्रों में सबसे बड़ा कौन था ? फिर उससे छोटा और उससे भी छोटा कौन था ? उन सबके अलग-अलग नाम क्या थे ? सब बातों का क्रमशः वर्णन कीजिए।

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन् दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव जलसन्धः समः सहः ॥८॥
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ।
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ॥९॥
विविंशतिर्विकर्णश्च शलः सत्त्वः सुलोचनः ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्रः शरासनः ॥१०॥
दुर्मदो दुर्विगाहश्च विवित्सुर्विकटाननः ।
ऊर्णनाभः सुनाभश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥११॥
चित्रबाणश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः ।
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्राङ्गश्चित्रकुण्डलः ॥१२॥
भीमवेगो भीमबलो बलाकी बलवर्धनः ।
उग्रायुधः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ ॥१३॥
चित्रायुधो निषङ्गी च पाशी वृन्दारकस्तथा ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥१४॥
दृढसन्धो जरासन्धः सत्यसन्धः सदःसुवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः सेनानीर्दुष्पराजयः ॥१५॥
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षो दुराधरः ।
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ॥१६॥
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तोऽग्रयाय्यपि ।
कवची क्रथनः दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः ॥१७॥
उग्रभीमरथौ वीरौ वीरबाहुरलोलुपः ।
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथाश्रयः ॥१८॥
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी चित्रकुण्डलः ।
प्रमथश्च प्रमाथी च दीर्घरोमश्च वीर्यवान् ॥१९॥
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकध्वजः ।
कुण्डाशी विरजाश्चैव दुःशला च शताधिका ॥२०॥

वैशम्पायनजी बोले—[जनमेजय ! धृतराष्ट के पुत्रों के नाम क्रमशः ये हैं—] १. दुर्योधन, २. युयुत्सु, ३. दुश्शासन, ४. दुस्सह, ५. दुश्शल, ६. जलसन्ध, ७. सम, ८. सह, ९. विन्द, १०. अनुविन्द, ११. दुर्धर्ष, १२. सुबाहु, १३. दुष्प्रधर्षण, १४. दुर्मर्षण, १५. दुर्मुख, १६. दुष्कर्ण, १७. कर्ण, १८. विविंशति, १९. विकर्ण, २०. शल, २१. सत्त्व, २२. सुलोचन, २३. चित्र, २४. उपचित्र, २५. चित्राक्ष, २६. चारुचित्र शरासन, २७. दुर्मद, २८. दुर्विगाह, २९. विवित्सु, ३०. विकटानन, ३१. ऊर्णनाभ, ३२. सुनाम, ३३. नन्द, ३४. उपनन्द, ३५. चित्रबाण, ३६. चित्रवर्मा, ३७. सुवर्मा, ३८. दुर्विरोचन, ३९. अयोबाहु, ४०. महाबाहु चित्राङ्ग, ४१. चित्रकुण्डल, ४२. भीमवेग, ४३. भीमबल, ४४. बलाकी, ४५. बलवर्धन, ४६. उग्रायुध, ४७. सुषेण, ४८. कुण्डोदर, ४९. महोदर, ५०. चित्रायुध, ५१. निषङ्गी, ५२. पाशी, ५३. वृन्दारक, ५४. दृढवर्मा, ५५. दृढक्षत्र, ५६. सोमकीर्ति, ५७. अनूदर, ५८. दृढसन्ध, ५९. जरासन्ध, ६०. सत्यसन्ध ६१. सदःसुवाक्, ६२. उग्रश्रवा, ६३. उग्रसेन, ६४. सेनानी, ६५. दुष्पराजय, ६६. अपराजित ६७. पण्डितक, ६८. विशालाक्ष, ६९. दुराधर, ७०. दृढहस्त, ७१. सुहस्त, ७२. वातवेग, ७३. सुवर्चा, ७४. आदित्यकेतु, ७५. बह्वाशी, ७६. नागदत्त, ७७. अग्रयायी, ७८. कवची, ७९. क्रथन, ८०. दण्डी, ८१. दण्डधार, ८२, धनुर्ग्रह, ८३. उग्र, ८४. भीमरथ, ८५. वीरबाहु, ८६. अलोलुप, ८७. अभय, ८८. रौद्रकर्मा, ८९. दृढरथाश्रय, ९०. अनाधृष्य, ९१. कुण्डभेदी, ९२. विरावी, ९३. विचित्र कुण्डलों से सुशोभित प्रमथ, ९४. प्रमाथी, ९५. शक्तिशाली दीर्घरोमा, ९६. दीर्घबाहु, ९७. महाबाहु व्यूढोरु, ९८. कनकध्वज, ९९. कुण्डाशी तथा १००. विरजा—धृतराष्ट्र के ये सौ पुत्र थे। इनके अतिरिक्त दुःशला नाम की एक कन्या थी, जो सौ पुत्रों से अतिरिक्त थी।

सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ।
सर्वे वेदविदश्चैव सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ॥२१॥

ये सभी अतिरथी शूरवीर थे। इन सबने युद्ध-विद्या में निपुणता प्राप्त कर ली थी। ये सभी वेदों के विद्वान् तथा सम्पूर्ण अस्त्रविद्या के मर्मज्ञ थे।

सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते ।
धृतराष्ट्रेण समये परीक्ष्य विधिवन्नृप ॥२२॥

दुःशलां चापि समये धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
जयद्रथाय प्रददौ विधिना भरतर्षभ ।।२३।।

जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र ने समय पर भली-भाँति जाँच-पड़ताल करके अपने सभी पुत्रों का उनके योग्य कुमारियों के साथ विवाह कर दिया । भरतश्रेष्ठ ! महाराज धृतराष्ट्र ने विवाह के योग्य समय आने पर अपनी पुत्री दुःशला का भी राजा जयद्रथ के साथ विधिपूर्वक विवाह रचाया ।

इति महाभारते आदिपर्वणि दशमोऽध्यायः ।।१०।।

एकादशोऽध्यायः

युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डवों का जन्म

वैशम्पायन उवाच

सम्प्रयुक्तस्तु कुन्त्या च माद्रया च भरतर्षभ ।
जिततन्द्रस्तदा पाण्डुर्बभूव वनगोचरः ।।१।।
हित्वा प्रासादनिलयं शुभानि शयनानि च ।
अरण्यनित्यः सततं बभूव मृगयापरः ।।२।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! राजा पाण्डु ने आलस्य को जीत लिया था । वे कुन्ती और माद्री की प्रेरणा से राजमहलों का निवास तथा सुन्दर शय्याएँ छोड़कर वन में रहने लगे । पाण्डु सदा वन में रहकर शिकार खेला करते थे ।

सोऽब्रवीद् विजने कुन्तीं धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ।
अपत्योत्पादने यत्नमापदि त्वं समर्थय ।।३।।

एक दिन वे यशस्विनी धर्मपत्नी कुन्ती से एकान्त में इस प्रकार बोले—"हे देवि ! यह हमारे लिए आपत्ति-काल है, इस समय सन्तानोत्पत्ति के लिए जो आवश्यक प्रयत्न हो, उसका तुम समर्थन करो ।

मन्नियोगात् सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसाधिकात् ।
पुत्रान् गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि ।।४।।

"हे सुन्दर केशोंवाली प्रिये ! तुम मेरे आदेश से तपस्या में बढ़े-चढ़े किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण के साथ समागम करके गुणवान् पुत्र उत्पन्न करो ।

अद्यैव त्वं वरारोहे प्रयतस्व यथाविधि ।
धर्ममावाहय शुभे स हि लोकेषु पुण्यभाक् ।।५।।

"वरारोहे ! तुम आज ही विधिपूर्वक इसके लिए प्रयत्न करो । शुभे ! तुम सबसे पहले धर्म का आवाहन करो, क्योंकि वे ही सम्पूर्ण लोकों में धर्मात्मा हैं ।"

सा तथोक्ता तथेत्युक्त्वा तेन भर्त्रा वराङ्गना ।
अभिवाद्याभ्यनुज्ञाता प्रदक्षिणमवर्तत ।।६।।

हे राजन् ! अपने पतिदेव पाण्डु के ऐसा कहने पर नारियों में श्रेष्ठ कुन्ती ने 'तथास्तु' कहकर उन्हें प्रणाम किया और आज्ञा लेकर उनकी परिक्रमा की ।

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह ।
लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां हितम् ।।७।।

तत्पश्चात् योगमूर्ति धारण किये हुए धर्म के साथ समागम करके सुन्दराङ्गी कुन्ती ने एक ऐसा पुत्र प्राप्त किया जो समस्त प्राणियों का हित करनेवाला था ।

धार्मिकं तं सुतं लब्ध्वा पाण्डुस्तां पुनरब्रवीत् ।
प्राहुः क्षत्रं बलज्येष्ठं बलज्येष्ठं सुतं वृणु ।।८।।

उस धर्मात्मा पुत्र [युधिष्ठिर] को पाकर राजा पाण्डु ने पुनः कुन्ती से कहा—"हे प्रिये ! क्षत्रिय को बल से ही बड़ा कहा गया है, अतः तुम एक ऐसा पुत्र प्राप्त करो, जो बल में सबसे श्रेष्ठ हो ।

ततस्तथोक्ता भर्त्रा तु वायुमेवाजुहाव सा ।
तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।।९।।

पतिदेव के इस प्रकार कहने पर कुन्ती ने वायुदेव का आवाहन किया । वायुदेव से संसर्ग करने पर महापराक्रमी महाबाहु भीम का जन्म हुआ ।

इदमत्यद्भुतं चासीज्जातमात्रे वृकोदरे ।
यदङ्कात् पतितो मातुः शिलां गात्रैर्व्यचूर्णयत् ।।१०।।

भीमसेन के जन्म लेते ही एक अद्भुत घटना यह हुई कि अपनी माता की गोद से गिरने पर उन्होंने अपने अङ्गों से एक शिला को चूर-चूर कर दिया ।

यस्मिन्नहनि भीमस्तु जज्ञे भरतसत्तम ।
दुर्योधनोऽपि तत्रैव प्रजज्ञे वसुधाधिप ।।११।।

हे भरतश्रेष्ठ भूपाल ! जिस दिन भीमसेन का

जन्म हुआ था, उसी दिन हस्तिनापुर में दुर्योधन का भी जन्म हुआ था।

जाते वृकोदरे पाण्डुः कुन्तीमाह महाबलः।
पुत्रं जनय सुश्रोणि धाम क्षत्रियतेजसाम् ॥१२॥

भीमसेन के उत्पन्न होने पर महाबली पाण्डु ने कुन्ती से कहा—"सुश्रोणि! अब तुम एक ऐसे पुत्र को जन्म दो, जो क्षत्रियोचित तेज का भण्डार हो।"

एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी।
अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ॥१३॥

महाराजा पाण्डु के ऐसा कहने पर यशस्विनी कुन्ती ने इन्द्र का आवाहन किया। तब देवराज इन्द्र आये तथा उन्होंने अर्जुन को उत्पन्न किया।

कुन्तीपुत्रेषु जातेषु धृतराष्टात्मजेषु च।
मद्रराजसुता पाण्डुं रहो वचनमब्रवीत् ॥१४॥

जनमेजय! जब कुन्ती के तीन पुत्र उत्पन्न हो गये तथा धृतराष्ट्र के भी सौ पुत्र हो गये, तब माद्री ने पाण्डु से एकान्त में कहा—

यदि त्वपत्यसन्तानं कुन्तिराजसुता मयि।
कुर्यादनुग्रहो मे स्यात् तव चापि हितं भवेत् ॥१५॥

"यदि कुन्ती देवी मेरे गर्भ से भी कोई सन्तान उत्पन्न करा सकें, तो यह उनका मेरे ऊपर महान् अनुग्रह होगा तथा इससे आपका भी हित होगा।

संरम्भो हि सपत्नीत्वाद् वक्तुं कुन्तिसुतां प्रति।
यदि तु त्वं प्रसन्नो मे स्वयमेनां प्रचोदय ॥१६॥

"सौत होने के नाते मेरे मन में एक अभिमान है जो कुन्ती देवी से निवेदन करने में बाधक हो रहा है, अतः यदि आप मुझपर प्रसन्न हों तो आप स्वयं ही कुन्ती देवी को प्रेरित कीजिए।"

पाण्डुरुवाच

ममाप्येष सदा माद्रि हृद्यर्थः परिवर्तते।
न तु त्वां प्रसहे वक्तुमिष्टानिष्टविवक्षया ॥१७॥

पाण्डु बोले—माद्रि! यह बात मेरे मन में भी निरन्तर घूमती रहती थी, परन्तु इस विषय में तुमसे कुछ कहने का साहस नहीं होता था, क्योंकि पता नहीं, तुम इस प्रस्ताव को सुनकर प्रसन्न होओगी वा बुरा मनोगी, यह सन्देह निरन्तर बना रहता था।

तव त्विदं मतं मत्वा प्रयतिष्याम्यतः परम्।
मन्ये ध्रुवं मयोक्ता सा वचनं प्रतिपत्स्यते ॥१८॥

परन्तु आज इस विषय में तुम्हारी सम्मति जानकर अब मैं इसके लिए प्रयत्न करूँगा। मुझे विश्वास है, मेरे कहने पर कुन्ती देवी निश्चय ही मेरी बात मान लेंगी।

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीं पुनः पाण्डुर्विविक्त इदमब्रवीत्।
मत्प्रियार्थं च कल्याणि कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! एक दिन राजा पाण्डु ने कुन्ती से यह बात कही—'कल्याणि! मेरा प्रिय करने के लिए तुम एक और परमोत्तम कल्याणमय कार्य करो।

सा त्वं माद्रीं प्लवेनैव तारयैनामनिन्दिते।
अपत्यसंविभागेन परां कीर्तिमवाप्नुहि ॥२०॥

"अनिन्दिते! तुम अपनी ही भाँति इस माद्री को भी नौका पर बिठाकर पार लगा दो, इसे भी सन्तति प्रदान कर उत्तम यश प्राप्त करो।"

एवमुक्ताब्रवीन्माद्रीं सकृच्चिन्तय दैवतम्।
तस्मात्ते भवितापत्यमनुरूपमसंशयम् ॥२१॥

हे जनमेजय! महाराज पाण्डु के ऐसा कहने पर कुन्ती ने माद्री से कहा—"तुम एक बार किसी दिव्य पुरुष का चिन्तन करो, उससे तुम्हें निश्चय ही योग्य सन्तान की प्राप्ति होगी।"

ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ।
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ॥२२॥

तब माद्री ने मन-ही-मन कुछ विचार करके अश्विनीकुमारों[1] का स्मरण किया। तब उन महात्मा

१. संस्कृत भाषा की अपनी विशेषताएँ हैं। संस्कृत में सभी शब्दों के लिङ्ग और वचन निश्चित हैं। कुछ शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हुए भी पुल्लिग अथवा नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं—जैसे दाराः और कलत्रम्। इनके वचन भी निश्चित हैं—जैसे 'दाराः' शब्द एक स्त्री का वाचक होने पर भी सदा बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है। 'राम की पत्नी सीता को देखो' इस वाक्य का संस्कृत अनुवाद होगा '**रामस्य दारान् सीतां पश्य**'।

संस्कृत में '**अश्विनौ**' सदा द्विवचन में प्रयुक्त होगा, न एकवचन में और न बहुवचन में। एक साथ दो पुरुषों से नियोग होना सम्भव नहीं। माद्री को एक ही पुरुष के साथ नियोग से जुड़वां पुत्र प्राप्त हुए थे।

ने आकर माद्री के गर्भ से दो जुड़वाँ पुत्र उत्पन्न किये।

नामानि चक्रिरे तेषां शतशृङ्गनिवासिनः।
भक्त्या च कर्मणा चैव तथाशीर्भिर्विशाम्पते ॥२३॥

तत्पश्चात् शतशृङ्गनिवासी ऋषियों ने उन सबके नामकरण-संस्कार किये। उन्हें आशीर्वाद देते हुए उनकी भक्ति और कर्म के अनुसार उनके नाम रखे।

ज्येष्ठं युधिष्ठिरेत्येवं भीमसेनेति मध्यमम्।
अर्जुनेति तृतीयं च कुन्तीपुत्रानकल्पयन् ॥२४॥

कुन्ती के ज्येष्ठ पुत्र का नाम युधिष्ठिर, मँझले का नाम भीमसेन तथा तीसरे का नाम अर्जुन रखा गया।

पूर्वजं नकुलेत्येवं सहदेवेति चापरम्।
माद्रीपुत्रावकथयंस्ते विप्राः प्रीतमानसाः ॥२५॥

उन प्रसन्नचित्त ब्राह्मणों ने माद्री-पुत्रों में से जो पहले उत्पन्न हुआ, उसका नाम नकुल तथा दूसरे का नाम सहदेव निश्चित किया।

पाण्डुर्दृष्ट्वा सुतांस्तांस्तु देवरूपान् महौजसः।
मुदं परमिकां लेभे ननन्द च नराधिपः ॥२६॥

उन देवस्वरूप महान् तेजस्वी पुत्रों को देखकर महाराज पाण्डु को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे आनन्द में मग्न हो गये।

सिंहदर्पा महेष्वासाः सिंहविक्रान्तगामिनः।
सिंहग्रीवा मनुष्येन्द्रा ववृधुर्देवविक्रमाः ॥२७॥

उन बालकों का बल-दर्प सिंह के समान था, वे बड़े-बड़े धनुष धारण करते थे। उनकी चाल-ढाल भी सिंह के ही समान थी। देवताओं के समान पराक्रमी तथा सिंह की-सी गर्दनवाले वे नरश्रेष्ठ चन्द्र-किरणों के समान बढ़ने लगे।

ते च पञ्च शतं चैव कुरुवंशविवर्धनाः।
सर्वे ववृधुरल्पेन कालेनाप्स्विव नीरजाः ॥२८॥

जैसे जल में कमल बढ़ते हैं, उस प्रकार कुरुवंश की वृद्धि करनेवाले जो एक सौ पाँच बालक हुए थे, वे सब थोड़े ही समय में बढ़कर सयाने हो गये।

इति महाभारते आदिपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

राजा पाण्डु की मृत्यु, माद्री का उनके साथ चितारोहण, ऋषियों का कुन्ती और पाण्डवों को हस्तिनापुर ले जाकर भीष्म को सौंपना

वैशम्पायन उवाच

सुपुष्पितवने काले कदाचिन्मधुमाधवे।
भूतसम्मोहने पाण्डुः सभार्यो व्यचरद् वनम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—एक दिन की बात है, चैत्र और वैशाख के महीनों की सन्धि के समय में सम्पूर्ण वन अनेक प्रकार के सुन्दर पुष्पों से अलंकृत हो अपनी अनुपम शोभा से समस्त प्राणियों को मोहित कर रहा था, उस समय राजा पाण्डु अपनी छोटी रानी के साथ वन में विचरने लगे।

जलस्थानैश्च विविधैः पद्मिनीभिश्च शोभितम्।
पाण्डोर्वनं तत् सम्प्रेक्ष्य प्रजज्ञे हृदि मन्मथः ॥२॥

नाना प्रकार के जलाशयों तथा कमलों से सुशोभित उस वन की मनोहर छटा देखकर राजा पाण्डु के मन में काम का संचार हो गया।

प्रहृष्टमानसं तत्र विचरन्तं यथामरम्।
तं माद्र्यनुजगामैका वसनं बिभ्रती शुभम् ॥३॥

वे मन में अत्यन्त हर्षित होकर देवता की भाँति वहाँ विचर रहे थे। उस समय माद्री सुन्दर वस्त्र पहिने अकेली उनके पीछे-पीछे जा रही थी।

तत एनां बलाद् राजा निजग्राह रहो गताम्।
वार्यमाणस्तया देव्या विस्फुरन्त्या यथाबलम् ॥४॥

तब एकान्त में मिली हुई माद्री को महाराज पाण्डु ने बलपूर्वक पकड़ लिया। देवी माद्री राजा की पकड़ से छूटने के लिए यथाशक्ति चेष्टा करती हुई उन्हें बार-बार रोक रही थी।

स तया सह संगम्य भार्यया कुरुनन्दनः।
पाण्डुः परमधर्मात्मा युयुजे कालधर्मणा ॥५॥

कुरुकुल को आनन्दित करनेवाले परम धर्मात्मा महाराज पाण्डु इस प्रकार अपनी धर्मपत्नी माद्री से समागम करके काल के ग्रास बन गये।

ततो माद्री समालिङ्ग्य राजानं गतचेतनम् ।
मुमोच दुःखजं शब्दं पुनः पुनरतीव हि ॥६॥

तब माद्री राजा के शव से लिपटकर बार-बार अत्यन्त करुणाजनक शब्दों में विलाप करने लगी ।

सह पुत्रैस्ततः कुन्ती माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
आजग्मुः सहितास्तत्र यत्र राजा तथागतः ॥७॥

इतने में ही पुत्रों-सहित कुन्ती और दोनों पाण्डु-नन्दन माद्रीकुमार एक साथ उस स्थान पर आ पहुँचे, जहाँ राजा पाण्डु मृत-अवस्था में पड़े थे ।

दृष्ट्वा पाण्डुं च माद्रीं च शयानौ धरणीतले ।
कुन्ती शोकपरीताङ्गी विललाप सुदुःखिता ॥८॥

पाण्डु और माद्री को धरती पर पड़े हुए देख कुन्ती के सम्पूर्ण शरीर में शोकाग्नि व्याप्त हो गई और वह अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करने लगी ।

कुन्त्युवाच

अन्विष्यामीह भर्तारमहं प्रेतवशं गतम् ।
उत्तिष्ठ त्वं विसृज्यैनमिमान् पालय दारकान् ॥९॥

कुन्ती बोली—मैं मृत्यु के पाश में पड़े हुए अपने स्वामी का अनुगमन करूँगी । अब तुम इन्हें छोड़कर उठो तथा इन बच्चों का पालन करो ।

माद्र्युवाच

न चाप्यहं वर्तयन्ती निर्विशेषं सुतेषु ते ।
वृत्तिमार्ये चरिष्यामि स्पृशेदेनस्तथा च माम् ॥१०॥

माद्री ने कहा—आर्ये ! मैं आपके पुत्रों के साथ अपने सगे पुत्रों की भाँति व्यवहार नहीं कर सकूँगी । उस अवस्था में मुझे पाप लगेगा ।

तस्मान्मे सुतयोः कुन्ति वर्तितव्यं स्वपुत्रवत् ।
मां च कामयमानोऽयं राजा प्रेतवशं गतः ॥११॥

अतः आप ही जीवित रहकर मेरे पुत्रों का भी अपने पुत्रों के समान ही पालन कीजिएगा । इसके सिवा, ये महाराज मेरी ही कामना रखकर मृत्यु के अधीन हुए हैं ।

राज्ञः शरीरेण सह ममापीदं कलेवरम् ।
दग्धव्यं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरु ॥१२॥

मेरे इस शरीर को महाराज के शरीर के साथ ही भली-भाँति ढँककर दग्ध कर दें । आर्ये ! आप मेरा यह प्रिय कार्य करें ।

दारकेष्वप्रमत्ता च भवेथाश्च हिता मम ।
अतोऽन्यन्न प्रपश्यामि संदेष्टव्यं हि किञ्चन ॥१३॥

मेरे पुत्रों का हित चाहती हुई आप सावधान रहकर उनका पालन-पोषण करती रहें । इसके सिवा दूसरी कोई बात मुझे आपसे कहने योग्य नहीं जान पड़ती ।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं चिताग्निस्थं धर्मपत्नी नरर्षभम् ।
मद्रराजसुता तूर्णमन्वारोहद् यशस्विनी ॥१४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! कुन्ती से यह कहकर पाण्डु की यशस्विनी धर्मपत्नी माद्री चिता-अग्नि पर रखे हुए अपने पति नरश्रेष्ठ पाण्डु के शव के साथ स्वयं भी चिता पर जा बैठी ।[1]

पाण्डुमुपरतं दृष्ट्वा देवकल्पा महर्षयः ।
ततो मन्त्रविदः सर्वे मन्त्रयाञ्चक्रिरे मिथः ॥१५॥

उधर राजा पाण्डु की मृत्यु हुई देख, वहाँ रहने-वाले देवताओं के समान तेजस्वी सभी मन्त्रज्ञ महर्षियों ने आपस में विचार-विमर्श किया ।

तापसा ऊचुः

हित्वा राज्यं च राष्ट्रं च स महात्मा महायशाः ।
अस्मिन् स्थाने तपस्तप्त्वा मुनीनांशरणं गतः ॥१६॥

तपस्वी बोले—महान् यशस्वी महात्मा राजा पाण्डु अपना राज्य तथा राष्ट्र छोड़कर इस स्थान पर तपस्या करते हुए तपस्वी मुनियों की शरण में रहते थे ।

स जातमात्रान् पुत्रांश्च दारांश्च भवतामिह ।
प्रादायोपनिधिं राजा पाण्डुः स्वर्गमितो गतः ॥१७॥

वे राजा पाण्डु अपनी पत्नी और नवजात पुत्रों को आप लोगों के पास धरोहर रखकर यहाँ से स्वर्ग-लोक चले गये ।

तस्येमानात्मजान् देहं भार्यां च सुमहात्मनः ।
स्वराष्ट्रं गृह्य गच्छामो धर्म एष हि नः स्मृतः ॥१८॥

उनके इन पुत्रों को, पाण्डु एवं माद्री के शरीर की अस्थियों को तथा उन महामना नरेश की महारानी

१. सती-प्रथा वेद-विरुद्ध है । चारों वेदों में एक भी मन्त्र सती-प्रथा का समर्थक नहीं है ।

कुन्ती को लेकर हम लोग उनकी राजधानी में चलें। इस समय हमारे लिए यही धर्म प्रतीत होता है।

वैशम्पायन उवाच

ते परस्परमामन्त्र्य देवकल्पा महर्षयः।
तस्मिन्नेव क्षणे सर्वे तानादाय प्रतस्थिरे ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! इस प्रकार परस्पर विचार-विमर्श करके उन देवतुल्य महर्षियों ने उन सबको [कुन्ती, पाँचों पाण्डवों तथा पाण्डु और माद्री के शरीर की अस्थियों] साथ लेकर उसी क्षण वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

द्वारिणं तापसा ऊचू राजानं च प्रकाशय।
ते तु गत्वा क्षणेनैव सभायां विनिवेदिताः ॥२०॥

नगर में पहुँचकर तपस्वी मुनियों ने द्वारपाल से कहा—"राजा को हमारे आने की सूचना दो!" द्वारपाल ने सभा में जाकर क्षणभर में उनके आगमन का समाचार दे दिया।

पूजयित्वा यथान्यायं पाद्येनार्घ्येण च प्रभो।
भीष्मो राज्यं च राष्ट्रं च महर्षिभ्यो न्यवेदयत् ॥२१॥
तेषामथो वृद्धतमः प्रत्युत्थाय जटाजिनी।
ऋषीणां मतमाज्ञाय महर्षिरिदमब्रवीत् ॥२२॥

राजन्! भीष्मजी ने पाद्य-अर्घ्यादि द्वारा उन सब महर्षियों का यथोचित आदर-सत्कार करके उन्हें अपने राज्य तथा राष्ट्र का कुशल-समाचार निवेदन किया। तब उन महर्षियों में जो सबसे अधिक वृद्ध थे, वे जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले मुनि अन्य सब ऋषियों की अनुमति लेकर इस प्रकार बोले—

यः त कौरव्यदायाद पाण्डुर्नाम नराधिपः।
कामभोगान् परित्यज्य शतशृङ्गमितो गतः ॥२३॥
वर्तमानः सतां वृत्ते पुत्रलाभमवाप्य च।
पितृलोकं गतः पाण्डुरितः सप्तदशेऽहनि ॥२४॥

"हे कुरुनन्दन भीष्म! जो आपके पुत्र महाराज पाण्डु विषय-भोगों का परित्याग करके यहाँ से शत-शृङ्ग पर्वत पर चले गये थे, साधु पुरुषों के आचार-व्यवहार का पालन करते हुए वे ही राजा पाण्डु उत्तम पुत्रों की उपलब्धि करके आज से सत्रह दिन पूर्व स्वर्गवासी हो गये।

तं चितागतमाज्ञाय वैश्वानरमुखे हुतम्।
प्रविष्टा पावकं माद्री हित्वा जीवितमात्मनः ॥२५॥

"जब वे चिता पर सुलाये गये तथा उन्हें अग्नि के मुख में होम दिया गया, उस समय देवी माद्री अपने जीवन का मोह छोड़कर उसी अग्नि में प्रविष्ट हो गई।

इमे तयोः शरीरे द्वे पुत्राश्चेमे तयोर्वराः।
यथावदनुगृह्णन्तु धर्मो ह्येष सनातनः ॥२६॥

"ये पाण्डु व माद्री दोनों के शरीरों की अस्थियां हैं तथा ये उनके श्रेष्ठ पुत्र हैं। आप लोग इन्हें यथोचित रूप से अपनाकर अनुगृहीत करें, क्योंकि यही सनातन धर्म है।"

एवमुक्त्वा कुरून् सर्वान् कुरूणामेव पश्यताम्।
क्षणेनान्तर्हिताः सर्वे तापसा गुह्यकैः सह ॥२७॥

हे जनमेजय! समस्त कौरवों से ऐसी बात कहकर उनके देखते-देखते वे सभी तपस्वी मुनि गुह्यकों (यक्षों) के साथ क्षणभर में वहाँ से अन्तर्धान [आँखों से ओझल] हो गये।

इति महाभारते आदिपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

पाण्डवों तथा धृतराष्ट्र-पुत्रों की बाल-क्रीड़ा, दुर्योधन का भीम को विष खिलाकर जल में धकेलना, भीम का वापस से लौटना

वैशम्पायन उवाच

अवाप्तवन्तो वेदोक्तान् संस्कारान् पाण्डवास्तदा।
संव्यवर्धन्त भोगाँस्ते भुञ्जानाः पितृवेश्मनि ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! उस समय पाँचों पाण्डवों के वेदोक्त [वेदारम्भ आदि] संस्कार हुए। वे पिता के घर में नाना प्रकार के भोग भोगते हुए पलने और पुष्ट होने लगे।

धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः क्रीडन्तो मुदिताः सुखम् ।
बालक्रीडासु सर्वासु विशिष्टास्तेजसाभवन् ।।२।।

धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ सुखपूर्वक खेलते हुए वे सदा प्रसन्न रहते थे। सब प्रकार की बाल-क्रीड़ाओं में अपने तेज से वे बढ़-चढ़कर सिद्ध होते थे।

जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे ।
धार्तराष्ट्रान् भीमसेनः सर्वान् स परिमर्दति ।।३।।

दौड़ने में, दूर रखी हुई किसी प्रत्यक्ष वस्तु को सबसे पहले पहुँचकर उठा लेने में, खान-पान में तथा धूल उछालने के खेल में भीमसेन धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों का मान-मर्दन कर देते थे।

हर्षात् प्रक्रीडमानांस्तान् गृह्य राजन् निलीयते ।
शिरःसु विनिगृह्यैतान् योधयामास पाण्डवैः ।।४।।

राजन्! हर्ष से खेल-कूद में लगे हुए कौरवों को पकड़कर भीमसेन कहीं छिप जाते थे और कभी उनके सिर पकड़कर पाण्डवों से लड़ा देते थे।

शतमेकोत्तरं तेषां कुमाराणां महौजसाम् ।
एक एव निगृह्णाति नातिकृच्छ्राद् वृकोदरः ।।५।।

धृतराष्ट्र के एक सौ एक कुमार बड़े बलवान् थे, किन्तु भीमसेन बिना अधिक कष्ट उठाये अकेले ही उन सबको अपने वश में कर लेते थे।

दश बालाञ्जले क्रीडन् भुजाभ्यां परिगृह्य सः ।
आस्ते स्म सलिले मग्नो मृतकल्पान् विमुञ्चति ।।६।।

वे (भीम) जल में क्रीड़ा करते समय अपनी दोनों भुजाओं से धृतराष्ट्र के दस बालकों को पकड़ लेते तथा देर तक पानी में डुबकी लगाये रहते थे। जब वे अधमरे-से हो जाते थे, तब उन्हें छोड़ते थे।

फलानि वृक्षमारुह्य विचिन्वन्ति च ते यदा ।
तदा पादप्रहारेण भीमः कम्पयते द्रुमान् ।।७।।

जब कौरव वृक्ष पर चढ़कर फल तोड़ने लगते, तब भीमसेन पैर से ठोकर मारकर उन वृक्षों को हिला देते थे।

प्रहारवेगाभिहता द्रुमा व्याघूर्णितास्ततः ।
सफलाःप्रपतन्ति स्म द्रुतं त्रस्ताः कुमारकाः ।।८।।

उनके वेगपूर्वक प्रहार से आहत हो वे वृक्ष हिलने लगते और उनपर चढ़े हुए धृतराष्ट्र के पुत्र भयभीत हो फलों के सहित नीचे गिर पड़ते थे।

न ते नियुद्धे न जवे न योग्यासु कदाचन ।
कुमारा उत्तरं चक्रुः स्पर्धमाना वृकोदरम् ।।९।।

मल्लयुद्ध [कुश्ती] में, दौड़ लगाने में तथा शिक्षा के अभ्यास में धृतराष्ट्र के पुत्र सदा स्पर्धा करते हुए भी (लाग-डाँट रखते हुए भी) कभी भीमसेन की बराबरी नहीं कर पाते थे।

एवं स धार्तराष्ट्रांश्च स्पर्धमानो वृकोदरः ।
अप्रियेऽतिष्ठदत्यन्तं बाल्यान्न द्रोहचेतसा ।।१०।।

इस प्रकार भीमसेन धृतराष्ट्र-पुत्रों से स्पर्धा रखते हुए उनके अत्यन्त अप्रीतिपात्र बन गये। परन्तु उनके मन में कौरवों के प्रति द्वेष नहीं था, वे केवल बाल-स्वभाव के कारण ही वैसा करते थे।

ततो बलमतिख्यातं धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
भीमसेनस्य तज्ज्ञात्वा दुष्टभावमदर्शयत् ।।११।।

उधर धृतराष्ट्र का प्रतापी पुत्र दुर्योधन यह जानकर कि भीमसेन में अत्यन्त विख्यात बल है, उनके प्रति दुष्टभाव प्रदर्शित करने लगा।

अयं बलवतां श्रेष्ठः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
मध्यमः पाण्डुपुत्राणां निकृत्या संनिगृह्यताम् ।।१२।।

वह अपने भाइयों के साथ विचार करने लगा कि "यह मध्यम पाण्डुपुत्र कुन्तीनन्दन भीम बलवानों में सबसे बढ़कर है। इसे धोखा देकर बन्दी बना लेना चाहिए।

प्राणवान् विक्रमी चैव शौर्येण महतान्वितः ।
तं तु सुप्तं पुरोद्याने गङ्गायां प्रक्षिपामहे ।।१३।।
अथ तस्मादवरजं श्रेष्ठं चैव युधिष्ठिरम् ।
प्रसह्य बन्धने बद्ध्वा प्रशासिष्ये वसुन्धराम् ।।१४।।

"यह बलवान् और पराक्रमी तो है ही, महान् शौर्य से भी सम्पन्न है, अतः जब यह नगरोद्यान में सो जाए, तब इसे उठाकर हम लोग गङ्गा नदी में फेंक दें। तत्पश्चात् उसके छोटे भाई अर्जुन और बड़े भाई युधिष्ठिर को बलपूर्वक बन्दी बनाकर मैं अकेला ही पृथिवी का शासन करूँगा।"

एवं स निश्चयं कृत्वा पापः दुर्योधनस्तदा ।
नित्यमेवान्तरप्रेक्षी भीमस्यासीन्महात्मनः ।।१५।।

ऐसा निश्चय करके पापी दुर्योधन महात्मा भीम-

सेन का अनिष्ट करने के लिए सदा अवसर ढूँढ़ता रहता था।

ततो जलविहारार्थं कारयामास भारत।
चैलकम्बलवेश्मानि विचित्राणि महान्ति च ॥१६॥

हे जनमेजय! तदनन्तर दुर्योधन ने गङ्गा-तट पर जल-विहार के लिए ऊनी और सूती कपड़ों के विचित्र एवं विशाल गृह तैयार कराये।

भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च चोष्यं लेह्यमथापि च।
उपपादितं नरैस्तत्र कुशलैः सूदकर्मणि ॥१७॥

वहाँ रसोई के काम में कुशल कितने ही मनुष्यों ने जुटकर खाने-पीने के बहुत-से भक्ष्य, भोज्य, पेय, चोष्य और लेह्य पदार्थ तैयार किये।

न्यवेदयंस्तत् पुरुषा धार्तराष्ट्राय वै तदा।
ततो दुर्योधनस्तत्र पाण्डवानाह दुर्मतिः ॥१८॥

तत्पश्चात् राजपुरुषों ने दुर्योधन को सूचना दी कि—'सब तैयारी पूर्ण हो गई है।' तब दुष्ट-बुद्धि दुर्योधन ने पाण्डवों से कहा—

गङ्गां चैवानुयास्याम उद्यानवनशोभिताम्।
सहिता भ्रातरः सर्वे जलक्रीडामवाप्नुमः ॥१९॥

"आज हम लोग भाँति-भाँति के उद्यान[1] और वनों[2] से सुशोभित गङ्गा के तट पर चलें। वहाँ हम सब भाई एक साथ जल-विहार करेंगे।"

एवमस्त्विति तं चापि प्रत्युवाच युधिष्ठिरः।
निर्ययुर्नगराच्छूराः कौरवाः पाण्डवैः सह ॥२०॥

'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर युधिष्ठिर ने दुर्योधन की बात मान ली। फिर वे सभी शूरवीर कौरव पाण्डवों के साथ नगर से बाहर निकले।

तत्रोपविष्टास्ते सर्वे पाण्डवाः कौरवाश्च ह।
उपपन्नान् बहून् कामांस्ते भुञ्जन्ति ततस्ततः ॥२१॥

वहाँ पहुँचकर समस्त कौरव और पाण्डव यथा-योग्य स्थानों पर बैठ गये और स्वतः प्राप्त हुए नाना प्रकार के भोगों को भोगने लगे।

अथोद्यानवरे तस्मिंस्तथा क्रीडागताश्च ते।
परस्परस्य वक्त्रेभ्यो ददुर्भक्ष्यांस्ततस्ततः ॥२२॥
ततो दुर्योधनः पापस्तद्भक्ष्ये कालकूटकम्।
विषं प्रक्षेपयामास भीमसेनजिघांसया ॥२३॥

उस सुन्दर उद्यान में क्रीड़ा के लिए आये हुए कौरव और पाण्डव एक-दूसरे के मुख में खाने की वस्तुएँ डालने लगे। उस समय पापी दुर्योधन ने भीमसेन को मार डालने की इच्छा से उनके भोजन में कालकूट नामक विष मिला दिया।

स्वयमुत्थाय चैवाथ हृदयेन क्षुरोपमः।
स वाचामृतकल्पश्च भ्रातृवच्च सुहृद् यथा ॥२४॥
स्वयं प्रक्षिपते भक्ष्यं बहु भीमस्य पापकृत्।
प्रतीच्छितं स्म भीमेन तं वै दोषमजानता ॥२५॥
ततो दुर्योधनस्तत्र हृदयेन हसन्निव।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यते पुरुषाधमः ॥२६॥

पापात्मा दुर्योधन का हृदय छुरे के समान तीखा था, परन्तु बातें वह ऐसी करता था, मानो उनसे अमृत झर रहा हो। वह सगे भाई और हितैषी सुहृद् की भाँति स्वयं भीमसेन के लिए अनेक प्रकार के भक्ष्य पदार्थ परोसने लगा। भीमसेन भोजन के दोष से अपरिचित थे, अतः दुर्योधन ने जितना परोसा, वह सब-का-सब खा गये। यह देख नीच दुर्योधन मन-ही-मन हँसता हुआ-सा अपने आपको कृतार्थ मानने लगा।

ततस्ते सहिताः सर्वे जलक्रीडामकुर्वत।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च तदा मुदितमानसाः ॥२७॥

भोजन के पश्चात् पाण्डव तथा धृतराष्ट्र के पुत्र सभी प्रसन्नचित्त हो एक साथ जल-क्रीड़ा करने लगे।

दिवसान्ते परिश्रान्ता विहृत्य च कुरूद्वहाः।
विहारावसथेष्वेव वीरा वासमरोचयन् ॥२८॥
खिन्नस्तु बलवान् भीमो व्यायम्याभ्यधिकं तदा।
प्रमाणकोट्यां वासार्थी सुष्वापावाप्य तत्स्थलम् ॥२९

दिन के अन्त में विहार से थके हुए वे समस्त कौरवश्रेष्ठ वीर उन क्रीड़ाभवनों में ही रात बिताने का विचार करने लगे। बलवान् भीम उस समय अधिक परिश्रम करने के कारण बहुत थक गये थे, अतः विश्राम करने की इच्छा से वे प्रमाणकोटि के एक गृह में आये और वहीं एक स्थान में सो गये।

शीतं वातं समासाद्य श्रान्तो मदविमोहितः।
विषेण च परीताङ्गो निश्चेष्टः पाण्डुनन्दनः ॥३०॥

१. उद्यान=फल-प्रधान बाग।

२. वन=पुष्प-प्रधान वाटिका।

पाण्डु-पुत्र भीम थके तो थे ही, विष के मद से भी अचेत हो रहे थे। उनके अङ्ग-अङ्ग में विष का प्रभाव फैल गया था, अतः वहाँ ठण्डी हवा पाकर वे ऐसे सोये कि जड़ के समान निश्चेष्ट प्रतीत होने लगे।

ततो बद्ध्वा लतापाशैर्भीमं दुर्योधनः स्वयम्।
मृतकल्पं तदा वीरं स्थलाज्जलमपातयत्॥३१॥

तब दुर्योधन ने स्वयं वीरवर भीमसेन को लताओं के पाश में कसकर बाँधा। वे मुर्दे के समान हो रहे थे। ऐसी अवस्था में दुर्योधन ने उन्हें गङ्गा के ऊँचे तट से जल में धकेल दिया।

ततस्ते कौरवाः सर्वे विना भीमं च पाण्डवाः।
वृत्तक्रीडाविहारास्तु प्रतस्थुर्गजसाह्वयम्॥३२॥

हे जनमेजय! उधर समस्त कौरव और पाण्डव क्रीड़ा और विहार समाप्त करके भीमसेन के बिना ही हस्तिनापुर की ओर चल पड़े।

रथैर्गजैस्तथा चाश्वैर्यानैश्चान्यैरनेकशः।
ब्रुवन्तो भीमसेनस्तु यातो ह्यग्रत एव नः॥३३॥
ततो दुर्योधनः पापस्तत्रापश्यन् वृकोदरम्।
भ्रातृभिः सहितो हृष्टो नगरं प्रविवेश ह॥३४॥

रथ, हाथी, घोड़े तथा अन्य अनेक प्रकार की सवारियों द्वारा वे वहाँ से चले। भीम को वहाँ न देखकर वे आपस में कह रहे थे कि भीमसेन तो हम लोगों से आगे ही चले गये हैं। पापी दुर्योधन ने भीमसेन को वहाँ न देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो भाइयों के साथ नगर में प्रवेश किया।

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा ह्यविदन् पापमात्मनि।
स्वेनानुमानेन परं साधुं समनुपश्यति॥३५॥

राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा थे, उनके पवित्र हृदय में दुर्योधन के पापपूर्ण विचार का भान तक न हुआ। वे अपने ही अनुमान से दूसरे को भी साधु ही देखते और समझते थे।

सोऽभ्युपेत्य तदा पार्थो मातरं भ्रातृवत्सलः।
अभिवाद्याब्रवीत् कुन्तीमम्ब भीम इहागतः॥३६॥

भाई पर असीम स्नेह रखनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर माता के पास पहुँचकर और उन्हें प्रणाम करके बोले—"माँ! भीमसेन यहाँ आया है क्या?"

क्व गतो भविता मातर्नेह पश्यामि तं शुभे।
उद्यानानि वनं चैव विचितानि समन्ततः॥३७॥
तदर्थं न च तं वीरं दृष्टवन्तो वृकोदरम्।
मन्यमानास्ततः सर्वे यातो न पूर्वमेव सः॥३८॥

"मातः! वह कहाँ गया होगा? शुभे! मैं उसे यहाँ भी नहीं देख रहा हूँ। वहाँ हम लोगों ने भीमसेन के लिए उद्यान और वन का कोना-कोना छान डाला। फिर भी जब हमें वीरवर भीम दिखाई नहीं दिये, तब हमने यही समझा कि वह हम लोगों से पहले चले आये होंगे?

आगताः स्म महाभागे व्याकुलेनान्तरात्मना।
इहागम्य क्व नु गतस्त्वया वा प्रेषितः क्व नु॥३९॥

"महाभागे! हम उसके लिए अत्यन्त व्याकुल हृदय से यहाँ आये हैं। यहाँ आकर वह कहीं चला गया है? अथवा तुमने उसे कहीं भेजा है?

कथयस्व महाबाहुं भीमसेनं यशस्विनि।
न हि मे शुध्यते भावस्तं वीरं प्रति शोभने॥४०॥

"यशस्विनि! महाबाहु भीमसेन का पता बताओ। शोभने! वीर भीमसेन के विषय में मेरा हृदय शंकित हो गया है।"

इत्युक्ता च ततः कुन्ती धर्मराजेन धीमता।
हा-हेति कृत्वा सम्भ्रान्ता प्रत्युवाच युधिष्ठिरम्॥४१

बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर कुन्ती देवी 'हाय-हाय' करके घबरा उठीं और युधिष्ठिर से बोलीं—

न पुत्र भीमं पश्यामि न मामभ्येत्यसाविति।
शीघ्रमन्वेषणे यत्नं कुरु तस्यानुजैः सह॥४२॥

"वत्स! मैंने भीम को नहीं देखा है। वह मेरे पास आया ही नहीं। तुम अपने छोटे भाइयों के साथ शीघ्र उसे ढूँढ़ने का प्रयत्न करो।"

इत्युक्त्वा तनयं ज्येष्ठं हृदयेन विदूयता।
क्षत्तारमानाय्य तदा कुन्ती वचनमब्रवीत्॥४३॥

कुन्ती का हृदय पुत्र की चिन्ता से व्यथित हो रहा था, उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर से उपर्युक्त बात कहकर विदुरजी को बुलवाया और उनसे इस प्रकार कहा—

क्व गतो भगवन् क्षत्तर्भीमसेनो न दृश्यते ।
उद्यानान्निर्गताः सर्वे भीमो नाभ्येति मामिह ॥४४॥

"भगवन् ! भीमसेन कहीं दिखाई नहीं देता, वहाँ से कहाँ चला गया ? उद्यान से सब लोग लौट आये, परन्तु भीम अभी तक लौटकर मेरे पास नहीं आया ।

न च प्रणीयते चक्षुः सदा दुर्योधनस्य सः ।
क्रूरोऽसौ दुर्मतिः क्षुद्रो राज्यलुब्धोऽनपत्रपः ॥४५॥

"वह सदा दुर्योधन की आँखों में खटकता रहता है । दुर्योधन क्रूर, दुर्बुद्धि, क्षुद्र, राज्य का लोभी तथा निर्लज्ज है ।

निहन्यादपि तं वीरं जातमन्युः सुयोधनः ।
तेन मे व्याकुलं चित्तं हृदयं दह्यतीव च ॥४६॥

"अतः सम्भव है, वह क्रोध में वीर भीमसेन को धोखा देकर मार भी डाले । इसी चिन्ता से मेरा चित्त व्याकुल हो उठा है और हृदय दग्ध-सा हो रहा है ।"

विदुर उवाच

मैवं वदस्व कल्याणि शेषसंरक्षणं कुरु ।
प्रत्यादिष्टो हि दुष्टात्मा शेषेऽपि प्रहरेत् तव ॥४७॥

विदुरजी बोले—कल्याणि ! ऐसी बात मुँह से न निकालो । अपने शेष पुत्रों की रक्षा करो । यदि दुर्योधन को उलाहना देकर इस विषय में पूछ-ताछ की जाएगी तो वह दुष्टात्मा तुम्हारे शेष पुत्रों पर भी प्रहार कर सकता है ।

दीर्घायुषस्तव सुता यथोवाच महामुनिः ।
आगमिष्यति ते पुत्रः प्रीतिं चोत्पादयिष्यति ॥४८॥

महामुनि व्यासजी के कथनानुसार तुम्हारे सभी पुत्र दीर्घजीवी हैं, अतः तुम्हारा पुत्र भीमसेन कहीं भी क्यों न गया हो, अवश्य लौटेगा और तुम्हें आनन्द प्रदान करेगा ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ विद्वान् विदुरः स्वं निवेशनम् ।
कुन्ती चिन्तापरा भूत्वा सहासीना सुतैर्गृहे ॥४९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! विद्वान् विदुर ऐसा कहकर अपने घर चले गये । इधर कुन्ती चिन्तामग्न होकर अपने चारों पुत्रों के साथ चुपचाप घर में बैठ रही ।

स निःसङ्गो जलस्यान्तमथ वै पाण्डवोऽविशत् ।
तत्रादश्यत नागैः स महादंष्ट्रैर्विषोल्बणैः ॥५०॥

भीमसेन बेहोशी की अवस्था में जल के भीतर डूबकर धीरे- -धीरे नीचे जा पहुँचे । वहाँ नागों ने अपनी भयंकर विषवाली बड़ी-बड़ी दाढ़ों से भीमसेन को खूब डँसा ।

ततोऽस्य दश्यमानस्य तद् विषं कालकूटकम् ।
हतं सर्पविषेणैव स्थावरं जङ्गमेन तु ॥५१॥

उनके द्वारा डँसे जाने से कालकूट विष का प्रभाव नष्ट हो गया । सर्पों के जंगम विष ने खाये हुए स्थावर विष को हर लिया ।

ततः प्रबुद्धः कौन्तेयः सर्वं संछिद्य बन्धनम् ।
आगजाम महाबाहुर्मातुरन्तिकमञ्जसा ॥५२॥

तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन जाग उठे और अपने सारे बन्धनों को तोड़कर महाबाहु भीमसेन शीघ्र ही अपनी माता के पास आ गये ।

ततोऽभिवाद्य जननीं ज्येष्ठं भ्रातरमेव च ।
कनीयसः समाघ्राय शिरःस्वरिविमर्दनः ॥५३॥

तदनन्तर शत्रुमर्दन भीमसेन ने माता और बड़े भाई को प्रणाम करके छोटे भाइयों का स्नेहपूर्वक सिर सूँघा ।

तैश्चापि सम्परिष्वक्तः सह मात्रा नरर्षभैः ।
अन्योन्यगतसौहार्दाद् दिष्टचा दिष्ट्येति चाब्रुवन् ॥५४॥

माता तथा उन नरश्रेष्ठ भाइयों ने भी उन्हें हृदय से लगाया तथा एक-दूसरे के प्रति स्नेहाधिक्य के कारण सबने भीम के आगमन से अपने सौभाग्य की सराहना करते हुए—"अहोभाग्य ! अहोभाग्य !" ऐसा कहा ।

ततस्तत् सर्वमाचष्ट दुर्योधनविचेष्टितम् ।
भ्रातॄणां भीमसेनश्च महाबलपराक्रमः ॥५५॥

पत्पश्चात् महान् बल और पराक्रम से सम्पन्न भीमसेन ने दुर्योधन की वे सारी कुचेष्टाएँ अपने भाइयों को बतायीं ।

ततो युधिष्ठिरो राजा भीममाह वचोऽर्थवत् ।
तूष्णीं भव न ते जल्प्यमिदं कार्यं कथंचन ॥५६॥

तब राजा युधिष्ठिर ने भीमसेन से यह अर्थयुक्त बात कही —"भैया भीम ! तुम अभी सर्वथा चुप हो

जाओ। तुम्हारे साथ जो कुछ हुआ, उसे कहीं किसी प्रकार भी न कहना।"

एवमुक्त्वा महाबाहुर्धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरप्रमत्तोऽभवत् तदा ॥५७॥

यों कहकर महाबाहु धर्मराज युधिष्ठिर अपने सब भाइयों के साथ उस समय से अति सावधान रहने लगे।

कुमारान् क्रीडमानांस्तान् दृष्ट्वा राजातिदुर्मदान्।
गुरुं शिक्षार्थमन्विष्य गौतमं तान् न्यवेदयत् ॥५८॥

उधर राजा धृतराष्ट्र ने उन कुमारों को खेल-कूद में लगे रहने से अत्यन्त उद्दण्ड होते देख उन्हें शिक्षा देने के लिए गौतमगोत्रीय कृपाचार्य की खोज कराकर तथा उन्हें गुरु बनाकर कुरुकुल के उन सभी कुमारों को उन्हें सौंप दिया।

इति महाभारते आदिपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

द्रोणाचार्य का जीवन-वृत्तान्त, द्रोण की कौरव-पाण्डवों को पढ़ाने के लिए नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

विशेषार्थी ततो भीष्मो भारद्वाजाय धीमते।
पाण्डवान् कौरवांश्चैव ददौ शिष्यान् नरर्षभ ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय! कृपाचार्य के द्वारा पूर्ण शिक्षा मिल जाने पर पितामह भीष्म ने अपने पौत्रों में विशिष्ट योग्यता लाने के लिए वेदवेत्ता तथा बुद्धिमान् द्रोणाचार्य को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके समस्त कौरव और पाण्डवों को शिष्यरूप में उन्हें समर्पित कर दिया।

प्रतिजग्राह तान् सर्वान् शिष्यत्वेन महायशाः।
शिक्षयामास च द्रोणो धनुर्वेदमशेषतः ॥२॥

महायशस्वी आचार्य द्रोण ने भी उन सबको शिष्य-रूप में स्वीकार किया तथा उन्हें सम्पूर्ण धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान की।

तेऽचिरेणैव कालेन सर्वशस्त्रविशारदाः।
बभूव कौरवा राजन् पाण्डवाश्चामितौजसः ॥३॥

राजन्! अमित तेजस्वी पाण्डव और कौरव—सभी थोड़े ही समय में सम्पूर्ण शस्त्र-विद्या में अत्यन्त प्रवीण हो गये।

जनमेजय उवाच

कथं चागात् कुरून् द्रोणः कस्य पुत्रः स वीर्यवान्।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण प्रकीर्तय ॥४॥

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन्! द्रोणाचार्य कुरुदेश में कैसे आये? वे महापराक्रमी द्रोण किसके पुत्र थे? यह सब मैं सुनना चाहता हूँ। आप विस्तारपूर्वक बताइए।

वैशम्पायन उवाच

गङ्गाद्वारं प्रति महान् बभूव भगवानृषिः।
भरद्वाज इति ख्यातो द्रोणस्तस्य सुतोऽभवत्।
अध्यगीष्ट स वेदाँश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गङ्गाद्वार में भगवान् भरद्वाज नाम से प्रसिद्ध एक महर्षि रहते थे। द्रोण उन्हीं के पुत्र थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेद और वेदाङ्गों का अध्ययन किया था।

भरद्वाजसखा चासीत् पृषतो नाम पार्थिवः।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत् सुतः ॥६॥

उन दिनों पृषत नाम से प्रसिद्ध एक नरेश महर्षि भरद्वाज के मित्र थे। उन्हें भी उसी समय एक पुत्र हुआ, जिसका नाम द्रुपद था।

स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्थिवः।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः ॥७॥

वह राजकुमार क्षत्रियों में श्रेष्ठ था। वह प्रति-दिन भरद्वाज मुनि के आश्रम में जाकर द्रोण के साथ खेलता और अध्ययन करता था।

ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
पाञ्चालेषु महाबाहुरुत्तरेषु नरेश्वर ॥८॥

नरेश्वर जनमेजय! पृषत की मृत्यु हो जाने पर महाबाहु द्रुपद उत्तर-पाञ्चाल देश का राजा हुआ।

भरद्वाजोऽपि भगवानारुरोह दिवं तदा।
तत्रैव च वसन् द्रोणः धनुर्वेदपरोऽभवत् ॥९॥

कुछ दिन पश्चात् भगवान् भरद्वाज भी परलोक-वासी हो गये और बुद्धिमान् द्रोण उसी आश्रम में रहकर धनुर्वेद का अभ्यास करने लगे।

स शुश्राव महात्मानं जामदग्न्यं परंतपम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तदा राजन् दित्सन्तं वसु सर्वशः ॥१०॥

राजन्! किसी समय उन्होंने सुना कि 'शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले महात्मा जमदग्निनन्दन परशुराम-जी ब्राह्मणों को अपना सर्वस्व दान करना चाहते हैं।

स रामस्य धनुर्वेदं दिव्यान्यस्त्राणि चैव ह।
श्रुत्वा तेषु मनश्चक्रे नीतिशास्त्रे तथैव च ॥११॥

द्रोण ने यह सुनकर कि परशुरामजी के पास सम्पूर्ण धनुर्वेद तथा दिव्यास्त्रों का ज्ञान है, उन्हें प्राप्त करने की इच्छा और साथ ही उनसे नीति-शास्त्र पढ़ने का भी विचार किया।

ततः स व्रतिभिः शिष्यैस्तपोयुक्तैर्महातपाः।
वृतः प्रायान् महाबाहुर्महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥१२॥

तब ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेवाले तपस्वी शिष्यों से घिरे हुए महातपस्वी महाबाहु द्रोण परम उत्तम महेन्द्र पर्वत पर गये।'

निवेद्य शिरसा भूमौ भारद्वाजोऽब्रवीद् वचः।
अहं धनमनन्तं हि प्रार्थये विपुलव्रत ॥१३॥

पृथिवी पर मस्तक टेक [परशुरामजी के चरणों में प्रणाम कर] भरद्वाजकुमार द्रोण ने परशुरामजी से कहा—"महान् व्रत का पालन करनेवाले महर्षे! मैं आपसे ऐसे धन की याचना करता हूँ, जिसका कभी अन्त न हो।"

राम उवाच

हिरण्यं मम यच्चान्यद्वसु किञ्चिदिह स्थितम्।
ब्राह्मणेभ्यो मया दत्तं सर्वमेतत् तपोधन ॥१४॥

परशुरामजी बोले—हे तपोधन! मेरे पास जो कुछ सुवर्ण तथा अन्य प्रकार का धन था, वह सब मैंने ब्राह्मणों को प्रदान कर दिया।

शरीरमात्रमेवाद्य ममेदमवशेषितम्।
अस्त्राणि च महार्हाणि शस्त्राणि विविधानि च ॥१५

अब तो केवल मेरा यह शरीर ही बचा है, साथ ही नाना प्रकार के बहुमूल्य अस्त्र-शस्त्रों का कोष अवशिष्ट है।

अस्त्राणि वा शरीरं वा वरयैतन्मयोद्यतम्।
वृणीष्व किं प्रयच्छामि तुभ्यं द्रोण वदाशु तत् ॥१६॥

अतः हे द्रोण! तुम अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान या मेरा शरीर माँग लो। इन्हें देने के लिए मैं उद्यत हूँ। शीघ्र बोलो, मैं तुम्हें क्या दूँ?

द्रोण उवाच

अस्त्राणि मे समग्राणि ससंहाराणि भार्गव।
सप्रयोगरहस्यानि दातुमर्हस्यशेषतः ॥१७॥

द्रोण ने कहा—हे भृगुनन्दन! आप मुझे प्रयोग, रहस्य तथा संहार-विधि सहित सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान प्रदान करें।

तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रादादस्त्राणि भार्गवः।
सरहस्यव्रतं चैव धनुर्वेदमशेषतः ॥१८॥

तब 'तथाऽस्तु' कहकर भृगुवंशी परशुरामजी ने द्रोण को सम्पूर्ण अस्त्र प्रदान किये तथा रहस्य और व्रतसहित सम्पूर्ण धनुर्वेद का भी उपदेश किया।

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं कृतास्त्रो द्विजसत्तमः।
प्रियं सखायं सुप्रीतो जगाम द्रुपदं प्रति ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर द्विजश्रेष्ठ द्रोण अस्त्र-विद्या के पूरे पण्डित हो गये। फिर वे अत्यन्त प्रसन्न हो अपने प्रिय सखा राजा द्रुपद के पास गये।

ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान्।
अब्रवीत् पार्थिवं राजन् सखायं विद्धि मामिह ॥२०॥

जनमेजय! प्रतापी द्रोण राजा द्रुपद के यहाँ पहुँचकर उनसे इस प्रकार बोले—"राजन्! तुम्हें ज्ञात होना चहिए कि मैं तुम्हारा मित्र द्रोण तुमसे मिलने के लिए यहाँ आया हूँ।"

इत्येवमुक्तः सुहृदा सक्रोधामर्षलोचनः।
ऐश्वर्यमदसम्पन्नो द्रोणं राजाब्रवीदिदम् ॥२१॥

मित्र द्रोण के ऐसा कहने पर क्रोध और अमर्ष से उसकी आँखें लाल हो गयीं। धन और ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त वह राजा द्रुपद द्रोण से यों बोला—

द्रुपद उवाच

न हि राज्ञामुदीर्णानामेवम्भूतैर्नरैः क्वचित्।
सख्यं भवति मन्दात्मन् श्रियाहीनैर्धनच्युतैः ॥२२॥

द्रुपद बोला—अरे मूढ़ ! बड़े-बड़े राजाओं की तुम्हारे जैसे श्रीहीन और निर्धन मनुष्यों के साथ कभी मित्रता नहीं हो सकती।

न दरिद्रो वसुमतो नाविद्वान् विदुषः सखा।
न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते ॥२३॥

सच्ची बात यह है कि दरिद्र मनुष्य धनवान् का, मूर्ख विद्वान् का और कायर शूरवीर का मित्र नहीं हो सकता, अतः तुम पहले की मित्रता का क्या भरोसा करते हो ?

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम्।□
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥२४॥

जिनका धन समान है, जिनकी विद्या एक-सी है, उन्हीं में विवाह और मैत्री का सम्बन्ध हो सकता है। हृष्ट-पुष्ट और दुर्बल में [धनवान् और निर्धन में] कभी मित्रता नहीं हो सकती।

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ॥२५॥

अश्रोत्रिय श्रोत्रिय [वेदज्ञ] का मित्र नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो रथी नहीं है, वह रथी का, जो राजा नहीं है, वह किसी राजा का मित्र कदापि नहीं हो सकता। फिर तुम पुरानी मित्रता का स्मरण क्यों करते हो ?

वैशम्पायन उवाच

द्रुपदेनैवमुक्तस्तु भारद्वाजः प्रतापवान्।
मुहूर्तं चिन्तयित्वा तु मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥२६॥
स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चालं प्रति बुद्धिमान्।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ॥२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा द्रुपद के यों कहने पर प्रतापी द्रोण क्रोध से जल उठे और दो घड़ी तक गहरी चिन्ता में डूबे रहे। फिर वे बुद्धिमान् पाञ्चाल नरेश से बदला लेने के विषय में मन-ही-मन कुछ निश्चय करके कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर नगर में चले गये।

स नागपुरमागम्य गौतमस्य निवेशने।
भारद्वाजोऽवसत् तत्र प्रच्छन्नं द्विजसत्तमः ॥२८॥

हस्तिनापुर में पहुँचकर द्विजश्रेष्ठ द्रोण गौतम-गोत्रीय कृपाचार्य के घर में गुप्तरूप से निवास करने लगे।

एवं स तत्र गूढात्मा कञ्चित् कालमुवास ह।
कुमारास्त्वथ निष्क्रम्य समेता गजसाह्वयात् ॥२९॥
क्रीडन्तो वीटया तत्र वीराः पर्यचरन् मुदा।
पपात कूपे सा वीटा तेषां वै क्रीडतां तदा ॥३०॥

इस प्रकार द्रोण ने वहाँ अपने आपको छिपाये रखकर कुछ समय तक निवास किया। तदनन्तर एक दिन कौरव-पाण्डव सभी वीर कुमार हस्तिनापुर से बाहर निकलकर बड़ी प्रसन्नता के साथ मिल-जुलकर वहाँ गुल्ली-डंडा खेलने लगे। उस समय खेल में लगे हुए उन कुमारों की वह बीटा [गुल्ली] कुएँ में गिर पड़ी।

ततस्ते यत्नमातिष्ठन् वीटामुद्धर्तुमादृताः।
न च ते प्रत्यपद्यन्त कर्म वीटोपलब्धये ॥३१॥

तब वे उस वीटा (गुल्ली) को निकालने के लिए बड़ी तत्परता के साथ प्रयत्न में लग गये, परन्तु उसे प्राप्त करने का कोई भी उपाय उनके ध्यान में नहीं आया।

तेऽपश्यन् ब्राह्मणं श्याममापन्नं पलितं कृशम्।
कृत्यवन्तमदूरस्थमग्निहोत्रपुरस्कृतम् ॥३२॥

उस समय उन्होंने एक श्याम वर्ण के ब्राह्मण को थोड़ी ही दूर पर बैठे देखा, जो यज्ञ करके किसी प्रयोजन से वहाँ ठहरे हुए थे। वे आपत्तिग्रस्त प्रतीत होते थे। उनके सिर के बाल श्वेत हो गये थे तथा शरीर अत्यन्त दुर्बल था।

ते तं दृष्ट्वा महात्मानमुपगम्य कुमारकाः।
भग्नोत्साहक्रियात्मानो ब्राह्मणं पर्यवारयन् ॥३३॥

उन महात्मा ब्राह्मण को देखकर वे सभी कुमार उनके पास पहुँच, उन्हें घेरकर खड़े हो गये। उनका उत्साह भंग हो गया था, कोई कार्य करने की इच्छा नहीं होती थी तथा मन में भारी निराशा भर गई थी।

अथ द्रोणः कुमारांस्तान्दृष्ट्वा कृत्यवतस्तदा।
प्रहस्य मन्दं पैशल्यादभ्यभाषत वीर्यवान् ॥३४॥

तब पराक्रमी द्रोण यह देखकर कि इन कुमारों का अभीष्ट कार्य पूर्ण नहीं हुआ है—ये उसी प्रयोजन से मेरे पास आये हैं, उस समय मन्द मुस्कराहट के साथ बड़े कौशल से बोले—

अहो वो धिग्बलं क्षात्रं धिगेतां वः कृतास्त्रताम् ।
भरतस्यान्वये जाता ये वीटां नाधिगच्छत ॥३५॥

"अहो ! तुम लोगों के क्षात्रबल को धिक्कार है, तुम्हारी अस्त्र-विद्या विषयक निपुणता को भी धिक्कार है, क्योंकि तुम लोग भरतवंश में उत्पन्न होकर भी कुएँ में गिरी हुई गुल्ली को न निकाल सके ।

वीटां च मुद्रिकां चैव ह्यहमेतदपि द्वयम् ।
उद्धरेयमिषीकाभिर्भोजनं मे प्रदीयताम् ॥३६॥

"देखो ! मैं तुम्हारी गुल्ली और अपनी इस अँगूठी दोनों को सींकों से निकाल सकता हूँ । तुम लोग मेरे भोजन की व्यवस्था करो ।"

एवमुक्त्वा कुमारांस्तान् द्रोणः स्वाङ्गुलिवेष्टनम् ।
कूपे निरुदके तस्मिन्नपातयदरिन्दमः ॥३७

उन कुमारों से ऐसा कहकर शत्रुओं का दमन करनेवाले द्रोण ने उस निर्जल कुएँ में अपनी अँगूठी डाल दी ।

ततोऽब्रवीत् तदा द्रोणः प्रहस्य भरतानिदम् ।
एषा मुष्टिरिषीकाणां मयास्त्रेणाभिमन्त्रिता ॥३८॥

उस मुद्रिका को कुएँ में डालकर द्रोण ने हँसकर उन भरतवंशी राजकुमारों से कहा—"ये मुट्ठी-भर सींकें हैं, जिन्हें मैंने अस्त्र-मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित किया है ।

अस्या वीर्यं निरीक्षध्वं यदन्यस्य न विद्यते ।
भेत्स्यामीषीकया वीटां तामिषीकां तथान्यया ॥३९॥

"तुम लोग इसका बल देखो, जो दूसरे में नहीं है । मैं पहले एक सींक से उस गुल्ली को बींध दूंगा, फिर दूसरी सींक से उस पहली सींक को बींधूंगा ।

न्यया समायोगे वीटाया ग्रहणं मम ।
ततो यथोक्तं द्रोणेन तत् सर्वं कृतमञ्जसा ॥४०॥

"इसी प्रकार दूसरी सींक को तीसरी से बींधते हुए अनेक सींकों का संयोग होने पर मुझे गुल्ली मिल जाएगी ।" तत्पश्चात् द्रोण ने जैसा कहा था, वह सब-कुछ अनायास ही कर दिखाया ।

तदवेक्ष्य कुमारास्ते विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
आश्चर्यमिदमत्यन्तमिति मत्वा वचोऽब्रुवन् ।
मुद्रिकामपि विप्रर्षे शीघ्रमेतां समुद्धर ॥४१॥

यह अद्भुत कार्य देखकर उन कुमारों के नेत्र आश्चर्य से खिल उठे । इसे अत्यन्त आश्चर्य मानकर वे इस प्रकार बोले—"ब्रह्मर्षे ! अब आप शीघ्र ही इस अँगूठी को भी निकाल दीजिए ।"

ततः शरं समादाय धनुर्द्रोणो महायशाः ।
शरेण विद्ध्वा मुद्रां तामूर्ध्वमावाहयत् प्रभुः ॥४२॥
सशरं समुपादाय कूपादङ्गुलिवेष्टनम् ।
ददौ ततः कुमाराणां विस्मितानामविस्मितः ॥४३॥

तब महायशस्वी द्रोण ने धनुष-बाण लेकर बाण से उस अँगूठी को बींध दिया और उसे ऊपर निकाल लिया । शक्तिशाली द्रोण ने इस प्रकार कुएँ से बाण सहित वह अँगूठी निकालकर उन आश्चर्यचकित कुमारों के हाथ में दे दी, परन्तु वे स्वयं तनिक भी विस्मित नहीं थे ।

कुमारा ऊचुः

अभिवादयामहे ब्रह्मन् नैतदन्येषु विद्यते ।
कोऽसि कस्यासि जानीमो वयं किं करवामहे ॥४४॥

कुमार बोले—हे ब्रह्मन् ! हम सब आपको प्रणाम करते हैं । यह अद्भुत अस्त्र-कौशल आपके सिवा और किसी में नहीं है । आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं, यह हम जानना चाहते हैं । बताइए, हम लोग आपकी क्या सेवा करें ?

द्रोण उवाच

आचक्षध्वं च भीष्माय रूपेण च गुणैश्च माम् ।
स एव सुमहातेजाः साम्प्रतं प्रतिपत्स्यते ॥४५॥

द्रोण बोले—तुम सब लोग भीष्मजी के पास जाकर मेरे रूप और गुणों का परिचय दो । वे महातेजस्वी भीष्मजी ही मुझे इस समय पहचान सकते हैं ।

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा च गत्वा च भीष्ममूचुः कुमारकाः ।
भीष्मः श्रुत्वा कुमाराणां द्रोणं तं प्रत्यजानत ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—वे कुमार 'बहुत अच्छा' कहकर भीष्मजी के पास गये और उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया । कुमारों की बातें सुनकर भीष्मजी समझ गये कि वे आचार्य द्रोण हैं ।

युक्तरूपः स हि गुरुरित्येवमनुचिन्त्य च ।
अथैनमानीय तदा स्वयमेव सुसत्कृतम् ॥४७॥

परिपप्रच्छ निपुणं भीष्मः शस्त्रभृतां वरः।
हेतुमागमने तच्च द्रोणः सर्वं न्यवेदयत् ॥४८॥

फिर यह सोचकर कि द्रोणाचार्य ही इन कुमारों के उपयुक्त गुरु हो सकते हैं, भीष्मजी स्वयं ही आकर उन्हें सत्कारपूर्वक घर ले गये। वहाँ शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ भीष्म ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ द्रोणाचार्य से उनके आगमन का कारण पूछा और द्रोण ने सब-कुछ बतला दिया।

भीष्म उवाच

अपज्यं क्रियतां चापं साध्वस्त्रं प्रतिपादय।
भुङ्क्ष्व भोगान् भृशं प्रीतः पूज्यमानः कुरुक्षये ॥४९॥

भीष्मजी बोले—हे विप्रवर! अब आप अपने धनुष की डोरी उतार दीजिए तथा यहाँ रहकर राजकुमारों को धनुर्वेद एवं अस्त्र-शस्त्रों की अच्छी शिक्षा दीजिए। कौरवों के घर में सदा सम्मानित रहकर अत्यन्त प्रसन्नता के साथ मनोवाञ्छित भोगों का उपभोग कीजिए।

कुरूणामस्ति यद्वित्तं राज्यं चेदं सराष्ट्रकम्।
त्वमेव परमो राजा सर्वे च कुरवस्तव ॥५०॥

कौरवों के पास जो धन, राज्य-वैभव तथा राष्ट्र है, उसके आप ही सबसे बड़े राजा हैं। समस्त कौरव आपके अधीन हैं।

इति महाभारते आदिपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

द्रोणाचार्य द्वारा राजकुमारों की शिक्षा और परीक्षा

वैशम्पायन उवाच

ततः सम्पूजितो द्रोणो भीष्मेण द्विपदां वरः।
विशश्राम महातेजाः पूजितः कुरुवेश्मनि ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब मनुष्यों में श्रेष्ठ महातेजस्वी द्रोणाचार्य ने भीष्मजी के द्वारा सम्मानित हो कौरवों के महलों में निवास किया। वहाँ उनका बहुत आदर-सम्मान किया गया।

विश्रान्तेऽथ गुरौ तस्मिन्पौत्रानादाय कौरवान्।
शिष्यत्वेन ददौ भीष्मो वसूनि विविधानि च ॥२॥
गृहं च सुपरिच्छन्नं धनधान्यसमाकुलम्।
भारद्वाजाय सुप्रीतः प्रत्यपादयत प्रभुः ॥३॥

गुरु द्रोणाचार्य जब विश्राम कर चुके तब सामर्थ्यशाली भीष्मजी ने अपने कुरु-वंशी पौत्रों को लाकर उन्हें शिष्यरूप में समर्पित किया। साथ ही अत्यन्त प्रसन्न होकर भरद्वाजनन्दन द्रोण को नाना प्रकार के धन-रत्न तथा सुन्दर सामग्रियों से सुसज्जित एवं धन-धान्य से सम्पन्न भवन प्रदान किया।

स तान् शिष्यान् महेष्वासः प्रतिजग्राह कौरवान्।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च द्रोणो मुदितमानसः ॥४॥

महाधनुर्धर आचार्य द्रोण ने प्रसन्नचित्त होकर उन धृतराष्ट्र के पुत्रों तथा पाण्डवों को शिष्य रूप में ग्रहण किया।

प्रतिगृह्य च तान् सर्वान् द्रोणो वचनमब्रवीत्।
रहस्येकः प्रतीतात्मा कृतोपसदनांस्तथा ॥५॥

उन सबको शिष्यरूप में ग्रहण कर लेने पर एक दिन एकान्त में जब द्रोणाचार्य पूर्ण विश्वासयुक्त मन से अकेले बैठे थे, तब उन्होंने अपने पास बैठे हुए सब शिष्यों से यह बात कही—

द्रोण उवाच

कार्यं मे कांक्षितं किंचिद्धृदि सम्परिवर्तते।
कृतास्त्रैस्तत् प्रदेयं मे तदेतद् वदतानघाः ॥६॥

द्रोणाचार्य ने कहा—निष्पाप राजकुमारो! मेरे मन में एक कार्य करने की इच्छा है। अस्त्र-विद्या प्राप्त कर लेने के पश्चात् तुम लोगों को मेरी वह इच्छा पूर्ण करनी होगी। इस विषय में तुम्हारे क्या विचार हैं, बताओ।

वैशम्पायन उवाच

तत् श्रुत्वा कौरवेयास्ते तूष्णीमासन् विशाम्पते।
अर्जुनस्तु ततः सर्वं प्रतिजज्ञे परंतप ॥७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुसंतापक जनमेजय! आचार्य की वह बात सुनकर सब कौरव चुप रह गये,

परन्तु अर्जुन ने वह सब कार्य पूर्ण करने की प्रतिज्ञा कर ली।

ततोऽर्जुनं तदा मूर्ध्नि समाघ्राय पुनः पुनः।
प्रीतिपूर्वं परिष्वज्य प्ररुरोद मुदा तदा ॥८॥

तब आचार्य ने बारम्बार अर्जुन का मस्तक सूँघा तथा उन्हें प्रेमपूर्वक हृदय से लगाकर वे हर्ष के आवेश में रो पड़े।

ततो द्रोणः पाण्डुपुत्रानस्त्राणि विविधानि च।
ग्राहयामास दिव्यानि मानुषाणि च वीर्यवान् ॥९॥

तत्पश्चात् पराक्रमी द्रोणाचार्य पाण्डवों [तथा अन्य शिष्यों] को और भी अधिक उत्साह से नाना प्रकार के दिव्य एवं मानवीय अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा देने लगे।[1]

राजपुत्रास्तथा चान्ये समेत्य भरतर्षभ।
अभिजग्मुस्ततो द्रोणमस्त्रार्थे द्विजसत्तमम् ॥१०॥

हे भरतश्रेष्ठ! उस समय दूसरे-दूसरे राजकुमार भी अस्त्र-विद्या की शिक्षा लेने के लिए द्विजश्रेष्ठ द्रोण के पास आने लगे।

वृष्णयश्चान्धकाश्चैव नानादेश्याश्च पार्थिवाः।
सूतपुत्रश्च राधेयो गुरुं द्रोणमियात् तदा ॥११॥

वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी क्षत्रिय, नानादेशीय राजकुमार तथा राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण[2]—ये सभी आचार्य द्रोण के पास [अस्त्रविद्या प्राप्ति के लिए] आये।

अस्त्रविद्यानुरागात् स लाघवे सौष्ठवेषु च।
सर्वेषामेव शिष्याणां बभूवाभ्याधिकोऽर्जुनः ॥१२॥

अस्त्र-विद्या में अत्यन्त अनुराग होने के कारण अर्जुन फुर्ती और सफाई में सभी शिष्यों से बढ़-चढ़ कर निकले।

ऐन्द्रिमप्रतिमं द्रोण उपदेशेष्वमन्यत।
एवं सर्वकुमाराणामिष्वस्त्रं प्रत्यपादयत् ॥१३॥

आचार्य द्रोण उपदेश ग्रहण करने में अर्जुन को अनुपम प्रतिभाशाली मानते थे। इस प्रकार आचार्य सब कुमारों को अस्त्रविद्या की शिक्षा देते रहे।

कमण्डलुं च सर्वेषां प्रायच्छच्चिरकारणात्।
पुत्राय च ददौ कुम्भमविलम्बनकारणात् ॥१४॥
यावत् ते नोपगच्छन्ति तावदस्मै परां क्रियाम्।
द्रोण आचष्ट पुत्राय तत् कर्म जिष्णुरौहत ॥१५॥

वे अन्य सब शिष्यों को तो पानी लाने के कमण्डलु देते, जिससे उन्हें लौटने में कुछ विलम्ब हो जाए

---

१. लोक में ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन आचार्य द्रोण ने **'सत्यं वद, क्रोधं मा कुरु'** (सत्य बोलो, क्रोध मत करो) ऐसा उपदेश किया। अगले दिन युधिष्ठिर को छोड़कर सभी कौरव-पाण्डवों ने पाठ सुना दिया। युधिष्ठिर कई दिन तक कहते रहे कि मुझे पाठ याद नहीं हुआ। तब गुरुजी ने उनकी पिटाई कर दी। मार खाकर वे बोले—"अब मुझे पाठ याद हो गया" इत्यादि। यह सारी कहानी महाभारत में कहीं भी नहीं है।

२. इस वर्णन से, जैसा यहाँ दिया गया है, यह स्पष्ट है कि शूद्र-कुलोत्पन्न बालक भी द्रोणाचार्य से शिक्षा ग्रहण करने के लिए उनके पास आये और आचार्य ने उन्हें शिष्यरूप में स्वीकार किया, तब एकलव्य को निषाद-कुलोत्पन्न जानकर उसे शिक्षा न देने की बात असत्य हो गई। यदि यह कहा जाए कि कर्ण सूतपुत्र नहीं था [हम भी इससे सहमत हैं] वह सूत द्वारा केवल पालित हुआ था तो हम कहेंगे कि एकलव्य भी निषाद नहीं था वह निषादों द्वारा पालित था। ब्रह्मपुराण [१४।२८] में कहा है—**निषादैः परिवर्द्धितः**। पुराणों के अवलोकन से यह सिद्ध होता है कि जिस यदुवंश में श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था, उसी वंश में एकलव्य भी जन्मा था। वृष्णिवंशीय शूर के दश पुत्र और पांच कन्याएँ थी। वसुदेव नामक उनके पुत्र से जैसे वासुदेव (कृष्ण) पैदा हुए वैसे ही देवश्रवा से शत्रुघ्न [एकलव्य] उत्पन्न हुआ। इस प्रकार वह कृष्ण का चचेरा भाई था। अर्जुन की माता शूर की कन्या थी और देवश्रवा उसका भाई था, अतः एकलव्य अर्जुन की बुआ का पुत्र हुआ। [द्रष्टव्य ब्रह्मपुराण १४।१४-२८] हमारा ऐसा दृढ़ विश्वास और निश्चित मत है कि एकलव्य का सारा आख्यान ब्राह्मणों को बदनाम करने, उनकी अमानुषिक क्रूरता दिखाने के लिए महाभारत में प्रक्षिप्त किया गया है। यह भी सम्भव है कि मूर्तिपूजकों ने इस कथानक का प्रक्षेप किया हो। कोई गुरु अपने शिष्य को न तो कोई हानि पहुँचा सकता है और न ही उसका अँगूठा कटवा सकता है।

परन्तु अपने पुत्र अश्वत्थामा को बड़े मुंह का घड़ा देते, जिससे वह शीघ्र लौट आये। जबतक दूसरे शिष्य लौटकर आते, तबतक द्रोणाचार्य अपने पुत्र को अस्त्र-संचालन की कोई उत्तम विधि बता देते। अर्जुन ने उनके इस रहस्य को जान लिया।

ततः स वारुणास्त्रेण पूरयित्वा कमण्डलुम्।
सममाचार्यपुत्रेण गुरुमभ्येति फाल्गुनः ॥१६॥
आचार्यपुत्रात् तस्मात् तु विशेषोपचयेऽपृथक्।
न व्यहीयत मेधावी पार्थोऽप्यस्त्रविदां वरः ॥१७॥
अर्जुनः परमं यत्नमातिष्ठद् गुरुपूजने।
अस्त्रे च परमं योगं प्रियो द्रोणस्य चाभवत् ॥१८॥

तब वे वारुणास्त्र से तुरन्त ही अपना कमण्डलु भरकर आचार्य-पुत्र के साथ ही गुरु के समीप आ जाते थे, अतः वे आचार्य-पुत्र से किसी भी गुण की वृद्धि में अलग या पीछे नहीं रहे। यही कारण था कि मेधावी अर्जुन अश्वत्थामा से किसी बात में कम न रहे। वे अस्त्रवेत्ताओं में सबसे श्रेष्ठ थे। अर्जुन अपने गुरु की सेवा-शुश्रूषा के लिए भी प्रभूत प्रयत्न करते थे। अस्त्रों के अभ्यास में भी उनकी अच्छी लगन थी, अतः वे द्रोणाचार्य के अत्यन्त प्रिय हो गये।

तं दृष्ट्वा नित्यमुद्युक्तमिष्वस्त्रं प्रतिफाल्गुनम्।
आहूय वचनं द्रोणो रहः सूदमभाषत ॥१९॥
अन्धकारेऽर्जुनायान्नं न देयं ते कदाचन।
न चाख्येयमिदं चापि मद्वाक्यं विजये त्वया ॥२०॥

अर्जुन को धनुष-बाण के अभ्यास में निरन्तर लगा हुआ देखकर एक दिन द्रोणाचार्य ने रसोइये को एकान्त में बुलाकर कहा—"तुम अर्जुन को कभी अँधेरे में भोजन न परोसना और मेरी यह बात भी अर्जुन से कभी न कहना।"

ततः कदाचिद् भुञ्जाने प्रववौ वायुरर्जुने।
तेन तत्र प्रदीपः स दीप्यमानो विलोपितः ॥२१॥

तत्पश्चात् एक दिन जब अर्जुन भोजन कर रहे थे, उस समय अति वेग से हवा चलने लगी, जिससे वहाँ प्रज्वलित दीपक बुझ गया।

भुङ्क्त एव तु कौन्तेयो नास्यादन्यत्र वर्तते।
हस्तस्तेजस्विनस्तस्य अनुग्रहणकारणात ॥२२॥

उस समय भी कुन्तीनन्दन भोजन करते ही रहे। उन तेजस्वी अर्जुन का हाथ अभ्यासवश उस अँधेरे में भी मुंह से अन्यत्र कहीं नहीं जाता था।

तदभ्यासकृतं मत्वा रात्रावपि स पाण्डवः।
योग्यां चक्रे महाबाहुर्धनुषा पाण्डुनन्दनः ॥२३॥

उसे अभ्यास का ही चमत्कार मानकर महाबाहु पाण्डुनन्दन अर्जुन रात्रि में भी धनुर्विद्या का अभ्यास करने लगे।

तस्य ज्यातलनिर्घोषं द्रोणः शुश्राव भारत।
उपेत्य चैनमुत्थाय परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥२४॥

भरतकुलभूषण! उनके धनुष की प्रत्यञ्चा की टंकार द्रोणाचार्य ने सोते समय सुनी। तब वे उठकर उनके पास गये और उन्हें हृदय से लगाकर बोले—

द्रोण उवाच

प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः।
त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥२५॥

द्रोणाचार्य बोले—अर्जुन! मैं ऐसा करने का प्रयत्न करूँगा, जिससे इस संसार में दूसरा कोई धनुर्धर तुम्हारे समान न हो। यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणोऽर्जुनं भूयो हयेषु च गजेषु च।
भूमावपि रथेषु च रणशिक्षामशिक्षयत् ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! तदनन्तर द्रोणाचार्य अर्जुन को पुनः घोड़ों, हाथियों, रथों तथा भूमि पर रहकर युद्ध करने की शिक्षा देने लगे।

गदायुद्धेऽसिचर्यायां तोमरप्रासशक्तिषु।
द्रोणः संकीर्णयुद्धे च शिक्षयामास कौरवान् ॥२७॥

उन्होंने कौरवों को गदायुद्ध, खड्ग चलाने तथा तोमर, प्रास और शक्तियों के प्रयोग की कला और एक ही साथ अनेक शस्त्रों का प्रयोग अथवा अकेले ही अनेक शत्रुओं से युद्ध करने की शिक्षा प्रदान की।

द्रोणस्य तु तदा शिष्यौ गदायोग्यौ बभूवतुः।
दुर्योधनश्च भीमश्च सदा संरब्धमानसौ ॥२८॥

उस समय द्रोणाचार्य के दो शिष्य—दुर्योधन और भीम—गदायुद्ध में सुयोग्य निकले। वे दोनों सदा एक-दूसरे के प्रति मन में क्रोध (स्पर्धा) से भरे रहते थे।

अश्वत्थामा रहस्येषु सर्वेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
तथाति पुरुषानन्यान्त्सारुकौ यमजावुभौ ॥२९॥

अश्वत्थामा धनुर्वेद के रहस्यों की जानकारी में सबसे बढ़-चढ़कर हुआ। नकुल और सहदेव दोनों भाई तलवार की मूठ पकड़कर युद्ध करने में अत्यन्त कुशल हुए। वे इस कला में अन्य सब मनुष्यों से बढ़े-चढ़े थे।

युधिष्ठिरो रथश्रेष्ठः सर्वत्र तु धनञ्जयः ।
प्रथितः सागरान्तायां रथयूथपयूथपः ॥३०॥

युधिष्ठिर रथ पर बैठकर युद्ध करने में श्रेष्ठ थे, परन्तु अर्जुन सभी प्रकार की युद्ध-कलाओं में सबसे बढ़कर थे। वे समुद्रपर्यन्त सारी पृथिवी में रथयूथ-पतियों के भी यूथपति के रूप में प्रसिद्ध थे।

बुद्धियोगबलोत्साहैः सर्वास्त्रेषु च निष्ठितः ।
अस्त्रे गुर्वनुरागे च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ॥३१॥

बुद्धि [मन] की एकाग्रता, बल और उत्साह के कारण वे (अर्जुन) सम्पूर्ण अस्त्रविद्या में प्रवीण हुए। अस्त्रों के अभ्यास तथा गुरु के प्रति अनुराग में भी अर्जुन का स्थान सबसे ऊँचा था।

ताँस्तु सर्वान् समानीय सर्वविद्यास्त्रशिक्षितान् ।
द्रोणः प्रहरणज्ञाने जिज्ञासुः पुरुषर्षभः ॥३२॥

जब सभी कुमार सम्पूर्ण धनुर्विद्या तथा अस्त्र-संचालन की कला में सुशिक्षित हो गये, तब नरश्रेष्ठ द्रोण ने उन सबको एकत्र करके उनके अस्त्रज्ञान की परीक्षा लेने का विचार किया।

कृत्रिमं भासमारोप्य वृक्षाग्रे शिल्पिभिः कृतम् ।
अविज्ञातं कुमाराणां लक्ष्यभूतमुपादिशत् ॥३३॥

उन्होंने कारीगरों से एक नकली गीध बनवाकर वृक्ष के अग्र भाग पर रखवा दिया। राजकुमारों को इसका पता नहीं था। आचार्य ने उसी गीध को बींधने के योग्य लक्ष्य बताया।

द्रोण उवाच

शीघ्रं भवन्तः सर्वेऽपि धनूंष्यादाय सर्वशः ।
भासमेतं समुद्दिश्य तिष्ठन्तां संधितेषवः ॥३४॥

द्रोण बोले—तुम सब लोग इस गीध को बींधने के लिए शीघ्र ही धनुष लेकर तथा उसपर बाण चढ़ाकर तैयार हो जाओ!

मद्वाक्यसमकालं तु शिरोऽस्य विनिपात्यताम् ।
एकैकशो नियोक्ष्यामि तथा कुरुत पुत्रकाः ॥३५॥

फिर मेरी आज्ञा मिलने के साथ ही इसका सिर काट गिराओ। पुत्रो! मैं एक-एक को क्रमशः इस कार्य में नियुक्त करूँगा, तुम लोग मेरे बताये अनुसार कार्य करो।

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरं पूर्वमुवाचाङ्गिरसां वरः ।
संधत्स्व बाणं दुर्धर्ष मद्वाक्यान्ते विमुञ्च तम् ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तत्पश्चात् अङ्गिरागोत्रवाले ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ आचार्य द्रोण ने सबसे पहले युधिष्ठिर से कहा—"दुर्धर्ष वीर! तुम धनुष पर बाण चढ़ाओ और मेरी आज्ञा मिलते ही छोड़ दो।"

ततो युधिष्ठिरः पूर्वं धनुर्गृह्य परंतपः ।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ॥३७॥

तब शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले युधिष्ठिर गुरु की आज्ञा से प्रेरित हो सबसे पूर्व धनुष लेकर गीध को बींधने के लिए लक्ष्य बनाकर खड़े हो गये।

ततो विततधन्वानं द्रोणस्तं कुरुनन्दनम् ।
स मुहूर्तादुवाचेदं वचनं भरतर्षभ ॥३८॥

भरतश्रेष्ठ! तब धनुष तानकर खड़े हुए कुरुनन्दन युधिष्ठिर से थोड़ी देर पश्चात् आचार्य द्रोण ने इस प्रकार कहा—

पश्यैनं तं द्रुमाग्रस्थं भासं नृपवरात्मज ।
पश्यामीत्येवमाचार्यं प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥३९॥

"राजकुमार! तुम वृक्ष की शिखा पर बैठे हुए इस गीध को देखो?" तब युधिष्ठिर ने आचार्य को उत्तर दिया—"भगवन्! मैं देख रहा हूँ।"

स मुहूर्तादिव पुनर्द्रोणस्तं प्रत्यभाषत ।
अथ वृक्षमिमं मां वा भ्रातॄन् वापि प्रपश्यसि ॥४०॥

थोड़ा समय व्यतीत होने पर द्रोणाचार्य फिर उनसे बोले—"क्या तुम इस वृक्ष को, मुझे अथवा अपने भाइयों को भी देखते हो?"

तमुवाच स कौन्तेयः पश्याम्येनं वनस्पतिम् ।
भवन्तं च तथा भ्रातॄन् भासं चेति पुनः पुनः ॥४१॥

यह सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उनसे इस

प्रकार बोले—"हाँ, मैं इस वृक्ष को, आपको, अपने भाइयों को तथा गीध को भी बारम्बार देख रहा हूँ।"

तमुवाचापसर्पेति द्रोणोऽप्रीतमना इव।
नैतच्छक्यं त्वया वेद्धुं लक्ष्यमित्येव कुत्सयन् ॥४२॥

उनका उत्तर सुनकर द्रोणाचार्य मन-ही-मन कुछ अप्रसन्न-से हो गये और उन्हें झिड़कते हुए बोले—"हटो यहाँ से, तुम इस लक्ष्य को नहीं बींध सकते।"

ततो दुर्योधनादींस्तान् धार्तराष्ट्रान् महायशाः।
तेनैव क्रमयोगेन जिज्ञासुः पर्यपृच्छत ॥४३॥

तत्पश्चात् महायशस्वी आचार्य ने उसी क्रम से दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र-पुत्रों को भी उनकी परीक्षा लेने के लिए बुलाया तथा उन सबसे भी उपर्युक्त बातें पूछीं।

अन्यांश्च शिष्यान्भीमादीन् राज्ञश्चैवान्यदेशजान्।
तथा च सर्वे तत् सर्वं पश्याम इति कुत्सिताः ॥४४॥

फिर उन्होंने भीम आदि अन्य शिष्यों तथा अन्य देश के राजाओं से भी, जो वहाँ शिक्षा पा रहे थे, वैसा ही प्रश्न किया। प्रश्न के उत्तर में सभी ने [युधिष्ठिर की भाँति ही] कहा—"हम सब-कुछ देख रहे हैं।" यह सुनकर आचार्य ने उन सबको झिड़ककर हटा दिया।

ततो धनंजयं द्रोणः स्मयमानोऽभ्यभाषत।
त्वयेदानीं प्रहर्तव्यमेतल्लक्ष्यं विलोक्यताम् ॥४५॥

तत्पश्चात् द्रोणाचार्य ने अर्जुन से मुस्कराते हुए कहा—"अब तुम्हें इस लक्ष्य का वेध करना है, इसे अच्छी प्रकार देख लो।

मद्वाक्यसमकालं ते मोक्तव्योऽत्र भवेच्छरः।
वितत्य कार्मुकं पुत्र तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥४६॥

मेरी आज्ञा मिलते ही तुम्हें इसपर बाण छोड़ना होगा। वत्स! धनुष तानकर खड़े हो जाओ और थोड़ी देर मेरे आदेश की प्रतीक्षा करो।"

एवमुक्तः सव्यसाची मण्डलीकृतकार्मुकः।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ॥४७॥

उनके ऐसा कहने पर अर्जुन ने अपने धनुष को इस प्रकार खींचा कि वह मण्डलाकार [गोल] प्रतीत होने लगा। तत्पश्चात् वे गुरु की आज्ञा से प्रेरित हो गीध को लक्ष्य करके खड़े हो गये।

मुहूर्तादिव तं द्रोणस्तथैव समभाषत।
पश्यस्येनं स्थितं भासं द्रुमं मामपि चार्जुनः ॥४८॥

थोड़ी देर पश्चात् द्रोणाचार्य ने उनसे भी उसी प्रकार प्रश्न किया—"अर्जुन! क्या तुम उस वृक्ष पर बैठे हुए गीध को, वृक्ष को और मुझे भी देखते हो?"

पश्याम्येकं भासमिति द्रोणं पार्थोऽभ्यभाषत।
न तु वृक्षं भवन्तं वा पश्यामीति च भारत ॥४९॥

जनमेजय! यह प्रश्न सुनकर अर्जुन ने द्रोणाचार्य से कहा—"मैं केवल गीध को देखता हूँ, वृक्ष को अथवा आपको नहीं देखता।"

ततः प्रीतमना द्रोणो मुहूर्तादिव तं पुनः।
प्रत्यभाषत दुर्धर्षः पाण्डवानां महारथम् ॥५०॥

इस उत्तर से द्रोणाचार्य का मन प्रसन्न हो गया। थोड़ी देर पश्चात् दुर्धर्ष द्रोणाचार्य ने पाण्डव महारथी अर्जुन से फिर पूछा—

भासं पश्यसि यद्येनं तथा ब्रूहि पुनर्वचः।
शिरः पश्यामि भासस्य न गात्रमिति सोऽब्रवीत् ॥५१

"वत्स! यदि तुम इस गीध को देखते हो तो बताओ, इसके अङ्ग कैसे हैं?" अर्जुन बोले—"मैं केवल गीध का मस्तक देख रहा हूँ, उसके सम्पूर्ण शरीर को नहीं।"

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु द्रोणो हृष्टतनूरुहः।
मुञ्चस्वेत्यब्रवीत् पार्थं स मुमोचाविचारयन् ॥५२॥

अर्जुन के ऐसा कहने पर हर्षातिरेक से द्रोणाचार्य के शरीर में रोमांच हो आया और वे अर्जुन से बोले—"चलाओ बाण!" अर्जुन ने भी बिना सोचे-विचारे बाण छोड़ दिया।

ततस्तस्य नगस्थस्य क्षुरेण निशितेन च।
शिर उत्कृत्य तरसा पातयामास पाण्डवः ॥५३॥

फिर तो पाण्डुनन्दन अर्जुन ने अपने चलाये हुए तीखे क्षुर नामक बाण से वृक्ष पर बैठे हुए उस गीध का मस्तक वेगपूर्वक काट गिराया।

तस्मिन् कर्मणि संसिद्धे पर्यष्वजत पाण्डवम्।
मेने च द्रुपदं संख्ये सानुबन्धं पराजितम् ॥५४॥

इस कार्य में सफल होने पर आचार्य ने अर्जुन को हृदय से लगा लिया तथा उन्हें यह विश्वास हो

गया कि राजा द्रुपद युद्ध में अर्जुन द्वारा अपने बन्धु-बान्धवों सहित अवश्य पराजित हो जाएँगे।

कस्यचित् त्वथ कालस्य स शिष्योऽङ्गिरसां वरः।
जगाम गङ्गामभितो मज्जितुं भरतर्षभ ॥५५॥

भरतकुलभूषण ! तत्पश्चात् किसी समय अङ्गिरसवंशियों में श्रेष्ठ आचार्य द्रोण अपने शिष्यों के साथ गङ्गा में स्नान करने के लिए गये।

अवगाढमथो द्रोणं सलिले सलिलेचरः।
ग्राहो जग्राह बलवाञ्जङ्घान्ते कालप्रेरितः ॥५६॥

वहाँ जल में डुबकी लगाते समय काल से प्रेरित हो एक बलवान् जलजन्तु ग्राह ने द्रोणाचार्य की पिंडली पकड़ ली।

स समर्थोऽपि मोक्षाय शिष्यान् सर्वानचोदयत्।
ग्राहं हत्वा मोक्षयध्वं मामिति त्वरयन्निव ॥५७॥

वे अपने को छुड़ाने में समर्थ होते हुए भी मानो हड़बड़ाये हुए अपने सभी शिष्यों से बोले—"इस ग्राह को मारकर मुझे बचाओ !"

तद्वाक्यसमकालं तु बीभत्सुर्निशितैः शरैः।
अवार्यैः पञ्चभिर्ग्राहं मग्नमम्भस्यताडयत् ॥५८॥

उनके इस आदेश के साथ ही बीभत्सु [अर्जुन] ने पाँच अमोघ एवं तीखे बाणों द्वारा पानी में डूबे हुए उस ग्राह पर प्रहार किया।

इतरे त्वथ सम्मूढास्तत्र तत्र प्रपेदिरे।
तं तु दृष्ट्वा क्रियोपेतं द्रोणोऽमन्यत पाण्डवम् ॥५९॥
विशिष्टं सर्वशिष्येभ्यः प्रीतिमाँश्चाभवत् तदा।
स पार्थबाणैर्बहुधा खण्डशः परिकल्पितः ॥६०॥
ग्राहः पञ्चत्वमापेदे जङ्घां त्यक्त्वा महात्मनः।
अथाब्रवीन्महात्मानं भारद्वाजो महारथम् ॥६१॥

दूसरे राजकुमार किंकर्तव्य-विमूढ से होकर अपने-अपने स्थान पर ही खड़े रह गये। अर्जुन को तत्काल कार्य में तत्पर देख द्रोणाचार्य ने उन्हें अपने सब शिष्यों से बढ़कर माना और उस समय वे उनपर बहुत प्रसन्न हुए। अर्जुन के बाणों से ग्राह के टुकड़े-टुकड़े हो गये और वह महात्मा द्रोण की पिंडली छोड़कर मर गया। तब द्रोणाचार्य ने महारथी महात्मा अर्जुन से कहा—

गृहाणेदं महाबाहो विशिष्टमतिदुर्धरम्।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम सप्रयोगनिवर्तनम् ॥६२॥

"महाबाहो ! यह ब्रह्मशिर नामक अस्त्र मैं तुम्हें प्रयोग और उपसंहार के साथ बता रहा हूँ। यह सब अस्त्रों से बढ़कर है, तथा इसे धारण करना भी अत्यन्त कठिन है। तुम इसे ग्रहण करो।

न च ते मानुषेष्वेतत् प्रयोक्तव्यं कथञ्चन।
जगद् विनिर्दहेदेतदल्पतेजसि पातितम् ॥६३॥

"मनुष्यों पर तुम्हें इस अस्त्र का प्रयोग किसी भी अवस्था में नहीं करना चाहिए। यदि किसी अल्प तेजवाले पुरुष पर इसे चलाया गया, तो यह उसके साथ ही समस्त संसार को भस्म कर सकता है।

असामान्यमिदं तात लोकेष्वस्त्रं निगद्यते।
तद् धारयेथाः प्रयतः शृणु चेदं वचो मम ॥६४॥

"तात ! यह अस्त्र तीनों लोकों में असाधारण बताया गया है। तुम मन और इन्द्रियों को संयम में रखकर इस अस्त्र को धारण करो और मेरी यह बात सुनो !

बाधेतामानुषः शत्रुर्यदि त्वां वीर कश्चन।
तद्वधाय प्रयुञ्जीथास्तदस्त्रमिदमाहवे ॥६५॥

'वीर ! यदि कोई अमानव शत्रु तुम्हें युद्ध में पीड़ा देने लगे तो तुम उसका वध करने के लिए इस अस्त्र का प्रयोग कर सकते हो।"

तथेति सम्प्रतिश्रुत्य बीभत्सुः स कृताञ्जलिः।
जग्राह परमास्त्रं तदाह चैनं पुनर्गुरुः।
भविता त्वत्समो नान्यः पुमाँल्लोके धनुर्धरः ॥६६॥

तब अर्जुन ने 'बहुत अच्छा' कहकर वैसा ही करने की प्रतिज्ञा की और हाथ जोड़कर उस उत्तम अस्त्र को ग्रहण किया। उस समय गुरु द्रोणाचार्य ने अर्जुन से पुनः यह बात कही—"संसार में दूसरा कोई पुरुष तुम्हारे समान धनुर्धर नहीं होगा।"

-इति महाभारते आदिपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

राजकुमारों का रङ्गभूमि में अस्त्र-कौशल दिखलाना

वैशम्पायन उवाच

कृतास्त्रान् धार्तराष्ट्रांश्च पाण्डुपुत्रांश्च भारत ।
दृष्ट्वा द्रोणोऽब्रवीद् सजन् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतकुलभूषण राजन् ! जब द्रोण ने देखा कि धृतराष्ट्र के पुत्र तथा पाण्डव अस्त्र-विद्या की शिक्षा समाप्त कर-चुके, तब उन्होंने धृतराष्ट्र से कहा—

राजन् सम्प्राप्तविद्यास्ते कुमाराः कुरुसत्तम ।
ते दर्शयेयुः स्वां शिक्षां राजन्ननुमते तव ॥२॥

"राजन् ! आपके कुमार अस्त्र-विद्या की शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं, कुरुश्रेष्ठ ! यदि आपकी अनुमति हो तो वे अपनी सीखी हुई अस्त्र-संचालन की कला का प्रदर्शन करें ।"

ततोऽब्रवीन्महाराजः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
भारद्वाज महत् कर्म कृतं ते द्विजसत्तम ॥३॥

यह सुनकर महाराज धृतराष्ट्र अत्यन्त प्रसन्न-चित्त से बोले—"द्विजश्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन ! आपने [राजकुमारों को शिक्षा प्रदान कर] बहुत बड़ा कार्य किया है ।

यदानुमन्यसे कालं यस्मिन् देशे यथा यथा ।
तथा तथा विधानाय स्वयमाज्ञापयस्व माम् ॥४॥

"आप कुमारों की अस्त्र-शिक्षा प्रदर्शन के लिए जब जो समय ठीक समझें, जिस स्थान पर और जिस प्रकार का प्रबन्ध आवश्यक मानें, वैसी ही तैयारी करने के लिए स्वयं ही मुझे आज्ञा दें ।

स्पृहयाम्यद्य निर्वेदात् पुरुषाणां सचक्षुषाम् ।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तान् ये मे द्रक्ष्यन्ति पुत्रकान् ॥५॥

"आज मैं नेत्रहीन होने के कारण दुःखी होकर उन मनुष्यों का सुख और सौभाग्य पाने के लिए तरस रहा हूँ, जिनके पास आँखें हैं, क्योंकि वे अस्त्र-कौशल का प्रदर्शन करने के लिए भाँति-भाँति के पराक्रम करनेवाले मेरे पुत्रों को देखेंगे ।

क्षत्तर्यद् गुरुराचार्यो ब्रवीति कुरु तत् तथा ।
न हीदृशं प्रियं मन्ये भविता धर्मवत्सल ॥६॥

[आचार्य से ऐसा कहकर उन्होंने विदुरजी से कहा—] "धर्मवत्सल ! विदुर ! गुरु द्रोणाचार्य जो काम जैसे कहते हैं, उसे उसी प्रकार करो । मेरी सम्मति में इसके समान प्रिय कार्य दूसरा नहीं होगा ।"

ततो राजानमामन्त्र्य निर्गतो विदुरो बहिः ।
भारद्वाजो महाप्राज्ञो मापयामास मेदिनीम् ॥७॥

तब राजा की आज्ञा लेकर विदुरजी [द्रोणाचार्य के साथ] बाहर आये । महाबुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोण ने रङ्गमण्डप के लिए एक भूमि पसन्द की और उसे नपवाया ।

मञ्चांश्च कारयामासुस्तत्र जानपदा जनाः ।
विपुलानुच्छ्रयोपेतान् शिबिकाश्च महाधनाः ॥८॥

जनपद के लोगों ने अपने बैठने के लिए वहाँ ऊँचे और विशाल मञ्च बनवाये तथा [स्त्रियों को लाने के लिए] बहुमूल्य शिबिकाएँ तैयार कराईं ।

तस्मिंस्ततोऽहनि प्राप्ते राजा ससचिवस्तदा ।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रेक्षागारमुपागमत् ॥९॥

तदनन्तर जब निश्चित दिन आया तब मन्त्रियों-सहित राजा धृतराष्ट्र भीष्मजी को आगे करके उस प्रेक्षागह[1] [रङ्गभूमि] में आये ।

गान्धारी च महाभागा कुन्ती च जयतां वर ।
स्त्रियश्च राज्ञः सर्वास्ताः सप्रेष्याः सपरिच्छदाः ॥१०
ब्राह्मणक्षत्रियाद्यं च चातुर्वर्ण्यं पुराद्द्रुतम् ।
दर्शनेप्सु समभ्यागात् कुमाराणां कृतास्त्रताम् ॥११॥

विजयी वीरों में श्रेष्ठ जनमेजय ! परम सौभाग्य-शालिनी गान्धारी, कुन्ती तथा राजभवन की सभी स्त्रियाँ वस्त्राभूषणों से विभूषित होकर दास-दासियों और आवश्यक सामग्रियों के साथ उस रङ्गभूमि में आईं । ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णों के लोग भी कुमारों का अस्त्र-कौशल देखने की इच्छा से तुरन्त नगर से निकलकर आ गये ।

---

१. उत्सव अथवा नाटक आदि को सुविधापूर्वक देखने के उद्देश्य से बनाये गये स्थान को प्रेक्षागृह कहते हैं ।

प्रवादितैश्च वादित्रैर्जनकौतूहलेन च ।
महार्णव इव क्षुब्धः समाजः सोऽभवत् तदा ॥१२॥

अनेक प्रकार के वाजों के बजने से तथा मनुष्यों के बढ़ते हुए कौतूहल से वह जनसमूह उस समय क्षुब्ध महासागर के समान जान पड़ता था।

ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान् ।
शुक्लकेशः सितश्मश्रुः शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥१३॥
रङ्गमध्यं तदाचार्यः सपुत्रः प्रविवेश ह ।
नभो जलधरैर्हीनं साङ्गारक इवांशुमान् ॥१४॥

तत्पश्चात् श्वेतवस्त्र और श्वेत यज्ञोपवीत धारण किये आचार्य द्रोण ने अपने पुत्र अश्वत्थामा के साथ रङ्गभूमि में प्रवेश किया, मानो मेघ-रहित आकाश में चन्द्रमा ने मङ्गल के साथ पदार्पण किया हो। आचार्य के सिर और दाढ़ी-मूंछ के बाल सफेद हो गये थे। वे श्वेत पुष्पों की माला और श्वेत चन्दन से सुशोभित हो रहे थे।

ततो बद्धाङ्गुलित्राणा बद्धकक्षा महारथाः ।
बद्धतूणाः सधनुषो विविशुर्भरतर्षभाः ॥१५॥

द्रोणाचार्य के आगमन के पश्चात् भरतवंशियों में श्रेष्ठ वे वीर राजकुमार बड़े-बड़े रथों के साथ दस्ताने पहने, कमर कसे, पीठ पर तूणीर बाँधे और धनुष लिये हुए उस रङ्गभूमि में आये।

अनुज्येष्ठं तु ते तत्र युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
चक्रुरस्त्रं महावीर्याः कुमाराः परमाद्भुतम् ॥१६॥

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदि वे राजकुमार बड़े-छोटे के क्रम से स्थित हो गये। तत्पश्चात् वे महापराक्रमी राजकुमार वहाँ परम अद्भुत अस्त्र-कौशल प्रकट करने लगे।

केचिच्छराक्षेपभयाच्छिरांस्यवननामिरे ।
मनुजा धृष्टमपरे वीक्षाञ्चक्रुः सुविस्मिताः ॥१७॥

कितने ही मनुष्य वाण लग जाने के भय से अपना मस्तक झुका देते थे। दूसरे लोग अत्यन्त विस्मित होकर बिना किसी घबराहट के सब-कुछ देखते थे।

ते स्म लक्ष्याणि विभिदुर्बाणैर्नामाङ्कशोभितैः ।
विविधैर्लाघवोत्सृष्टैरुह्यन्तो वाजिभिर्द्रुतम् ॥१८॥

वे राजकुमार घोड़ों पर सवार हो अपने नाम के अक्षरों से सुशोभित और बड़ी फुर्ती के साथ छोड़े हुए नाना प्रकार के वाणों द्वारा शीघ्रतापूर्वक लक्ष्य-वेध करने लगे।

तत् कुमारबलं तत्र गृहीतशरकार्मुकम् ।
गन्धर्वनगराकारं प्रेक्ष्य ते विस्मिताभवन् ॥१९॥

धनुष-वाण लिये हुए राजकुमारों के उस समुदाय को गन्धर्वनगर के समान उपस्थित देख वहाँ आये हुए समस्त दर्शक आश्चर्यचकित हो गये।

सहसा चुक्रुशुश्चान्ये नराः शतसहस्रशः ।
विस्मयोत्फुल्लनयनाः साधु साध्विति भारत ॥२०॥

हे जनमेजय ! सैकड़ों और सहस्रों की संख्या में एक-एक स्थान पर बैठे हुए लोग आश्चर्यचकित नेत्रों से देखते हुए सहसा 'साधु-साधु' [वाह-वाह] कहकर कोलाहल मचा देते थे।

कृत्वा धनुषि ते मार्गान् रथचर्यासु चासकृत् ।
गजपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च नियुद्धे च महाबलाः ॥२१॥

उन महाबली राजकुमारों ने पहले धनुष-वाण के पैंतरे दिखाये। तत्पश्चात् रथ-संचालन के विविध मार्गों [शीघ्र ले जाना, लौटा लाना, दाएँ, बाएँ और मण्डलाकार चलाना आदि] का अवलोकन कराया। फिर कुश्ती लड़ने तथा हाथी और घोड़े की पीठ पर बैठकर युद्ध करने की चातुरी का परिचय दिया।

गृहीतखड्गचर्माणस्ततो भूयः प्रहारिणः ।
त्सरुमार्गान् यथोद्दिष्टांश्चेरुः सर्वासु भूमिषु ॥२२॥

तदनन्तर वे ढाल और तलवार लेकर एक-दूसरे पर प्रहार करते हुए खड्ग चलाने के शास्त्रोक्त मार्ग [ऊपर-नीचे और अगल-बगल में घुमाने की कला] का प्रदर्शन करने लगे। उन्होंने रथ, हाथी, घोड़े और भूमि—इन सभी आधार-भूमियों पर यह युद्ध-कौशल दिखाया।

अथ तौ नित्यसंहृष्टौ सुयोधनवृकोदरौ ।
अवतीर्णौ गदाहस्तावेकशृङ्गाविवाचलौ ॥२३॥

तत्पश्चात् एक-दूसरे को जीतने का उत्साह रखने-वाले दुर्योधन और भीम हाथ में गदा लिये रङ्गभूमि में उतरे। उस समय वे एक-एक शिखरवाले दो पर्वतों की भाँति शोभा पा रहे थे।

तौ प्रदक्षिणसव्यानि मण्डलानि महाबलौ ।
चेरतुर्मण्डलगतौ समदाविव कुञ्जरौ ॥२४॥

वे दोनों महाबली योद्धा अपनी-अपनी गदाओं को दाएँ-बाएँ मण्डलाकार घुमाते हुए दो मदोन्मत्त हाथियों की भाँति मण्डल के भीतर विचरने लगे।

विदुरो धृतराष्ट्राय गान्धार्यैः पाण्डवारणिः।
न्यवेदयेतां तत् सर्वं कुमाराणां विचेष्टितम् ॥२५॥

विदुर धृतराष्ट्र को और पाण्डव-जननी कुन्ती गान्धारी को उन राजकुमारों की सारी चेष्टाएँ बताते जाते थे।

कुरुराजे हि रङ्गस्थे भीमे च बलिनां वरे।
पक्षपातकृतस्नेहः स द्विधेवाभवज्जनः ॥२६॥

जब कुरुराज दुर्योधन और बलवानों में श्रेष्ठ भीमसेन रङ्गभूमि में उतरकर गदा-युद्ध कर रहे थे, उस समय दर्शक जनता उनके प्रति पक्षपातपूर्ण स्नेह करने के कारण मानो दो दलों में बँट गई।

हा वीर कुरुराजेति हा भीम इति जल्पताम्।
पुरुषाणां सुविपुलाः प्रणादाः सहसोत्थिताः ॥२७॥

कुछ कहते—"अहो! वीर कुरुराज कैसा अद्भुत पराक्रम दिखा रहे हैं।" तभी दूसरे चिल्ला पड़ते—"वाह! भीमसेन तो गजब का हाथ मारते हैं।" इस प्रकार की बातें करनेवाले लोगों की भारी आवाजें वहाँ सहसा सब ओर गूँजने लगीं।

ततः क्षुब्धार्णवनिभं रङ्गमालोक्य बुद्धिमान्।
भारद्वाजः प्रियं पुत्रमश्वत्थामानमब्रवीत् ॥२८॥

फिर तो सारी रङ्गभूमि में क्षुब्ध महासागर के समान हलचल मच गई। यह देख बुद्धिमान् द्रोणाचार्य ने अपने प्रिय पुत्र अश्वत्थामा से कहा—

द्रोण उवाच

वारयैतौ महावीर्यौ कृतयोग्यावुभावपि।
माभूद् रङ्गप्रकोपोऽयं भीमदुर्योधनोद्भवः ॥२९॥

द्रोणाचार्य बोले—वत्स! ये दोनों पराक्रमी वीर अस्त्र-विद्या में अत्यन्त अभ्यस्त हैं। तुम इन दोनों को युद्ध से रोको, जिससे भीमसेन और दुर्योधन को लेकर रङ्गभूमि में सर्वत्र क्रोध न फैल जाए।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तावुद्यतगदौ गुरुपुत्रेण वारितौ।
युगान्तानिलसंक्षुब्धौ महावेलाविवार्णवौ ॥३०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब गुरु-पुत्र अश्वत्थामा ने प्रलयकालीन वायु से विक्षुब्ध उत्ताल तरङ्गोंवाले दो समुद्रों की भाँति गदा उठाये हुए दुर्योधन और भीम को युद्ध करने से रोक दिया।

ततो रङ्गाङ्गणगतो द्रोणो वचनमब्रवीत्।
निवार्य वादित्रगणं महामेघनिभस्वनम् ॥३१॥

उनका युद्ध बन्द होने पर दोणाचार्य ने महान् मेघों के समान कोलाहल करनेवाले बाजों को बन्द कराकर रङ्गभूमि में उपस्थित होकर यह बात कही—

यो मे पुत्रात् प्रियतरः सर्वशस्त्रविशारदः।
ऐन्द्रिरिन्द्रानुजसमः स पार्थो दृश्यतामिति ॥३२॥

"दर्शकगण! जो मुझे पुत्र से भी अधिक प्रिय है, जिसने सम्पूर्ण शस्त्रों में निपुणता प्राप्त की है, जो विष्णु के समान पराक्रमी है, उस इन्द्रकुमार कुन्तीपुत्र अर्जुन का कौशल अब आप लोग देखें।"

आचार्यवचनेनाथ कृतस्वस्त्ययनो युवा।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः प्रत्यदृश्यत फाल्गुनः ॥३३॥

तब आचार्य के आदेश से स्वस्तिवाचन कराकर तरुण वीर अर्जुन हाथों में गोह के चमड़े के बने दस्ताने पहने हुए [धनुष हाथ में लिये] रङ्गभूमि में दिखाई दिये।

ततः सर्वस्य रङ्गस्य समुत्पिञ्जलकोऽभवत्।
प्रावाद्यन्त च वाद्यानि सशंखानि समन्ततः ॥३४॥

फिर तो सम्पूर्ण रङ्गमण्डप में हर्षोल्लास छा गया और सब ओर भाँति-भाँति के बाजे और शंख बजने लगे।

तस्मिन् प्रमुदिते रङ्गे कथंचित् प्रत्युपस्थिते।
दर्शयामास बीभत्सुराचार्यायास्त्रलाघवम् ॥३५॥
आग्नेयेनासृजद् वह्निं वारुणेनासृजत् पयः।
वायव्येनास्रजद्वायुं पार्जन्येनासृजद् घनान् ॥३६॥

आनन्दातिरेक से मुखरित हुआ वह रङ्गमण्डप जब किसी प्रकार कुछ शान्त हुआ, तब अर्जुन ने आचार्य को अपनी अस्त्र-संचालन की फुर्ती दिखानी आरम्भ की। उन्होंने पहले आग्नेयास्त्र से अग्नि उत्पन्न की, फिर वारुणास्त्र से जल उत्पन्न करके उसे बुझा दिया। वायव्यास्त्र से आँधी चला दी और पर्जन्यास्त्र से बादल प्रकट कर दिये।

भौमेन प्राविशद् भूमिं पार्वतेनासृजद् गिरीन् ।
अन्तर्धानेन चास्त्रेण पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥३७॥

उन्होंने भौमास्त्र से पृथिवी में प्रवेश किया। और पर्वतास्त्र से पर्वतों को उत्पन्न कर दिया, फिर अन्तर्धानास्त्र द्वारा वे स्वयं अदृश्य हो गये।

क्षणात्प्रांशुः क्षणाद्ध्रस्वः क्षणाच्च रथधूर्गतः ।
क्षणेन रथमध्यस्थः क्षणेनावतरन्महीम् ॥३८॥

वे क्षणभर में बहुत लम्बे हो जाते तथा क्षणभर में ही बहुत छोटे बन जाते थे। एक क्षण में रथ के धुरे पर खड़े होते तो दूसरे ही क्षण रथ के बीच में दिखाई देते थे। फिर पलक मारते-मारते पृथिवी पर उतर कर अस्त्र-कौशल दिखाने लगते थे।

भ्रमतश्च वराहस्य लोहस्य प्रमुखे समम् ।
पञ्च बाणाऽनसंयुक्तान् सम्मुमोचैकबाणवत् ॥३९॥

तत्पश्चात् वीर अर्जुन ने चक्कर लगाते हुए लोहनिर्मित सूअर के मुख में एक ही साथ एक बाण की भाँति मिलाकर पांच बाण मारे। किन्तु वे पांचों बाण एक-दूसरे से सटे हुए नहीं थे।

गव्ये विषाणकोषे च चले रज्ज्ववलम्बिनि ।
निचखान महावीर्यः सायकानेकविंशतिम् ॥४०॥

एक स्थान पर गाय का एक सींग रस्सी में लटकाया गया था, जो हिल रहा था। महापराक्रमी अर्जुन ने उस सींग के छेद में लगातार इक्कीस बाण गड़ा दिये।

इत्येवमादि सुमहत् खड्गे धनुषि चानघ ।
गदायां शस्त्रकुशलो मण्डलानि ह्यदर्शयत् ॥४१॥

निष्पाप जनमेजय! इस प्रकार उन्होंने बड़ा भारी अस्त्र-कौशल दिखलाया। खड्ग, धनुष और गदा आदि के भी शस्त्र-कुशल अर्जुन ने अनेक पैंतरे और हाथ दिखलाये।

इति महाभारते आदिपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

कर्ण का रङ्गभूमि में प्रवेश, दुर्योधन द्वारा उसका राज्याभिषेक, भीम द्वारा कर्ण का तिरस्कार और दुर्योधन द्वारा उसका सम्मान

वैशम्पायन उवाच

ततः समाप्त भूयिष्ठे तस्मिन् कर्मणि भारत ।
मन्दीभूते समाजे च वादित्रस्य च निःस्वने ॥१॥
द्वारदेशात् समुद्भूतो माहात्म्यबलसूचकः ।
वज्रनिष्पेषसदृशः शुश्रुवे भुजनिःस्वनः ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार अस्त्र-कौशल दिखाने का अधिकांश कार्य जब समाप्त हो चला, मनुष्यों का कोलाहल और बाजे-गाजे का शब्द भी जब शान्त होने लगा, उसी समय द्वार की ओर से किसी का अपनी भुजाओं पर ताल ठोंकने का भारी शब्द सुनाई पड़ा, मानो वज्र आकाश में टकरा रहे हों। यह शब्द किसी वीर के माहात्म्य तथा बल का सूचक था।

दीर्यन्ते किं नु गिरयः किंस्विद् भूमिर्विदीर्यते ।
किंस्विदापूर्यते व्योम जलधाराघनैर्घनैः ॥३॥

[उस शब्द को सुनकर लोग कहने लगे—] "कहीं पहाड़ तो नहीं फट गये, पृथिवी तो विदीर्ण नहीं हो गई? अथवा जल की धारा से परिपूर्ण घनीभूत बादलों की गम्भीर गर्जना से आकाशमण्डल तो नहीं गूंज रहा है?"

रङ्गस्यैवं मतिरभूत् क्षणेन वसुधाधिप ।
द्वारं चाभिमुखाः सर्वे बभूवुः प्रेक्षकास्तदा ॥४॥

हे राजन्! उस रङ्गमण्डप में बैठे हुए लोगों के मन में क्षणभर में उपर्युक्त विचार आने लगे। उस समय सभी दर्शक द्वार की ओर मुंह घुमाकर देखने लगे।

दत्तावकाशः पुरुषैर्विस्मयोत्फुल्ललोचनैः ।
विवेश रङ्गं विस्तीर्णं कर्णः परपुरंजयः ॥५॥

आश्चर्य से आँखें फाड़-फाड़कर देखनेवाले दर्शकों ने जब भीतर जाने का मार्ग दे दिया, तब शत्रुओं की

राजधानी पर विजय पानेवाले कर्ण[1] ने उस विशाल रङ्गमण्डप में प्रवेश किया।

सहजं कवचं बिभ्रत् कुण्डलोद्द्योतिताननः।
सधनुर्बद्धनिस्त्रिंशः पादचारीव पर्वतः ॥६॥

उसने सहज स्वभाव से कवच धारण किया हुआ था। दोनों कानों के कुण्डल उसके मुख को उद्भासित कर रहे थे। हाथ में धनुष लिये और कमर में तलवार बाँधे वह वीर पैरों से चलनेवाले पर्वत की भाँति सुशोभित हो रहा था।

सिंहर्षभगजेन्द्राणां बलवीर्यपराक्रमः।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः ॥७॥

उसमें सिंह के समान बल, साँड के समान वीर्य और गजराज के समान पराक्रम था, वह दीप्ति से सूर्य, कान्ति से चन्द्रमा तथा तेजरूपी गुण से अग्नि के समान जान पड़ता था।

स निरीक्ष्य महाबाहुः सर्वतो रङ्गमण्डलम्।
प्रणामं द्रोणकृपयोर्नात्यादृतमिवाकरोत् ॥८॥

उस समय महाबाहु कर्ण ने रङ्गमण्डप में सब ओर दृष्टि दौड़ाकर द्रोणाचार्य और कृपाचार्य को इस प्रकार प्रणाम किया, मानो उनके प्रति उसके मन में अधिक आदर का भाव न हो।

स समाजजनः सर्वो निश्चलः स्थिरलोचनः।
कोऽयमित्यागतक्षोभः कौतूहलपरोऽभवत् ॥९॥

रङ्गभूमि में जितने लोग थे, वे सब निश्चल होकर एकटक दृष्टि से देखने लगे। यह कौन है, यह जानने के लिए उनका चित्त चञ्चल हो उठा। वे सब-के-सब उत्कण्ठित हो गये।

कर्ण उवाच

पार्थ यत् ते कृतं कर्म निशेषवदहं ततः।
करिष्ये पश्यतां नृणां माऽऽत्मना विस्मयं गमः ॥१०॥

कर्ण बोला—कुन्तीनन्दन! तुमने इन दर्शकों के समक्ष जो कार्य किया है, मैं उससे भी अधिक आश्चर्यजनक कर्म कर दिखाऊँगा, अतः तुम अपने पराक्रम पर गर्व मत करो।

वैशम्पायन उवाच

प्रीतिश्च मनुजव्याघ्र दुर्योधनमुपाविशत्।
ह्रीश्च क्रोधश्च बीभत्सुं क्षणेनान्वाविवेश ह ॥११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे नरश्रेष्ठ! उस समय [कर्ण की बात सुनकर] दुर्योधन के मन में बड़ी प्रसन्नता हुई और अर्जुन के चित्त में क्षणभर में लज्जा तथा क्रोध का संचार हो आया।

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः कर्णः प्रियरणः सदा।
यत् कृतं तत्र पार्थेन तच्चकार महाबलः ॥१२॥

तब सदा युद्ध से ही प्रेम करनेवाले महाबली कर्ण ने द्रोणाचार्य की आज्ञा लेकर, अर्जुन ने वहाँ जो-जो अस्त्र-कौशल प्रकट किया था, वह सब कर दिखाया।

अथ दुर्योधनस्तत्र भ्रातृभिः सह भारत।
कर्णं परिष्वज्य मुदा ततो वचनमब्रवीत् ॥१३॥

भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् भाइयों के सहित दुर्योधन ने वहाँ अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कर्ण को हृदय से लगाकर कहा—

---

१. महाभारत में अनेक स्थानों पर कर्ण का कुमारी-अवस्था में कुन्ती से उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है। यह सब महाभारत में समय-समय पर हुए प्रक्षेपों के कारण है। हमारे विचार में कर्ण कुन्ती का पुत्र नहीं था। श्रीकृष्णजी द्वारा कर्ण को कुन्ती का पुत्र बनाया गया था। पीछे यह धारणा बद्धमूल हो गई कि कर्ण कुन्ती का पुत्र था। महाभारत में इतने प्रक्षेप हुए हैं कि वास्तविक तथ्यों को खोज निकालना कठिन है। वायुपुराण में चन्द्रवंशी राजा अनु की वंशावली का वर्णन करते हुए कहा गया है—

आसीद्दृढरथस्यापि विश्वजिज्जनमेजयः।
दायादस्तस्य चाङ्गेभ्यो यस्मात्कर्णोऽभवन्नृपः॥

—वायु पु० ९९।१११, ११२

राजा दृढरथ का पुत्र विश्वविजयी राजा जनमेजय हुआ। उसके अङ्गों से राजा कर्ण हुआ, जो उसका उत्तराधिकारी था।

यह अधिरथ के पास कैसे पहुँच गया, इस सब की कड़ी जोड़ना कठिन है। इतना तो निश्चित ही है कि यह सूतपुत्र नहीं था। हाँ, हो सकता है, एकलव्य की भाँति सूत द्वारा इसका भी लालन-पालन किया गया हो।

दुर्योधन उवाच

स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद ।
मामपि कुरुराज्यं च यथेष्टमुपभुज्यताम् ॥१४॥

दुर्योधन बोला—हे महाबाहो ! आपका स्वागत है । मानद ! तुम यहाँ पधारे, यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है । मैं तथा कौरवों का यह राज्य सब तुम्हारे हैं । तुम इनका यथेष्ट उपभोग करो ।

कर्ण उवाच

कृतं सर्वमहं मन्ये सखित्वं च त्वया वृणे ।
द्वन्द्वयुद्धं च पार्थेन कर्तुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥१५॥

कर्ण ने कहा—प्रभो ! आपने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा कर दिया, ऐसा मेरा विश्वास है । मैं आपके साथ मित्रता चाहता हूँ और अर्जुन के साथ मेरी द्वन्द्वयुद्ध करने की इच्छा है ।

दुर्योधन उवाच

भुंक्ष्व भोगान् मया सार्धं बन्धूनां प्रियकृद् भव ।
दुर्हृदां कुरु सर्वेषां मूर्ध्नि पादमरिन्दम ॥१६॥

दुर्योधन बोला—शत्रुदमन ! तुम मेरे साथ उत्तम भोग भोगो । अपने भाई-बन्धुओं का प्रिय करो और समस्त शत्रुओं के मस्तक पर पैर रखो ।

वैशम्पायन उवाच

ततः क्षिप्तमिवात्मानं मत्वा पार्थोऽभ्यभाषत ।
कर्णं भ्रातृसमूहस्य मध्येऽचलमिव स्थितम् ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अर्जुन ने अपने आपको कर्ण द्वारा तिरस्कृत-सा मानकर दुर्योधन आदि सौ भाइयों के बीच में अचल (पर्वत) से खड़े हुए कर्ण को सम्बोधित करके कहा—

अर्जुन उवाच

अनाहूतोपसृष्टानामनाहूतोपजल्पिनाम् ।
ये लोकास्तान् हतः कर्ण मया त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥१८॥

अर्जुन ने कहा—कर्ण ! बिना बुलाये आनेवालों और बिना बुलाये बोलनेवालों को जो [निन्दनीय] लोक प्राप्त होते हैं, मेरे द्वारा मारे जाने पर तुम उन्हीं लोकों में जाओगे ।

कर्ण उवाच

रङ्गोऽयं सर्वसामान्यः किमत्र तव फाल्गुन ।
वीर्यश्रेष्ठाश्च राजानो बलं धर्मोऽनुवर्तते ॥१९॥

कर्ण बोला—अर्जुन ! यह रङ्गमण्डप तो सबके लिए सामान्य है, इसमें तुम्हारा क्या लगा है ? जो बल और पराक्रम में श्रेष्ठ होते हैं, वे ही राजा कहलाने योग्य हैं । धर्म भी बल का ही अनुसरण करता है ।

किं क्षेपैर्दुर्बलायासैः शरैः कथय भारत ।
गुरोः समक्षं यावत् ते हराम्यद्य शिरः शरैः ॥२०॥

भारत ! आक्षेप करना तो दुर्बलों का कार्य है। इससे क्या लाभ है ? साहस हो तो बाणों से बातचीत करो । मैं आज तुम्हारे गुरु के सामने ही बाणों द्वारा तुम्हारे सिर को धड़ से अलग किये देता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः पार्थः परपुरञ्जयः ।
भ्रातृभिस्त्वरयाऽऽश्लिष्टो रणायोपजगाम तम् ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब शत्रुओं के नगर को जीतनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोण की आज्ञा ले तुरन्त अपने भाइयों से गले मिलकर युद्ध के लिए कर्ण की ओर बढ़े ।

ततो दुर्योधनेनापि सभ्रात्रा समरोद्यतः ।
परिष्वक्तः स्थितः कर्णः प्रगृह्य सशरं धनुः ॥२२॥

तब भाइयों-सहित दुर्योधन ने भी धनुष-बाण ले युद्ध के लिए तैयार खड़े हुए कर्ण का आलिङ्गन किया।

धार्तराष्ट्रा यतः कर्णस्तस्मिन् देशे व्यवस्थिताः ।
भारद्वाजः कृपो भीष्मो यतः पार्थस्ततोऽभवन् ॥२३॥

धृतराष्ट्र के पुत्र जिस ओर कर्ण था, उसी ओर खड़े हुए तथा द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और भीष्म जिधर अर्जुन थे, उस ओर खड़े थे ।

तावुद्यतमहाचापौ कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
द्वन्द्वयुद्धसमाचारे कुशलः सर्वधर्मवित् ॥२४॥

उन दोनों को विशाल धनुष उठाये देख द्वन्द्वयुद्ध की नीति-रीति में कुशल और समस्त धर्मों के ज्ञाता शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य ने इस प्रकार कहा—

कृप उवाच

अयं पृथायास्तनयः कनीयान् पाण्डुनन्दनः ।
कौरवो भवता सार्धं द्वन्द्वयुद्धं करिष्यति ॥२५॥
त्वमप्येवं महाबाहो मातरं पितरं कुलम् ।
कथयस्व नरेन्द्राणां येषां त्वं कुलभूषणम् ॥२६॥

कृपाचार्य बोले—हे कर्ण ! ये कुन्तदेवी के सबसे छोटे पुत्र पाण्डुनन्दन अर्जुन कुरुवंश के रत्न हैं, जो तुम्हारे साथ द्वन्द्वयुद्ध करेंगे। महाबाहो ! इसी प्रकार तुम भी अपने माता-पिता तथा कुल का परिचय दो और उस नरेश का नाम बताओ, जिनका वंश तुमसे विभूषित हुआ है।

ततो विदित्वा पार्थस्त्वां प्रतियोत्स्यति वा न वा।
वृथाकुलसमाचारैर्न युध्यन्ते नृपात्मजाः ॥२७॥

यह जान लेने के पश्चात् यह निश्चय होगा कि अर्जुन तुम्हारे साथ युद्ध करेंगे अथवा नहीं, क्योंकि राजकुमार नीच कुल और हीन आचार-विचारवाले लोगों के साथ युद्ध नहीं करते।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्य कर्णस्य व्रीडावनतमाननम्।
बभौ वर्षाम्बुविक्लिन्नं पद्ममागलितं यथा ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कृपाचार्य के ऐसा कहने पर कर्ण का मुख लज्जा से नीचे झुक गया। जैसे वर्षा के पानी से भीगकर कमल मुर्झा जाता है, वैसे ही कर्ण का मुख कान्तिहीन हो गया। तब—

दुर्योधन उवाच

आचार्य त्रिविधा योनी राज्ञां शास्त्रविनिश्चये।
सत्कुलीनश्च शूरश्च यश्च सेनां प्रकर्षति ॥२९॥

दुर्योधन बोला—आचार्य ! शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार राजाओं की तीन योनियाँ हैं—उत्तम कुल में उत्पन्न पुरुष, शूरवीर तथा सेनापति [अतः शूरवीर होने के कारण कर्ण भी राजा ही हैं]।

यद्ययं फाल्गुनो युद्धे नाराज्ञा योद्धुमिच्छति।
तस्मादेषोऽङ्गविषये मया राज्येऽभिषिच्यते ॥३०॥

यदि ये अर्जुन राजा से भिन्न पुरुष के साथ रण-भूमि में लड़ना नहीं चाहते, तो मैं कर्ण को इसी समय अङ्गदेश के राज्य पर अभिषिक्त करता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्मिन् क्षणे कर्णः सलाजकुसुमैर्घटैः।
काञ्चनैः काञ्चने पीठे मन्त्रविद्भिर्महारथः ॥३१॥
अभिषिक्तोऽङ्गराज्ये स श्रिया युक्तो महाबलः।
सच्छत्रबालव्यजनो जयशब्दोत्तरेण च ॥३२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब दुर्योधन की आज्ञा से उसी समय महाबली एवं महारथी कर्ण को सोने के सिंहासन पर बिठाकर मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणों ने लाजाओं [धान की खीलों] और फूलों से युक्त सुवर्णमय कलशों के जल से अङ्गदेश के राज-पद पर अभिषिक्त किया। तब वह छत्र, चँवर तथा जय-जयकार के साथ राज्यश्री से सुशोभित होने लगा।

उवाच कौरवं राजन् वचनं स वृषस्तदा।
अस्य राज्यप्रदानस्य सदृशं किं ददानि ते ॥३३॥
प्रब्रूहि राजशार्दूल कर्ता ह्यस्मि तथा नृप।
अत्यन्तं सख्यमिच्छामीत्याह तं स सुयोधनः ॥३४॥

राजन् ! उस समय कर्ण ने कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन से कहा—"नृपतिशिरोमणे ! आपने मुझे जो यह राज्य प्रदान किया है, इसके अनुरूप मैं आपको क्या भेंट दूँ ? बताइए, आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करूँगा।" यह सुनकर दुर्योधन ने कहा—"अङ्गराज ! मैं तुम्हारे साथ ऐसी मित्रता चाहता हूँ जिसका कभी अन्त न हो।"

एवमुक्तस्ततः कर्णस्तथेति प्रत्युवाच तम्।
हर्षाच्चोभौ समाश्लिष्य परां मुदमवापतुः ॥३५॥

दुर्योधन के ऐसा कहने पर कर्ण ने 'बहुत अच्छा' कहकर उसके साथ मित्रता कर ली। फिर वे दोनों अति हर्ष के साथ एक-दूसरे को हृदय से लगाकर आनन्द-मग्न हो गये।

ततः स्रस्तोत्तरपटः सप्रस्वेदः सवेपथुः।
विवेशाधिरथो रङ्गं यष्टिप्राणो ह्वयन्निव ॥३६॥

उधर लाठी का सहारा लिये अधिरथ कर्ण को पुकारता हुआ-सा काँपता-काँपता रङ्गभूमि में आया। उसकी चादर खिसककर गिर पड़ी थी और वह पसीने से लथपथ हो रहा था।

तमालोक्य धनुस्त्यक्त्वा पितृगौरवयन्त्रितः।
कर्णोऽभिषेकार्द्रशिराः शिरसा समवन्दत ॥३७॥

पिता के गौरव से प्रेरित हुआ कर्ण अधिरथ को देखते ही धनुष त्यागकर सिंहासन से नीचे उतर आया। उसका मस्तक अभिषेक के जल से भीगा हुआ था। उसी अवस्था में उसने अधिरथ के चरणों में सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया।

ततः पादाववच्छाद्य पटान्तेन ससम्भ्रमः।
पुत्रेति परिपूर्णार्थमब्रवीद् रथसारथिः ॥३८॥

घबराये हुए अधिरथ ने अपने दोनों पैरों को कपड़े के छोर से छिपा लिया और 'बेटा! बेटा!' पुकारते हुए अपने को कृतार्थ माना।

परिष्वज्य च तस्याथ मूर्धानं स्नेहविक्लवः।
अङ्गराज्याभिषेकार्द्रमश्रुभिः सिषिचे पुनः ॥३९॥

उसने स्नेह से विह्वल होकर कर्ण को हृदय से लगा लिया और अङ्गदेश के राज्य पर अभिषिक्त होने से भीगे हुए उसके मस्तक को अपने आँसुओं से पुनः अभिषिक्त कर दिया।

तं दृष्ट्वा सूतपुत्रोऽयमिति संचिन्त्य पाण्डवः।
भीमसेनस्तदा वाक्यमब्रवीत् प्रहसन्निव ॥४०॥

अधिरथ को देखकर पाण्डुकुमार भीमसेन यह समझ गये कि कर्ण सूतपुत्र है। फिर तो वे हँसते हुए-से बोले—

भीम उवाच

न त्वमर्हसि पार्थेन सूतपुत्र रणे वधम्।
कुलस्य सदृशस्तूर्णं प्रतोदो गृह्यतां त्वया ॥४१॥

भीमसेन बोले—अरे ओ सूतपुत्र! तू तो अर्जुन के हाथ से मरने योग्य भी नहीं है। तुझे तो शीघ्र ही चाबुक हाथ में लेना चाहिए, क्योंकि यही कर्म तेरे कुल के अनुरूप है।

अङ्गराज्यं च नार्हस्त्वमुपभोक्तुं नराधम।
श्वा हुताशसमीपस्थं पुरोडाशमिवाध्वरे ॥४२॥

नराधम! जैसे यज्ञ में अग्नि के समीप रखे हुए पुरोडाश को कुत्ता नहीं खा सकता, उसी प्रकार तू भी अङ्गदेश का राज्य भोगने योग्य नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततः कर्णः किंचित्प्रस्फुरिताधरः।
गगनस्थं विनिश्वस्य दिवाकरमुदैक्षत ॥४३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेन के ऐसा कहने पर क्रोध के मारे कर्ण के होठ कुछ काँपने लगे और उसने लम्बी साँस लेकर आकाशमण्डल में स्थित सूर्य की ओर देखा।

ततो दुर्योधनः कोपादुत्पपात महाबलः।
भ्रातृपद्मवनात् तस्मान्मदोत्कट इव द्विपः ॥४४॥

इसी समय महाबली दुर्योधन क्रुद्ध हो मदोन्मत्त गजराज की भाँति भ्रातृ-समूहरूपी कमलवन से उछलकर बाहर निकल आया।

सोऽब्रवीद् भीमकर्माणं भीमसेनमवस्थितम्।
वृकोदर न युक्तं ते वचनं वक्तुमीदृशम् ॥४५॥

उसने वहाँ खड़े हुए भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेन से कहा—"वृकोदर! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए—

क्षत्रियाणां बलं ज्येष्ठं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना।
शूराणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल ॥४६॥

"क्षत्रियों में बल की ही प्रधानता है। बलवान् होने पर क्षत्रबन्धु=हीनक्षत्रिय से भी युद्ध करना चाहिए। शूरवीरों और नदियों की उत्पत्ति के वास्तविक कारण को जान लेना बहुत कठिन है।

पृथिवीराज्यमर्होऽयं नाङ्गराज्यं नरेश्वरः।
अनेन बाहुवीर्येण मया चाज्ञानुवर्तिना ॥४७॥

"राजा कर्ण अपने बाहुबल से तथा मुझ जैसे आज्ञापालक मित्र की सहायता से अङ्गदेश का ही नहीं समस्त भूमण्डल का राज्य पाने के अधिकारी हैं।

यस्य वा मनुजस्येदं न क्षान्तं मद्विचेष्टितम्।
रथमारुह्य पद्भ्यां स विनामयतु कार्मुकम् ॥४८॥

"जिस मनुष्य से मेरा यह व्यवहार नहीं सहा जाता हो, वह रथ पर चढ़कर पैरों से अपने धनुष को झुकाए (हमारे सामने युद्ध के लिए तैयार हो जाए)।"

ततः सर्वस्य रङ्गस्य हाहाकारो महानभूत्।
साधुवादानुसम्बद्धः सूर्यश्चास्तमुपागमत् ॥४९॥

यह सुनकर समस्त रङ्गमण्डप में दुर्योधन को मिलनेवाले साधुवाद के साथ ही [युद्ध की सम्भावना से] महान् हाहाकार मच गया। उधर सूर्यदेव अस्ताचल को चले गये।

ततो दुर्योधनः कर्णमालम्ब्याग्रकरे नृपः।
दीपिकाग्निकृतालोकस्तस्माद् रङ्गाद्विनिर्ययौ ॥५०॥

तब दुर्योधन कर्ण के हाथ की अंगुलियाँ पकड़कर मशाल का प्रकाश करा उस रङ्गभूमि से बाहर निकल गया।

पाण्डवाश्च सहद्रोणाः सकृपाश्च विशाम्पते।
भीष्मेण सहिताः सर्वे ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥५१॥

प्रजानाथ! समस्त पाण्डव भी द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और पितामह भीष्मजी के साथ अपने-अपने निवासस्थान को चल दिये।

अर्जुनेति जनः कश्चित् कश्चित् कर्णेति भारत।
कश्चित् दुर्योधनेत्येवं ब्रुवन्तः प्रस्थितास्तदा ॥५२॥

हे भारत! उस समय दर्शकों में कोई अर्जुन की, कोई कर्ण की और कोई दुर्योधन की प्रशंसा करते हुए चले गये।

दुर्योधनस्यापि तदा कर्णमासाद्य पार्थिव।
भयमर्जुनसंजातं क्षिप्रमन्तरधीयत ॥५३॥

हे जनमेजय! उस समय कर्ण को मित्र के रूप में पाकर अर्जुन से प्राप्त होनेवाला दुर्योधन का भय भी शीघ्र दूर हो गया।

इति महाभारते आदिपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

द्रोण का शिष्यों द्वारा द्रुपद पर आक्रमण करवाना, अर्जुन का उसे बन्दी बनाकर लाना और द्रोण का उसे आधा राज्य देकर मुक्त कर देना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवान्धार्तराष्ट्रांश्च कृतास्त्रान्प्रसमीक्ष्य सः।
गुर्वर्थं दक्षिणाकाले प्राप्तेऽमन्यत वै गुरुः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पाण्डवों तथा धृतराष्ट्र के पुत्रों को अस्त्र-विद्या में निपुण देख द्रोणाचार्य ने गुरु-दक्षिणा लेने का समय आया जान मन-ही-मन कुछ निश्चय किया।

ततः शिष्यान् समानीय आचार्योऽर्थमचोदयत्।
द्रोणः सर्वानशेषेण दक्षिणार्थं महीपते ॥२॥

जनमेजय! तब आचार्य द्रोण ने अपने शिष्यों को बुलाकर उन सबसे गुरु-दक्षिणा के लिए इस प्रकार कहा—

पाञ्चालराजं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि।
पर्यानयत भद्रं वः सा स्यात् परमदक्षिणा ॥३॥

"शिष्यो! पाञ्चालराज द्रुपद को युद्ध में कैद करके मेरे पास ले आओ। तुम्हारा कल्याण हो। यही मेरे लिए सर्वोत्तम गुरुदक्षिणा होगी।"

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे रथैस्तूर्णं प्रहारिणः।
आचार्यधनदानार्थं द्रोणेन सहिता ययुः ॥४॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर, शीघ्रतापूर्वक प्रहार करनेवाले वे सब राजकुमार [युद्ध के लिए उद्यत हो] रथों में बैठकर गुरुदक्षिणा चुकाने के लिए आचार्य द्रोण के साथ ही वहाँ से प्रस्थित हुए।

ततोऽभिजग्मुः पाञ्चालान् निघ्नन्तस्ते नरर्षभाः।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महौजसः ॥५॥

फिर वे महापराक्रमी नरश्रेष्ठ राजकुमार पाञ्चाल देश में जा पहुँचे और वहाँ के निवासियों को मारते-पीटते हुए महाबली राजा द्रुपद की राजधानी को भी रौंदने लगे।

तस्मिन्काले तु पाञ्चालः श्रुत्वा दृष्ट्वा महद् बलम्।
भ्रातृभिः सहितो राजंस्त्वरया निर्ययौ गृहात् ॥६॥

हे जनमेजय! उस समय पाञ्चालराज द्रुपद कौरवों का आक्रमण सुनकर और उनकी विशाल सेना को अपनी आँखों से देखकर बड़ी उतावली के साथ भाइयों के सहित राजभवन से बाहर निकला।

ततो रथेन शुभ्रेण समासाद्य तु कौरवान्।
यज्ञसेनः शरान् घोरान् ववर्ष युधि दुर्जयः ॥७॥

महाराज यज्ञसेन [द्रुपद] को युद्ध में जीतना बहुत कठिन था। वे एक देदीप्यमान रथ पर आरुढ़ हो कौरवों के सामने जा पहुँचे और भीषण बाण-वृष्टि करने लगे।

पूर्वमेव तु सम्मन्त्र्य पार्थो द्रोणमथाब्रवीत्।
दर्पोद्रेकात् कुमाराणामाचार्यं द्विजसत्तमम् ॥८॥

उधर कौरवों तथा अन्य राजकुमारों को अपने पराक्रम का बड़ा अभिमान था, अतः अर्जुन ने पहले ही विचार-विमर्श करके विप्रवर द्रोणाचार्य से कहा—

एषां पराक्रमस्यान्ते वयं कुर्याम साहसम् ।
एतैरशक्यः पाञ्चालो गृहीतुं रणमूर्धनि ॥६॥

"गुरुदेव ! इनके पराक्रम दिखाने के पश्चात् हम लोग युद्ध करेंगे । हमारा विश्वास है ये लोग युद्ध में पाञ्चालराज को बन्दी नहीं बना सकते ।"

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सहितोऽनघः ।
अर्धक्रोशे तु नगरादतिष्ठद् बहिरेव सः ॥१०॥

ऐसा कहकर निष्पाप कुन्तीनन्दन अर्जुन अपने भाइयों के साथ नगर से बाहर ही आधे कोस की दूरी पर ठहर गये ।

द्रुपदः कौरवान् दृष्ट्वा प्राधावत समन्ततः ।
शरजालेन महता मोहयन् कौरवीं चमूम् ॥११॥
तमुद्यतं रथेनैकमाशुकारिणमाहवे ।
अनेकमिव संत्रासान्मेनिरे तत्र कौरवाः ॥१२॥

उधर राजा द्रुपद ने कौरवों को देखकर उनपर सब ओर से आक्रमण किया तथा बाणों का बड़ा भारी जाल-सा बिछाकर कौरव-सेना को मूर्च्छित कर दिया । युद्ध में फुर्ती दिखानेवाले राजा द्रुपद रथ पर बैठकर यद्यपि अकेले ही बाणवर्षा कर रहे थे, तो भी अत्यन्त भय के कारण कौरव उन्हें अनेक-सा मानने लगे ।

श्रुत्वा सुतुमुलं युद्धं कौरवा नेव भारत ।
द्रवन्ति स्म नदन्ति स्म क्रोशन्तः पाण्डवान् प्रति ॥१३
पाण्डवास्तु स्वनं श्रुत्वा आर्तानां लोमहर्षणम् ।
अभिवाद्य ततो द्रोणं रथानारुरुहुस्तदा ॥१४॥

हे जनमेजय ! इधर गुप्तचरों के मुख से यह समाचार सुनकर कि वहाँ तुमुल युद्ध हो रहा है और कौरव वहाँ नहीं के बराबर हो गये हैं तथा कौरव सैनिक चीखते-चिल्लाते और कराहते हुए हम पाण्डवों की ओर भागते आ रहे हैं, पाण्डव लोग उन पीड़ित सैनिकों का रोमाञ्चकारी आर्तनाद कान में पड़ते ही आचार्य द्रोण को प्रणाम करके रथों पर जा बैठे और शीघ्र वहाँ से चल दिये ।

भीमसेनो महाबाहुर्दण्डपाणिरिवान्तकः ।
प्रविवेश महासेनां मकरः सागरं यथा ॥१५॥

[वहाँ पहुँचकर] महाबाहु भीमसेन दण्डपाणि यमराज की भाँति पाञ्चालों की उस विशाल सेना में घुस गये, ठीक उसी प्रकार, जैसे समुद्र में मगर प्रवेश करता है ।

स युद्धकुशलः पार्थो बाहुवीर्येण चातुलः ।
अहनत् कुञ्जरानीकं गदया कालरूपधृत् ॥१६॥

कुन्तीकुमार भीम युद्ध में कुशल तो थे ही, बाहुबल में भी उनकी समानता करनेवाला कोई नहीं था । उन्होंने कालरूप धारण कर गदा की मार से गजसेना का संहार आरम्भ किया ।

गजानश्वान् रथाँश्चैव पातयामास पाण्डवः ।
पदातींश्च रथाँश्चैव न्यवधीदर्जुनाग्रजः ॥१७॥

अर्जुन के बड़े भाई पाण्डुनन्दन भीम ने हाथियों घोड़ों एवं रथों को धराशायी कर दिया, पैदलों तथा रथियों का संहार कर डाला ।

गोपाल इव दण्डेन यथा पशुगणान् वने ।
चालयन् रथनागाँश्च संचचाल वृकोदरः ॥१८॥

जैसे ग्वाला वन में दण्ड से पशुओं को हाँकता है, उसी प्रकार भीमसेन रथियों और हाथियों को खदेड़ते हुए उनका पीछा करने लगे ।

भारद्वाजप्रियं कर्तुमुद्यतः फाल्गुनस्तदा ।
पार्षतं शरजालेन क्षिपन्नागात् स पाण्डवः ॥१९॥
हयौघाँश्च रथौघाँश्च गजौघाँश्च समन्ततः ।
पातयन् समरे राजन् युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥२०॥

राजन् ! उसी समय द्रोणाचार्य का प्रिय करने के लिए उद्यत हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन बाणसमूहों की वर्षा करते हुए द्रुपद पर चढ़ आये । वे रणभूमि में घोड़ों, रथों और हाथियों के झुण्डों का सब ओर से संहार करते हुए प्रलयकालीन अग्नि के समान प्रकाशित हो रहे थे ।

तद् युद्धमभवद् घोरं सुमहाद्भुतदर्शनम् ।
सिंहनादश्च संजज्ञे साधुशब्देन मिश्रितः ॥२१॥

वह युद्ध अत्यन्त भयानक और देखने में बड़ा ही अद्भुत था । उस समय पाण्डव-दल में साधुवाद के साथ-साथ सिंहनाद हो रहा था ।

ततो हलहलाशब्द आसीत् पाञ्चालके बले ।
जिघृक्षति महासिंहो गजानामिव यूथपम् ॥२२॥

जैसे महासिंह हाथियों के यूथपति को पकड़ने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार अर्जुन द्रुपद को पकड़ना

ही चाहते थे कि पाञ्चालों की सेना में हाहाकार मच गया।

दृष्ट्वा पार्थं तदाऽऽयान्तं सत्यजित् सत्यविक्रमः।
पाञ्चालं वै परिप्रेप्सुर्धनञ्जयमुपाद्रवत् ॥२३॥
ततस्त्वर्जुनपाञ्चालौ युद्धाय समुपागतौ।
व्यक्षोभयेतां तौ सैन्यमिन्द्रवैरोचनाविव ॥२४॥

जब [द्रुपद के भाई] सत्यपराक्रमी सत्यजित् ने देखा कि कुन्तीपुत्र धनंजय पाञ्चाल नरेश को पकड़ने के लिए आगे बढ़े आ रहे हैं, तब वे उनकी रक्षा के लिए अर्जुन पर टूट पड़े। फिर तो इन्द्र और बलि की भाँति अर्जुन और पाञ्चाल सत्यजित् ने युद्ध के लिए आमने-सामने आकर सारी सेनाओं को क्षोभ में डाल दिया।

ततः सत्यजितं पार्थो दशभिर्मर्मभेदिभिः।
विव्याध बलवद् गाढं तदद्भुतमिवाभवत् ॥२५॥

तब अर्जुन ने दस मर्मभेदी बाणों द्वारा सत्यजित् पर बलपूर्वक गहरा आघात करके उन्हें घायल कर दिया। यह अद्भुत-सी बात हुई।

ततस्तस्य विनाशार्थं सत्वरं व्यसृजच्छरान्।
हयान् ध्वजं धनुर्मुष्टिमुभौ तौ पार्ष्णिसारथी।
स तथा भिद्यमानेषु कार्मुकेषु पुनः पुनः ॥२६॥
हयेषु विनियुक्तेषु विमुखोऽभवदाहवे।
स सत्यजितमालोक्य तथा विमुखमाहवे ॥२७॥
वेगेन महता राजन्नभ्यवर्षत पाण्डवम्।
तदा चक्रे महद् युद्धमर्जुनो जयतां वरः ॥२८॥

फिर उनके विनाश के लिए उन्होंने शीघ्र ही बाणों की झड़ी लगा दी। सत्यजित् के घोड़े, ध्वजा, धनुष, मुट्ठी तथा पार्श्वरक्षक एवं सारथि दोनों को अर्जुन ने क्षतविक्षत कर दिया। इस प्रकार बार-बार धनुष के छिन्न-भिन्न होने और घोड़ों के मारे जाने पर सत्यजित् युद्धभूमि से भाग गये। राजन्! उन्हें इस प्रकार युद्ध से विमुख हुआ देख पाञ्चाल-नरेश द्रुपद ने पाण्डुनन्दन अर्जुन पर बड़े वेग से बाण-वृष्टि आरम्भ की। तब विजयी वीरों में श्रेष्ठ अर्जुन ने उनसे बड़ा भारी युद्ध आरम्भ किया।

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा ध्वजं चोर्व्यामपातयत्।
पञ्चभिस्तस्य विव्याध हयान् सूतं च सायकैः ॥२९॥

उन्होंने पाञ्चालराज के धनुष को काट उनकी ध्वजा को भी काटकर धरती पर गिरा दिया। फिर पाँच बाणों से उनके घोड़ों और सारथि को भी घायल कर दिया।

तत उत्सृज्य तच्चापमाददानं शरावरम्।
खड्गमुद्धृत्य कौन्तेयः सिंहनादमथाकरोत् ॥३०॥

तत्पश्चात् उस कटे हुए धनुष को त्यागकर जब राजा द्रुपद दूसरा धनुष और तूणीर लेने लगे, उस समय अर्जुन ने म्यान से तलवार निकालकर सिंह के समान गर्जना करते हुए—

पाञ्चालस्य रथस्येषामाप्लुत्य सहसापतत्।
पाञ्चालरथमास्थाय अवित्रस्तो धनंजयः ॥३१॥
विक्षोभ्याम्भोनिधिं पार्थस्तं नागमिव सोऽग्रहीत्।
ततस्तु सर्वपाञ्चाला विद्रवन्ति दिशो दश ॥३२॥

वे सहसा पाञ्चाल-नरेश के रथ के जुए पर ही कूद पड़े। इस प्रकार द्रुपद के रथ पर चढ़कर निर्भीक अर्जुन ने जैसे गरुड़ समुद्र को क्षुब्ध करके सर्प को पकड़ लेता है, उसी प्रकार उन्हें अपने काबू में कर लिया। तब समस्त पाञ्चाल सैनिक [भयभीत हो] दशों दिशाओं में भागने लगे।

दर्शयन् सर्वसैन्यानां स बाह्वोर्बलमात्मनः।
सिंहनादस्वनं कृत्वा निर्जगाम धनञ्जयः ॥३३॥

समस्त सैनिकों को अपना बाहु-बल दिखाते हुए अर्जुन सिंहनाद करके वहाँ से लौटे।

ते यज्ञसेनं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि।
उपाजह्रुः सहामात्यं द्रोणाय भरतर्षभ ॥३४॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! उन पाण्डवों ने यज्ञसेन द्रुपद को मन्त्रियों सहित युद्धभूमि में बन्दी बनाकर द्रोणाचार्य को उपहार के रूप में दे दिया।

भग्नदर्पं हृतधनं तं तथा वशमागतम्।
स वैरं मनसा ध्यात्वा द्रोणो द्रुपदमब्रवीत् ॥३५॥

उनका अभिमान चूर्ण हो गया था, धन छीन लिया गया था और वे पूर्णरूप से वश में आ चुके थे, उस समय द्रोणाचार्य ने मन-ही-मन पिछले वैर का स्मरण करके राजा द्रुपद से कहा—

विमृद्य तरसा राष्ट्रं पुरं ते मृदितं मया।
प्राप्य जीवं रिपुवशं सखिपूर्वं किमिष्यते ॥३६॥

"राजन् ! मैंने बलपूर्वक तुम्हारे राष्ट्र को रौंद डाला। तुम्हारी राजधानी मिट्टी में मिला दी। अब तुम शत्रु के वश में पड़े हुए जीवन को लेकर यहाँ आये हो। बोलो, तुम अब भी पुरानी मित्रता चाहते हो क्या ?"

एवमुक्त्वा प्रहस्यैनं किञ्चित् स पुनरब्रवीत्।
मा भैः प्राणभयाद् वीर क्षमिणो ब्राह्मणा वयम् ॥३७

ऐसा कहकर द्रोणाचार्य कुछ हँसे। फिर उनसे इस प्रकार बोले—"वीर ! प्राणों पर संकट आया जानकर भयभीत मत होओ। हम ब्राह्मण क्षमाशील होते हैं।"

आश्रमे क्रीडितं यत्तु त्वया बाल्ये मया सह।
तेन संवर्द्धितः स्नेहः प्रीतिश्च क्षत्रियर्षभ ॥३८॥

"क्षत्रियशिरोमणे ! तुम बाल्यकाल में मेरे साथ आश्रम में जो खेले-कूदे हो, उससे तुम्हारे ऊपर मेरा प्रेम बहुत बढ़ गया है।

प्रार्थयेयं त्वया सख्यं पुनरेव जनाधिप।
वरं ददामि ते राजन् राज्यस्यार्धमवाप्नुहि ॥३९॥

"नरेश्वर ! मैं पुनः तुमसे मैत्री के लिए प्रार्थना करता हूं। राजन् ! मैं तुम्हें वर देता हूँ, तुम इस राज्य का आधा भाग मुझसे ले लो।

अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हति।
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन मया तव ॥४०॥

"यज्ञसेन ! तुमने कहा था—जो राजा नहीं है वह राजा का मित्र नहीं हो सकता, इसीलिए मैंने तुम्हारा राज्य लेने का प्रयत्न किया है—

राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याहमुत्तरे।
सखायं मां विजानीहि पाञ्चाल यदि मन्यसे ॥४१॥

"गङ्गा के दक्षिण प्रदेश के तुम राजा बनो और उत्तर के भूभाग का मैं राजा बनूं। पाञ्चाल ! अब यदि उचित समझो, तो मुझे अपना मित्र मान लो।"

द्रुपद उवाच

अनाश्चर्यमिदं ब्रह्मन् विक्रान्तेषु महात्मसु।
प्रीये त्वयाहं त्वत्तश्च प्रीतिमिच्छामि शाश्वतीम् ॥४२॥

द्रुपद बोला—हे ब्रह्मन् ! आप जैसे पराक्रमी महात्माओं में ऐसी उदारता का होना आश्चर्य की बात नहीं है। मैं आपसे अति प्रसन्न हूँ तथा आपके साथ सदा बनी रहनेवाली मैत्री एवं प्रेम चाहता हूं।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स तं द्रोणो मोक्षयामास भारत।
सत्कृत्य चैनं प्रीतात्मा राज्यार्धं प्रत्यपादयत् ॥४३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे भारत ! द्रुपदराज के ऐसा कहने पर द्रोणाचार्य ने उन्हें बन्धन-मुक्त कर दिया और प्रसन्नचित्त हो उनका आदर-सत्कार करके उन्हें आधा राज्य दे दिया।

इति महाभारते आदिपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर का युवराजपद पर अभिषेक, पाण्डवों के शौर्य और कीर्ति से धृतराष्ट्र की चिन्ता

वैशम्पायन उवाच

ततः संवत्सरस्यान्ते यौवराज्याय पार्थिव।
स्थापितो धृतराष्ट्रेण पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥१॥
धृतिस्थैर्यसहिष्णुत्वादानृशंस्यात् तथार्जवात्।
भृत्यानामनुकम्पार्थं तथैव स्थिरसौहृदात् ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्, तत्पश्चात् एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर धृतराष्ट्र ने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को धृति, स्थिरता, सहिष्णुता, दयालुता, सरलता और अविचल सौहार्द आदि गुणों के कारण पालन करने योग्य प्रजा पर अनुग्रह करने के लिए युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया।

ततोऽदीर्घेण कालेन कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
पितुरन्तर्दधे कीर्तिं शीलवृत्तसमाधिभिः ॥३॥

तब थोड़े ही दिनों में कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने अपने शील=उत्तम स्वभाव, वृत्त=सदाचार एवं सद्व्यवहार तथा समाधि [मनोयोगपूर्वक प्रजा-पालन की प्रवृत्ति] के द्वारा अपने पिता महाराज पाण्डु की कीर्ति को भी ढक दिया।

असियुद्धे गदायुद्धे रथयुद्धे च पाण्डवः।
संकर्षणादशिक्षद् वै शश्वच्छिक्षां वृकोदरः ॥४॥

पाण्डुनन्दन भीमसेन बलरामजी से नित्य-प्रति खड्गयुद्ध, गदायुद्ध और रथयुद्ध की शिक्षा लेने लगे।

समाप्तशिक्षो भीमस्तु द्युमत्सेनसमो बले।
पराक्रमेण सम्पन्नो भ्रातृणामचरद् वशे ॥५॥

शिक्षा समाप्त होने पर भीमसेन बल में राजा द्युमत्सेन के समान हो गये। इस प्रकार पराक्रम से सम्पन्न हो वे अपने भाइयों के अनुकूल रहने लगे।

प्रगाढदृढमुष्टित्वे लाघवे वेधने तथा।
क्षुरनाराचभल्लानां प्रयोक्ता फाल्गुनोऽभवत् ॥६॥

अर्जुन अत्यन्त दृढ़तापूर्वक मुट्ठी से धनुष को पकड़ने में, हाथों की फुर्ती में और लक्ष्य बींधने में अतिचतुर निकले। वे क्षुर, नाराच और भल्ल आदि अस्त्रों का सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकते थे।

लाघवे सौष्ठवे चैव नान्यः कश्चन विद्यते।
बीभत्सुसदृशो लोके इति द्रोणो व्यवस्थितः ॥७॥

इसलिए द्रोणाचार्य का यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि फुर्ती और सफाई में अर्जुन के समान दूसरा कोई योद्धा इस संसार में नहीं है।

ततोऽब्रवीत् गुडाकेशं द्रोणः कौरवसंसदि।
आचार्यदक्षिणां देहि ज्ञातिग्रामस्य पश्यतः ॥८॥

तब एक दिन द्रोणाचार्य ने कौरवों की भरी सभा में निद्रा-विजेता अर्जुन से कहा—"तुम भाई-बन्धुओं के सामने ही मुझे एक गुरु-दक्षिणा दो।"

दास्यामीति प्रतिज्ञाते फाल्गुनेनाब्रवीत् गुरुः।
युद्धेऽहं प्रतियोद्धव्यो युध्यमानस्त्वयानघ ॥९॥

"अवश्य दूँगा।" अर्जुन द्वारा ऐसी प्रतिज्ञा करने पर गुरु द्रोण बोले—"निष्पाप अर्जुन! यदि युद्ध-भूमि में मैं भी तुम्हारे विरुद्ध लड़ने को आऊँ तो तुम मेरा भी सामना करना।"

तथेति च प्रतिज्ञाय द्रोणाय कुरुपुङ्गवः।
उपसंगृह्य चरणौ स प्रायादुत्तरां दिशम् ॥१०॥

यह सुनकर कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ने 'बहुत अच्छा' कहते हुए उनकी इस आज्ञा का पालन करने की प्रतिज्ञा की तथा गुरु के दोनों चरण पकड़कर उन्होंने सर्वोत्तम उपदेश प्राप्त कर लिया।

स्वभावादगमच्छब्दो महीं सागरमेखलाम्।
अर्जुनस्य समो लोके नास्ति कश्चिद् धनुर्धरः ॥११॥

कुछ ही समय में समुद्र-पर्यन्त पृथिवी पर सब ओर अपने-आप ही यह बात फैल गई कि संसार में अर्जुन के समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है।

नीतिमान् सकलां नीतिं विबुधाधिपतेस्तदा।
अवाप्य सहदेवोऽपि भ्रातृणां ववृते वशे ॥१२॥
द्रोणेनैव विनीतश्च भ्रातृणां नकुलः प्रियः।
चित्रयोधी समाख्यातो बभूवातिरथोदितः ॥१३॥

सहदेव भी उस समय द्रोण के रूप में अवतीर्ण देवताओं के आचार्य बृहस्पति से सम्पूर्ण नीतिशास्त्र की शिक्षा पाकर नीतिमान् हो अपने भाइयों के अनुकूल होकर रहते थे। नकुल ने भी द्रोणाचार्य से ही अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा पायी थी। वे अपने भाइयों को अति प्रिय थे और विचित्र प्रकार से युद्ध करने में उनकी बड़ी ख्याति थी। वे अतिरथी वीर कहे जाते थे।

न शशाक वशे कर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान्।
सोऽर्जुनेन वशं नीतो राजाऽऽसीद् यवनाधिपः ॥१४॥

पराक्रमी राजा पाण्डु भी जिसे वश में नहीं ला सके थे, उस यवनदेश [यूनान] के राजा को भी जीतकर अर्जुन ने अपने वश में कर लिया।

भीमसेनसहायश्च रथानामयुतं च सः।
अर्जुनः समरे प्राच्यान् सर्वानेकरथोऽजयत् ॥१५॥

इतना ही नहीं, अर्जुन ने केवल भीमसेन की सहायता से एकमात्र रथ पर आरूढ हो युद्ध में पूर्व दिशा के सम्पूर्ण योद्धाओं तथा दस सहस्र रथियों को जीत लिया।

तथैवैकरथो गत्वा दक्षिणमजयद् दिशम्।
धनौघं प्रापयामास कुरुराष्ट्रं धनञ्जयः ॥१६॥

इसी प्रकार केवल एक रथ से यात्रा करके धनंजय ने दक्षिण दिशा पर भी विजय पायी और अपने 'धनंजय' नाम को सार्थक करते हुए कुरुदेश की राजधानी में धन की राशि पहुँचायी।

ततो बलमतिख्यातं विज्ञाय दृढधन्विनाम्।
दूषितः सहसा भावो धृतराष्ट्रस्य पाण्डुषु।
स चिन्तापरमो राजा न निद्रामलभन्निशि ॥१७॥

तब दृढ़तापूर्वक धनुष धारण करनेवाले पाण्डवों के अत्यन्त विख्यात बल-पराक्रम की बात जानकर उनके प्रति राजा धृतराष्ट्र का भाव मानो सहसा ही दूषित हो गया। अत्यन्त चिन्ता में निमग्न हो जाने के कारण उन्हें रात में नींद भी नहीं आती थी।

इति महाभारते आदिपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्यायः

कणिक-नीति—कणिक का धृतराष्ट्र को कूटनीति का उपदेश

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा पाण्डुसुतान्वीरान्बलोद्रिक्तान्महौजसः।
धृतराष्ट्रो महीपालश्चिन्तामगमदातुरः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! पाण्डु के वीर पुत्रों को महान् तेजस्वी और बल में बढ़े-चढ़े सुनकर महाराज धृतराष्ट्र व्याकुल हो बड़ी चिन्ता में पड़ गये।

तत आहूय मन्त्रज्ञं राजशास्त्रार्थवित्तमम्।
कणिकं मन्त्रिणां श्रेष्ठं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् वचः ॥२॥

तब राजनीति और अर्थ-शास्त्र के पण्डित एवं उत्तम मन्त्र के ज्ञाता मन्त्रिप्रवर कणिक को बुलाकर धृतराष्ट्र ने इस प्रकार कहा—

धृतराष्ट्र उवाच

उत्सिक्ताः पाण्डवा नित्यं तेभ्योऽसूये द्विजोत्तम।
तत्र मे निश्चितं यत्तु सन्धिविग्रहकारणम् ॥
कणिक त्वं ममाचक्ष्व करिष्ये वचनं तव ॥३॥

धृतराष्ट्र बोले—द्विजश्रेष्ठ! पाण्डवों की दिनों-दिन उन्नति और सर्वत्र ख्याति हो रही है, अतः मैं उनसे डाह रखने लगा हूँ। कणिक! तुम भली-भाँति निश्चय करके बतलाओ कि मुझे उनके साथ सन्धि करनी चाहिए या विग्रह? मैं तुम्हारी बात मानूंगा।

कणिक उवाच

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात् परेषां विवरानुगः ॥४॥

कणिक बोले—राजा को सर्वदा दण्ड देने के लिए उद्यत रहना चाहिए तथा सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करते रहना चाहिए। राजा अपना छिद्र=दुर्बलता प्रकट न होने दे, परन्तु दूसरों के छिद्र या दुर्बलता पर सदा दृष्टि रखे। और यदि शत्रुओं की निर्बलता का पता लग जाए, तो उन पर आक्रमण कर दे।

नित्यमुद्यतदण्डाद्धि भृशमुद्विजते जनः।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि दण्डेनैव विधारयेत् ॥५॥

जो सदा दण्ड देने के लिए उद्यत रहता है, उससे प्रजाजन बहुत डरते हैं, अतः सब कार्य दण्ड के द्वारा ही सिद्ध करे।

नास्यच्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेण परमन्वियात्।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥६॥
नासम्यक्कृतकारी स्यादुपक्रम्य कदाचन।
कण्टको ह्यपि दुश्छिन्न आस्रावं जनयेच्चिरम् ॥७॥

राजा को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि शत्रु उसकी दुर्बलता को न जान सके और यदि शत्रु की दुर्बलता प्रकट हो जाए तो उसपर आक्रमण कर दे। जैसे कछुआ अपने अङ्गों की रक्षा करता है, वैसे ही राजा अपने सब अङ्गों—राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल और सुहृत्—की रक्षा करे तथा अपनी दुर्बलता को छिपाये रखे। यदि कोई कार्य आरम्भ कर दे तो उसे पूर्ण किये बिना कभी न छोड़े, क्योंकि शरीर में गड़ा हुआ काँटा यदि आधा टूटकर भीतर रह जाए, तो वह बहुत दिनों तक मवाद देता रहता है।

वधमेव प्रशंसन्ति शत्रूणामपकारिणाम्।
सुविदीर्णं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ॥८॥
आपद्यापदि काले च कुर्वीत न विचारयेत्।
नाविज्ञेयो रिपुस्तात दुर्बलोऽपि कथञ्चन ॥९॥

'अपना अनिष्ट करनेवाले शत्रुओं का वध कर दिया जाए'—इसी की नीतिज्ञ पुरुष प्रशंसा करते हैं। अत्यन्त पराक्रमी पुरुष को भी आपत्ति में पड़ा देख उसे सुगमतापूर्वक नष्ट कर दे। इसी प्रकार जो

अच्छी प्रकार युद्ध करनेवाला शत्रु है, उसे भी आपत्ति काल में ही अनायास मार भगाये। आपत्ति के समय शत्रु का संहार अवश्य ही करे। उस समय उसके सम्बन्ध या सौहार्द आदि का विचार कदापि न करे। तात ! शत्रु दुर्बल हो, तो भी किसी प्रकार उसकी उपेक्षा न करे।

अल्पोऽप्यग्निर्वनं कृत्स्नं दहत्याश्रयसंश्रयात्।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि चाश्रयेत् ॥१०॥

क्योंकि जैसे थोड़ी-सी भी आग ईंधन का सहारा पाकर समस्त वन को जला डालती है, वैसे ही छोटा-सा शत्रु भी दुर्गादि प्रबल आश्रय का सहारा लेकर विनाशकारी बन जाता है। अन्धा बनने का अवसर आने पर अन्धा बन जाए—अर्थात् अपने असामर्थ्य के समय शत्रु के दोषों को न देखे। उस समय सब ओर से धिक्कार और निन्दा मिलने पर भी उसे अनसुनी कर दे अर्थात् उसकी ओर से कान बन्द करके बहरा बन जाए।

कुर्यात् तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम्।
सामादिभिरुपायैस्तु हन्याच्छत्रुं वशे स्थितम् ॥११॥

ऐसे समय में अपने धनुष को तिनके के समान बना दे अर्थात् शत्रु की दृष्टि में सर्वथा दीन-हीन एवं असमर्थ बन जाए, परन्तु व्याध की भाँति सोये अर्थात् जैसे व्याध झूठे ही नींद का बहाना करके सो जाता है और जब मृग आश्वस्त होकर उसके आस-पास चरने लगते हैं, तब उठकर उन्हें बाण से बींध देता है। इसी प्रकार शत्रु को मारने का अवसर देखते हुए ही अपने स्वरूप और मनोभाव को छिपाकर असमर्थों का-सा व्यवहार करे। इस प्रकार कपटपूर्ण व्यवहार से वश में आये हुए शत्रु को साम आदि उपायों से विश्वास उत्पन्न करके मार डाले।

दया न तस्मिन् कर्तव्या शरणागत इत्युत।
निरुद्विग्नो हि भवति नहताज्जायते भयम् ॥१२॥

'यह मेरी शरण में आया है' ऐसा सोचकर उसके प्रति दया नहीं दिखानी चाहिए। शत्रु को मार देने से ही राजा निर्भय हो सकता है। यदि शत्रु मारा न गया तो उससे सदा ही भय बना रहता है।

हन्यादमित्रं दानेन तथा पूर्वापकारिणम्।
हन्यात् त्रीन् पञ्च सप्तेति परपक्षस्य सर्वशः ॥१३॥

जो सहज शत्रु है, उसको मुँहमाँगी वस्तु देकर—दान द्वारा विश्वास उत्पन्न करके मार डाले। इसी प्रकार जो पहले का अपकारी शत्रु हो तथा पीछे सेवक बन गया हो, उसे भी जीवित न छोड़े। शत्रु के त्रिवर्ग[1], पञ्चवर्ग[2] और सप्तवर्ग[3] का सर्वथा नाश कर डाले।

मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य नित्यशः।
ततः सहायाँस्तत्पक्षान् सर्वांश्च तदनन्तरम् ॥१४॥

पहले तो सदा शत्रुपक्ष के मूल का ही उच्छेद कर डाले। तत्पश्चात् उसके सहायकों और शत्रुपक्ष से सम्बन्ध रखनेवाले सभी लोगों का संहार कर दे।

छिन्नमूले ह्यधिष्ठाने सर्वे तज्जीविनो हताः।
कथं नु शाखास्तिष्ठेरंश्छिन्नमूले वनस्पतौ ॥१५॥

यदि मूल आधार नष्ट हो जाए तो उसके आश्रय से जीवन धारण करनेवाले सभी शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं। यदि वृक्ष की जड़ काट दी जाए तो उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती हैं?

एकाग्रः स्यादविवृतो नित्यं विवरदर्शकः।
राजन् नित्यं सपत्नेषु नित्योद्विग्नः समाचरेत् ॥१६॥

राजा सदा शत्रु की गतिविधि को जानने के लिए एकाग्र रहे। अपने राज्य के सभी अङ्गों को गुप्त रखे।

---

१. यहाँ त्रिवर्ग का तात्पर्य है तीन प्रकार की शक्तियाँ—(१) ऐश्वर्यशक्ति (२) उत्साहशक्ति और (३) मन्त्र-शक्ति। दुर्गादि पर आक्रमण करके शत्रु की ऐश्वर्यशक्ति नष्ट करनी चाहिए। विश्वसनीय व्यक्तियों द्वारा अपने उत्कर्ष का बखान कराकर शत्रु को तेजहीन करते हुए उसके उत्साह को मन्द करना उत्साहशक्ति का नाश करना है। गुप्तचरों द्वारा उसकी गुप्तमन्त्रणा को प्रकट कर देना ही मन्त्रशक्ति का नाश करना है।

२. अमात्य=मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग (किला), कोष और सेना—ये पाँच प्रकृतियाँ ही पञ्चवर्ग हैं।

३. साम, दान, भेद, दण्ड, उद्‌बन्धन, विशेषयोग और आग लगाना—शत्रु को दबाने या वश में करने के ये सात साधन ही सप्तवर्ग हैं।

राजन् ! सदा अपने शत्रुओं की दुर्बलता पर दृष्टि रखो और उनसे सदा सावधान रहो ।

अग्न्याधानेन यज्ञेन काषायेण जराजिनैः ।
लोकान्विश्वासयित्वैव ततो लुम्पेद्यथा वृकः ॥१७॥

अग्निहोत्र और यज्ञ करके, गेरुए वस्त्र, जटा और मृगचर्म धारण करके पहले लोगों में विश्वास उत्पन्न करे, फिर अवसर देखकर भेड़िये की भाँति शत्रु पर टूट पड़े और उसे नष्ट कर दे ।

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत् कालविपर्ययः ।
ततः प्रत्यागते काले भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ॥१८॥

जबतक समय बदलकर अपने अनुकूल न हो जाए, तबतक शत्रु को कन्धे पर बिठाकर ढोना पड़े तो ढोये । परन्तु जब अपने अनुकूल समय आ जाए तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे जैसे घड़े को पत्थर पर पटककर फोड़ डालते हैं ।

अमित्रो न विमोक्तव्यः कृपणं बह्वपि ब्रुवन् ।
कृपा न तस्मिन् कर्तव्या हन्यादेवापकारिणम् ॥१९॥

शत्रु बहुत दीनतापूर्वक वचन बोले, तो भी उसे जीवित नहीं छोड़ना चाहिए । उसपर दया नहीं करनी चाहिए । अपकारी शत्रु को मार ही डालना चाहिए ।

हन्यादमित्रं सान्त्वेन तथा दानेन वा पुनः ।
तथैव भेददण्डाभ्यां सर्वोपायैः प्रशान्तयेत् ॥२०॥

साम अथवा दान तथा भेद एवं दण्ड—सभी उपायों द्वारा शत्रु को मार डाले—उसे मिटा दे ।

भयेन भेदयेद् भीरुं शूरमञ्जलिकर्मणा ।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं न्यूनं तथौजसा ॥२१॥

कायर को भय दिखाकर फोड़ ले । जो शूरवीर हो, उसे हाथ जोड़कर वश में करे । लोभी को धन देकर तथा बराबर और निर्बल को पराक्रम से वश में करे ।

पुत्रः सखा वा भ्राता वा पिता वा यदि वा गुरुः ।
रिपुस्थानेषु वर्तन्तो हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥२२॥

पुत्र, मित्र, भाई, पिता अथवा गुरु कोई भी क्यों न हो, जो शत्रु के स्थान पर आये—शत्रुवत् व्यवहार करने लगे—तो उसे एश्वर्य चाहनेवाला राजा अवश्य मार डाले ।

शपथेनाप्यरिं हन्यादर्थदानेन वा पुनः ।
विषेण मायया वापि नोपेक्षेत कथञ्चन ॥२३॥

सौगन्ध खाकर, धन अथवा विष देकर या धोखे से भी शत्रु को मार डाले । किसी प्रकार भी उसकी उपेक्षा न करे ।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ॥२४॥

यदि गुरु भी अभिमान के वशीभूत होकर कर्तव्य और अकर्तव्य को न जानता हो तथा कुमार्ग पर चलता हो तो उसे भी दण्ड देना उचित माना जाता है ।

क्रुद्धोऽप्यक्रुद्धरूपः स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता ।
न चाप्यन्यमपध्वंसेत् कदाचित् कोपसंयुतः ॥२५॥
प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहरन्नपि भारत ।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचेत च रुदेत च ॥२६॥

मन में क्रोध भरा हो, तो भी ऊपर से क्रोधशून्य बना रहे और मुस्कराकर बात-चीत करे । कभी क्रोध में आकर किसी दूसरे का तिरस्कार न करे । भारत ! शत्रु पर प्रहार करने से पूर्व और प्रहार करते समय भी उससे मीठे वचन ही बोले । शत्रु को मारकर भी उसके प्रति दया दिखाये । उसके लिए शोक करे रोये तथा आँसू बहाये ।

आश्वासयेच्चापि परं सान्त्वधर्मार्थवृत्तिभिः ।
अथास्य प्रहरेत् काले यदा विचलिते पथि ॥२७॥

शत्रु को समझा-बुझाकर, धर्म बताकर, धन देकर और सद्व्यवहार करके आश्वासन दे—अपने प्रति उसके मन में विश्वास उत्पन्न करे, फिर समय आने पर ज्यों ही वह मार्ग से विचलित हो, त्यों ही उसपर प्रहार करे ।

अपि घोरापराधस्य धर्ममाश्रित्य तिष्ठतः ।
स हि प्रच्छाद्यते दोषः शैलो मेघैरिवासितैः ॥२८॥

धर्म के आचरण का ढोंग करने से घोर अपराध करनेवाले का दोष भी उसी प्रकार ढक जाता है, जैसे काले मेघों की घटा से पर्वत ढक जाता है ।

यः स्यादनुप्राप्तवधस्तस्यागारं प्रदीपयेत् ।
अधनान् नास्तिकांश्चौरान् विषये स्वे न वासयेत् ॥२९

जिसे शीघ्र ही मार डालने की इच्छा हो, उसके

घर में आग लगा दे। धनहीनों, नास्तिकों और चोरों को अपने राज्य में न बसने दे।

प्रत्युत्थानासनाद्येन सम्प्रदानेन केनचित्।
प्रतिविश्रब्धघाती स्यात् तीक्ष्णदंष्ट्रो निमग्नकः ।।३०।।

शत्रु के आने पर उठकर उसका स्वागत करे, आसन और भोजन दे तथा कोई प्रिय वस्तु भेंट करे। ऐसे व्यवहार से जिसका अपने प्रति पूर्ण विश्वास हो गया हो, उसे भी [अपने लाभ के लिए] मारने में संकोच न करे। सर्प की भाँति तीखे दाँतों से काटे, जिससे शत्रु फिर उठकर न बैठ सके।

अशंकितेभ्यः शङ्केत शंकितेभ्यश्च सर्वशः।
अशङ्क्याद् भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति ।।३१।।

जिनसे भय प्राप्त होने का सन्देह न हो, उनसे भी सशंक (सावधान) रहे तथा जिनसे भय की आशंका हो उनसे तो सब प्रकार से सतर्क रहे ही। जिनसे भय की शंका नहीं है, ऐसे लोगों से यदि भय उत्पन्न होता है तो वह मूलोच्छेद कर डालता है।

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ।।३२।।

जो विश्वासपात्र नहीं हैं, उसपर कभी विश्वास न करे; परन्तु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अति विश्वास न करे, क्योंकि अतिविश्वास से उत्पन्न होने-वाला भय राजा का समूलोच्छेद कर डालता है।

चारः सुविहितः कार्य आत्मनश्च परस्य वा।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रेषु योजयेत् ।।३३।।

अच्छी प्रकार से परीक्षा करके अपने तथा शत्रु के राज्य में गुप्तचर नियुक्त करे। शत्रु के राज्य में ऐसे गुप्तचर रखे जो पाखण्ड-वेशधारी अथवा तपस्वी आदि हों।

उद्यानेषु विहारेषु पानागारेषु चाप्यथ।
चत्वरेषु च कूपेषु पर्वतेषु वनेषु च।
समवायेषु सर्वेषु सरित्सु च विचारयेत् ।।३४।।

उद्यान, घूमने-फिरने के स्थान, मद्यपान के अड्डे, चौराहे, कुएं, पर्वत, वन तथा जहां मनुष्यों की भीड़ इकट्ठी होती हो, उन सभी स्थानों में अपने गुप्तचरों को घुमाता रहे।

वाचा भृशं विनीतः स्याद् हृदयेन तथा क्षुरः।
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात् सृष्टो रौद्राय कर्मणे ।।३५।।

राजा वार्तालाप में अत्यन्त विनयशील हो, परन्तु हृदय को छुरे के समान तीखा बनाये रखे। अत्यन्त भयानक कर्म करने के लिए उद्यत हो तो भी मुस्करा कर ही वार्तालाप करे।

अञ्जलिः शपथः सान्त्वं शिरसा पादवन्दनम्।
आशाकरणमित्येवं कर्तव्यं भूतिमिच्छता ।।३६।।

अवसर देखकर हाथ जोड़ना, शपथ खाना, आश्वासन देना, पैरों पर मस्तक रखकर प्रणाम करना और आशा बँधाना—ये सब ऐश्वर्य-प्राप्ति के इच्छुक राजा के कर्त्तव्य हैं।

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः।
आमः स्यात्पक्वसङ्काशो न च जीर्येत कर्हिचित् ।।३७।।

नीतिज्ञ राजा ऐसे वृक्ष के समान रहे, जिसमें फूल तो खूब लगे हों परन्तु फल न हों [वह बातों से लोगों को फल की आशा दिलाये, परन्तु उसकी पूर्ति न करे], फल लगने पर भी उसपर चढ़ना अतिकठिन हो [लोगों की स्वार्थ-सिद्धि में वह विघ्न डाले] वह रहे तो कच्चा, पर दीखे पके के समान [स्वार्थ-साधकों की दुराशा को पूर्ण न होने दे]। कभी स्वयं जीर्ण न हो अर्थात् अपना धन व्यय करके शत्रुओं का पोषण करते हुए अपने-आपको निर्धन न बना दे।

अगर्वितात्मा युक्तश्च सान्त्वयुक्तोऽनसूयिता।
अवेक्षितार्थः शुद्धात्मा मन्त्रयीत द्विजैः सह ।।३८।।

राजा अपने हृदय से अहंकार को निकाल दे। चित्त को एकाग्र रखे। सबसे मधुर बोले। दूसरों के दोष प्रकाशित न करे। सब विषयों पर दृष्टि रखे और शुद्धचित्त हो द्विजों के साथ बैठकर मन्त्रणा करे।

कर्मणा येन केनैव मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ।।३९।।

राजा यदि संकट में हो तो कोमल या कठोर—जिस किसी भी कर्म द्वारा उस दुरवस्था से अपना उद्धार करे, समर्थ हो जाने पर पुनः धर्म का आचरण करे।

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ।।४०।।

कष्ट सहे बिना मनुष्य कल्याण का दर्शन नहीं करता। प्राण-संकट में पड़कर भी यदि वह जीवित रह जाता है तो अपना कल्याण (भला) देखता है।

योऽरिणा सह संधाय शयीत कृतकृत्यवत्।
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ॥४१॥

जैसे वृक्ष के ऊपर की शाखा पर सोया हुआ मनुष्य जब गिरता है, तब होश में आता है। उसी प्रकार जो अपने शत्रु के साथ सन्धि करके निश्चिंत हो जाता है, वह शत्रु से धोखा खाने पर सचेत होता है।

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥४२॥

राजा मछलीमारों की भाँति दूसरों के मर्म विदीर्ण किये बिना—अत्यन्त क्रूर कर्म किये बिना—और बहुतों के प्राण लिये बिना बड़ी भारी सम्पत्ति नहीं प्राप्त कर पाता।

कर्शितं व्याधितं क्लिन्नमपानीयमघासकम्।
परिविश्वस्तमन्दं च प्रहर्तव्यमरेर्बलम् ॥४३॥

जब शत्रु की सेना दुर्बल, रोगग्रस्त, जल या कीचड़ में फँसी, भूख-प्यास से पीड़ित और सब ओर से विश्वस्त होकर निश्चेष्ट पड़ी हो, उस समय उस पर आक्रमण करना चाहिए।

नास्य कृत्यानि बुध्येरन् मित्राणि रिपवस्तथा।
आरब्धान्येव पश्येरन् सुपर्यवसितान्यपि ॥४४॥

मित्र और शत्रु—किसी को भी यह पता न चले कि राजा कब क्या कर्म करना चाहता है। कार्य के आरम्भ या समाप्त हो जाने पर ही सब लोग उसे देखें (जानें)।

भीतवत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥४५॥

जबतक अपने ऊपर भय आया न हो, तबतक डरे हुए की भाँति उसे टालने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु जब भय को सामने उपस्थित देखे, तब निडर होकर शत्रु पर प्रहार करना चाहिए।

दण्डेनोपनतं शत्रुमनुगृह्णाति यो नरः।
स मृत्युमुपगृह्णीयाद् गर्भमश्वतरी यथा ॥४६॥

जो मनुष्य दण्ड के द्वारा वश में किये हुए शत्रु पर दया करता है, वह मृत्यु को ही अपनाता है, ठीक वैसे ही जैसे खच्चरी गर्भ के रूप में अपनी मृत्यु को ही उदर में धारण करती है।

अनागतं हि बुध्येत यच्च कार्यं पुरःस्थितम्।
न तु बुद्धिक्षयात्किञ्चिदतिक्रामेत्प्रयोजनम् ॥४७॥

जो कार्य भविष्य में करना हो, उसपर बुद्धिपूर्वक विचारे और सम्यक् विचारकर तदनुकूल व्यवस्था करे। इसी प्रकार जो कार्य सामने उपस्थित हो, उसे भी बुद्धि से विचारकर ही करें। बुद्धि से निश्चय किये बिना किसी भी कार्य या प्रयोजन का परित्याग न करे।

आशां कालवतीं कुर्यात्कालं विघ्नेन योजयेत्।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं वापि हेतुतः ॥४८॥

यदि किसी को किसी बात की आशा दे तो उसे शीघ्र पूरी न करके दीर्घकाल तक लटकाये रखे। जब उसे पूर्ण करने का समय आये, तब उसमें कोई विघ्न डाल दे और इस प्रकार समय की अवधि को बढ़ा दे। उस विघ्न के पड़ने में कोई कारण बता दे तथा उस कारण को युक्तियों से सिद्ध कर दे।

तालवत् कुरुते मूलं बालः शत्रुरुपेक्षितः।
गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः क्षिप्रं संजायते महान् ॥४९॥

छोटे शत्रु की भी उपेक्षा कर दी जाए, तो वह ताड़ के वृक्ष की भाँति जड़ जमा लेता है तथा घने वन में छोड़ी हुई अग्नि की भाँति शीघ्र ही महान् विनाशकारी बन जाता है।

भ्रातृव्या बलिनो यस्मात् पाण्डुपुत्रा नराधिप।
पश्चात्तापो यथा न स्यात्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥५०॥

राजन्! आपके भतीजे पाण्डव बहुत बलवान् हैं, अतः आप ऐसी नीति काम में लाइए, जिससे आगे चलकर आपको पछताना न पड़े।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सम्प्रतस्थे कणिकः स्वगृहं ततः।
धृतराष्ट्रोऽपि कौरव्यः शोकार्तः समपद्यत ॥५१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर कणिक अपने घर को चले गये। इधर कुरुवंशी धृतराष्ट्र शोक से व्याकुल हो गये।

इति महाभारते आदिपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

पाण्डवों की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर दुर्योधन की चिन्ता और धृतराष्ट्र से उन्हें वारणावत भेज देने का प्रस्ताव

वैशम्पायन उवाच

गुणैः समुदितान् दृष्ट्वा पौराः पाण्डुसुतांस्तदा ।
कथयाञ्चक्रिरे तेषां गुणान् संसत्सु भारत ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे भारत ! उन दिनों पाण्डवों को सर्वगुण-सम्पन्न देख नगर-निवासी भरी सभाओं में उनके सद्‌गुणों की प्रशंसा करते थे ।

राज्यप्राप्तिं च सम्प्राप्तं ज्येष्ठं पाण्डुसुतं तदा ।
कथयन्ति स्म सम्भूय चत्वरेषु सभासु च ॥२॥

वे जहाँ कहीं चौराहों पर और सभाओं में इकट्ठे होते, वहीं पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को राज्य-प्राप्ति के योग्य बताते थे ।

प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
राज्यं न प्राप्तवान् पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत् ॥३॥

वे कहते—"प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्र नेत्रहीन होने के कारण जब पहले ही राज्य न पा सके तो अब वे राजा कैसे हो सकते हैं ?

तथा शान्तनवो भीष्मः सत्यसन्धो महाव्रतः ।
प्रत्याख्याय पुरा राज्यं न स जातु ग्रहीष्यति ॥४॥

"महान् व्रत का पालन करनेवाले शान्तनुनन्दन भीष्म तो सत्यप्रतिज्ञ हैं । वे पहले ही राज्य ठुकरा चुके हैं, अतः अब उसे कदापि ग्रहण नहीं करेंगे ।

ते वयं पाण्डवज्येष्ठं तरुणं वृद्धशीलिनम् ।
अभिषिञ्चाम साध्वद्य सत्यकारुण्यवेदिनम् ॥५॥

"पाण्डवों के बड़े भाई युधिष्ठिर यद्यपि अभी तरुण हैं तो भी शील-स्वभाव में वृद्धों के समान हैं । वे सत्यवादी, दयालु और वेदवेत्ता हैं, अतः हम लोग उन्हीं का विधिपूर्वक राज्याभिषेक करें ।

स हि भीष्मं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च धर्मवित् ।
सपुत्रं विविधैर्भोगैर्योजयिष्यति पूजयन् ॥६॥

"महाराजा युधिष्ठर बड़े धर्मज्ञ हैं । वे शान्तनु-नन्दन भीष्म और पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र का आदर करते हुए उन्हें नाना प्रकार के भोगों से सम्पन्न रखेंगे ।"

तेषां दुर्योधनः श्रुत्वा तानि वाक्यानि जल्पताम् ।
युधिष्ठिरानुरक्तानां पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥७॥

युधिष्ठिर में अनुरक्त उन लोगों की वैसी बातें सुनकर खोटी बुद्धिवाला दुर्योधन भीतर-ही-भीतर जलने लगा ।

स तप्यमानो दुष्टात्मा धृतराष्ट्रमुपागमत् ।
ततो विरहितं दृष्ट्वा पितरमब्रवीद् वचः ॥८॥

ईर्ष्या की अग्नि से जलता हुआ वह दुष्टात्मा धृतराष्ट्र के पास आया और वहाँ अपने पिता को अकेला पाकर उनसे इस प्रकार बोला—

दुर्योधन उवाच

श्रुता मे जल्पतां तात पौराणामशिवा गिरः ।
त्वामनादृत्य भीष्मं च पतिमिच्छन्ति पाण्डवम् ॥९॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैंने परस्पर वार्तालाप करते हुए नगर-निवासियों के मुख से बड़ी अशुभ बातें सुनी हैं । वे आपका और भीष्मजी का अनादर करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर को राजा बनाना चाहते हैं ।

मतमेतच्च भीष्मस्य न स राज्यं बुभुक्षति ।
अस्माकं तु परां पीडां चिकीर्षन्ति पुरे जनाः ॥१०॥

भीष्मजी तो इस बात को मान लेंगे, क्योंकि वे स्वयं राज्य भोगना नहीं चाहते, परन्तु नगर के लोग हमारे लिए बहुत बड़े कष्ट का आयोजन करना चाहते हैं ।

पितृतः प्राप्तवान् राज्यं पाण्डुरात्मगुणैः पुरा ।
त्वमन्धगुणसंयोगात् प्राप्तं राज्यं न लब्धवान् ॥११॥

पाण्डु ने अपने सद्‌गुणों के कारण पिता से राज्य प्राप्त कर लिया, परन्तु आप अन्धे होने के कारण अधिकार-प्राप्त राज्य को भी नहीं पा सके ।

स एष पाण्डोर्दायाद्यं यदि प्राप्नोति पाण्डवः ।
तस्य पुत्रो ध्रुवं प्राप्तस्तस्य तस्यापि चापरः ॥१२॥

यदि ये पाण्डुकुमार युधिष्ठिर पाण्डु के राज्य को, जिसका उत्तराधिकारी पुत्र ही होता है, प्राप्त

कर लेते हैं तो निश्चय ही उनके पश्चात् उनका पुत्र ही इस राज्य का अधिकारी होगा, फिर उसी की पुत्र-परम्परा में दूसरे-दूसरे लोग इसके अधिकारी होते जाएँगे।

ते वयं राजवंशेन हीनाः सह सुतैरपि।
अवज्ञाता भविष्यामो लोकस्य जगतीपते ॥१३॥

महाराज! ऐसी अवस्था में हम लोग अपने पुत्रों-सहित राजपरम्परा से वञ्चित होने के कारण सब लोगों की अवहेलना के पात्र बन जाएँगे।

सततं निरयं प्राप्ताः [1]परपिण्डोपजीविनः।
न भवेम यथा राजंस्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥१४॥

राजन्! आप कोई ऐसी नीति काम में लाइए जिससे हमें दूसरों के दिये हुए अन्न से निर्वाह करके सदा नरक-तुल्य कष्ट न भोगना पड़े।

पाण्डवेभ्यो भयं न स्यात्तान्विवासयतां भवान्।
निपुणेनाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥१५॥

पिताजी! हमें पाण्डवों से भय न हो, अतः आप किसी उत्तम उपाय से उन्हें यहाँ से हटाकर वारणावत नगर में भेज दीजिए।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मनित्यः सदा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः।
सर्वेषु ज्ञातिषु तथा मयि त्वासीद् विशेषतः ॥१६॥

धृतराष्ट्र ने कहा—वत्स! पाण्डु अपने जीवन-भर धर्म को नित्य मानकर सम्पूर्ण ज्ञातिजनों के साथ धर्मानुकूल व्यवहार करते थे, मेरे प्रति तो और भी विशेषरूप से धर्मशील थे।

तस्य पुत्रो यथा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः।
गुणवाँल्लोकविख्यातः पौरवाणां सुसम्मतः ॥१७॥

उनके पुत्र युधिष्ठिर भी वैसे ही धर्मपरायण हैं, जैसे स्वयं पाण्डु थे। वे उत्तम गुणों से सम्पन्न, सारे संसार में विख्यात तथा पुरुवंशियों के अत्यन्त प्रिय हैं।

स कथं शक्यतेऽस्माभिरपाकर्तुं बलादितः।
पितृपैतामहाद् राज्यात् ससहायो विशेषतः ॥१८॥

फिर उन्हें उनके बाप-दादों के राज्य से बलपूर्वक कैसे हटाया जा सकता है? विशेषतः ऐसे समय में, जबकि उनके सहायक अधिक हैं।

भृता हि पाण्डुनामात्या बलं च सततं भृतम्।
भृताः पुत्राश्च पौत्राश्च तेषामपि विशेषतः ॥१९॥

पाण्डु ने सभी मन्त्रियों तथा सैनिकों का सदा पालन-पोषण किया था। उनका ही नहीं, उनके पुत्र-पौत्रों के भी भरण-पोषण का विशेष ध्यान रखा था।

ते पुरा सत्कृतास्तात पाण्डुना नागरा जनाः।
कथं युधिष्ठिरस्यार्थे न नो हन्युः सबान्धवान् ॥२०॥

तात! पाण्डु ने पहले नागरिकों के साथ भी अत्यन्त सद्भावनापूर्ण व्यवहार किया है। अब वे विद्रोही होकर युधिष्ठिर के हित के लिए भाई-बन्धुओं के साथ हम सब लोगों की हत्या क्यों न कर डालेंगे?

दुर्योधन उवाच

एवमेतन्मया तात भावितं दोषमात्मनि।
दृष्ट्वा प्रकृतयः सर्वा अर्थमानेन पूजिताः ॥२१॥

दुर्योधन बोला—पिताजी! मैंने भी अपने हृदय में इस दोष [प्रजा के विरोधी होने] की सम्भावना की थी तथा इसी पर दृष्टि रखकर पहले ही अर्थ और सम्मान के द्वारा समस्त प्रजा का आदर-सत्कार किया है।

ध्रुवमस्मत्सहायास्ते भविष्यन्ति प्रधानतः।
अर्थवर्गः सहामात्यो मत्संस्थोऽद्य महीपते ॥२२॥

अब निश्चय ही वे लोग मुख्यरूप से हमारे सहायक होंगे। राजन्! इस समय मन्त्रिमण्डल और कोष भी हमारे ही अधीन हैं।

स भवान् पाण्डवानाशु विवासयितुमर्हति।
मृदुनैवाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥२३॥

अतः आप किसी मृदु (सरल) उपाय से जितना शीघ्र सम्भव हो सके, पाण्डवों को वारणावत नगर में भेज दें।

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन ममाप्येतद् हृदि सम्परिवर्तते।
अभिप्रायस्य पापत्वान्नैवं तु विवृणोम्यहम् ॥२४॥

---

१. पौराणिक लोग 'पिण्ड' का अर्थ करते हैं, श्राद्ध में ब्राह्मणों को खिलाया जानेवाला भोजन अथवा पितरों को दिया जानेवाला चावलों का पिण्ड। ऐसे लोग इस स्थल को ध्यानपूर्वक पढ़ें। यहाँ पिण्ड का अर्थ है अन्न या भोजन। इसका मृतक के साथ निश्चित रूप से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

धृतराष्ट्र बोले—दुर्योधन ! मेरे हृदय में भी यही बात घूम रही है, परन्तु हम लोगों का यह अभिप्राय पापपूर्ण है, अतः मैं इसे खोलकर कह नहीं पाता।

न च भीष्मो न च द्रोणो न च क्षत्ता न गौतमः।
विवास्यमानन् कौन्तेयाननुमंस्यन्ति कर्हिचित् ॥२५॥

मुझे यह भी विश्वास है कि भीष्म, द्रोण, विदुर और कृपाचार्य—इनमें से कोई भी कुन्तीपुत्रों को यहाँ से अन्यत्र भेजे जाने की कदापि अनुमति नहीं देंगे।

समा हि कौरवेयाणां वयं ते चैव पुत्रक।
नैते विषममिच्छेयुर्धर्मयुक्ता मनस्विनः ॥२६॥

पुत्र ! इन सभी कुरुवंशियों के लिए हम लोग और पाण्डव समान हैं। ये धर्मपरायण मनस्वी महापुरुष उनके प्रति विषम व्यवहार करना नहीं चाहेंगे।

दुर्योधन उवाच

मध्यस्थः सततं भीष्मो द्रोणपुत्रो मयि स्थितः।
यतः पुत्रस्ततो द्रोणो भविता नात्र संशयः ॥२७॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! भीष्म तो सदा ही मध्यस्थ हैं, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा मेरे पक्ष में हैं, अतः द्रोणाचार्य भी उधर ही रहेंगे, जिधर उनका पुत्र होगा—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

कृपः शारद्वतश्चैव यत एतौ ततो भवेत्।
द्रोणं च भागिनेयं च न स त्यक्ष्यति कर्हिचित् ॥२८॥

जिस पक्ष में ये दोनों रहेंगे, उसी ओर शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य भी रहेंगे। वे अपने बहनोई द्रोण और भानजे अश्वत्थामा को कभी नहीं त्याग सकेंगे।

क्षत्तार्थबद्धस्त्वस्माकं प्रच्छन्नं संयतः परैः।
न चैकः स समर्थोऽस्मान्पाण्डवार्थेऽधिबाधितुम् ॥२९॥

विदुर भी हमारे आर्थिक बन्धन में हैं, यद्यपि वे छिपे-छिपे हमारे शत्रुओं के स्नेहपाश में बँधे हैं परन्तु वे अकेले पाण्डवों के हित के लिए हमें बाधा पहुँचाने में समर्थ नहीं हो सकेंगे।

स विस्रब्धः पाण्डुपुत्रान् सह मात्रा प्रवासय।
वारणावतमद्यैव यथा यान्ति तथा कुरु ॥३०॥

अतः आप पूर्ण निश्चिन्त होकर पाण्डवों को उनकी माता के साथ वारणावत भेज दीजिए और ऐसी व्यवस्था कीजिए जिससे वे आज ही चले जाएँ।

विनिद्रकरणं घोरं हृदि शल्यमिवार्पितम्।
शोकपावकमुद्भूतं कर्मणैतेन शामय ॥३१॥

मेरे हृदय में भयंकर काँटा-सा चुभ रहा है, जो मुझे नींद नहीं लेने देता। शोक की अग्नि प्रज्वलित हो उठी है, आप [मेरे प्रस्तावित] इस कार्य को पूर्ण करके मेरे हृदय की शोकाग्नि को बुझा दीजिए।

इति महाभारते आदिपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र के आदेश से पाण्डवों की वारणावत-यात्रा, दुर्योधन के आदेश से पुरोचन का वहाँ लाक्षागृह बनाना, विदुर का उन्हें गुप्त उपदेश

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा सर्वास्ताः प्रकृतीः शनैः।
अर्थमानप्रदानाभ्यां संजहार सहानुजः ॥१॥
धृतराष्ट्रप्रयुक्तास्ते केचित् कुशलमन्त्रिणः।
कथयाञ्चक्रिरे रम्यं नगरं वारणावतम् ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् राजा दुर्योधन और उसके छोटे भाइयों ने धन देकर तथा आदर-सत्कार करके सम्पूर्ण अमात्यादि प्रकृतियों को धीरे-धीरे अपने वश में कर लिया। कुछ चतुर मन्त्री धृतराष्ट्र की आज्ञा से [चारों ओर] इस बात की चर्चा करने लगे कि "वारणावत नगर बहुत सुन्दर है।"

सर्वरत्नसमाकीर्णे पुंसां देशे मनोरमे।
इत्येवं धृतराष्ट्रस्य वचनाच्चक्रिरे कथाः ॥३॥

"वह पवित्र नगर समस्त रत्नों से भरा-पूरा तथा मनुष्यों के मन को मोहित करनेवाला है।" धृतराष्ट्र के कहने से वे इस प्रकार की बातें कहने लगे।

कथ्यमाने तथा रम्ये नगरे वारणावते।
गमने पाण्डुपुत्राणां जज्ञे तत्र मतिर्नृप ॥४॥

राजन् ! वारणावत नगर की रमणीयता का जब

इस प्रकार [यत्र-तत्र-सर्वत्र] वर्णन होने लगा, तब पाण्डवों के मन में वहाँ जाने का विचार उत्पन्न हुआ।

यदा त्वमन्यत नृपो जातकौतूहला इति ।
उपाचैतानेत्य तदा पाण्डवानम्बिकासुतः ॥५॥

जब अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र को यह विश्वास हो गया कि पाण्डव वहाँ जाने के लिए उत्सुक हैं, तब वे उनके पास जाकर इस प्रकार बोले—

ते तात यदि मन्यध्वमुत्सवं वारणावते ।
सगणाः सान्वयाश्चैव विहरध्वं यथामराः ॥६॥

"पुत्रो! यदि तुम लोग वारणावत नगर में उत्सव देखने के लिए जाना चाहो तो अपने कुटुम्बियों और सेवकवर्ग के साथ वहाँ जाकर देवताओं की भाँति विहार करो।"

धृतराष्ट्रस्य तं काममनुबुध्य युधिष्ठिरः ।
आत्मनश्चासहायत्वं तथेति प्रत्युवाच तम् ॥७॥

जनमेजय! युधिष्ठिर धृतराष्ट्र की उस इच्छा का रहस्य जान गये, परन्तु अपने को असहाय जानकर उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी बात मान ली।

ततो भीष्मं कृपाचार्यं विदुरं च महामतिम् ।
द्रोणं च बाह्लिकं चैव ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ॥८॥
पुरोहितांश्च पौरांश्च गान्धारीं च यशस्विनीम् ।
युधिष्ठिरः शनैर्दीन उवाचेदं वचस्तदा ॥९॥

तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने भीष्म, कृपाचार्य, परम बुद्धिमान् विदुर, द्रोण, बाह्लिक, तपस्वी ब्राह्मणों, पुरोहितों, पुरवासियों तथा यशस्विनी गान्धारी देवी से मिलकर धीरे-धीरे दीनभाव से इस प्रकार कहा—

रमणीये जनाकीर्णे नगरे वारणावते ।
सगणास्तत्र यास्यामो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥१०॥

"हम महाराज धृतराष्ट्र की आज्ञा से रमणीय वारणावत नगर में, जहाँ बड़ा भारी मेला लग रहा है, परिवार-सहित जानेवाले हैं।

प्रसन्नमनसा सर्वे पुण्या वाचो विमुञ्चत ।
आशीर्भिर्बृंहितानस्मान् न पापं प्रसहिष्यते ॥११॥

"आप सब लोग प्रसन्नचित्त होकर हमें अपने पुण्यमय आशीर्वाद दीजिए। आपके आशीर्वाद से हमारी वृद्धि होगी तथा पाप का हमपर वश नहीं चल सकेगा।"

एवमुक्तास्तु ते सर्वे पाण्डुपुत्रेण कौरवाः ।
प्रसन्नवदना भूत्वा तेऽन्ववर्तन्त पाण्डवान् ॥१२॥
स्वस्त्यस्तु वः पथि सदा भूतेभ्यश्चैव सर्वशः ।
मा च वोऽस्त्वशुभं किंचित्सर्वशः पाण्डुनन्दनाः ॥१३॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर के इस प्रकार कहने पर वे समस्त कुरुवंशी प्रसन्नवदन होकर पाण्डवों के अनुकूल हो कहने लगे—"पाण्डुकुमारो! मार्ग में सदा सब प्राणियों से तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें कहीं से किसी प्रकार का अशुभ प्राप्त न हो।"

एवमुक्तेषु राज्ञा तु पाण्डुपुत्रेषु भारत ।
दुर्योधनः परं हर्षमगच्छत् स दुरात्मवान् ॥१४॥

भारत! जब राजा धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को इस प्रकार जाने की आज्ञा दे दी, तब दुरात्मा दुर्योधन को बड़ी प्रसन्नता हुई।

स पुरोचनमेकान्तमानीय भरतर्षभ ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ सचिवं वाक्यमब्रवीत् ॥१५॥

भरतकुलतिलक! उसने अपने मन्त्री पुरोचन को एकान्त में बुलाया और उसका दाहिना हाथ पकड़कर कहा—

दुर्योधन उवाच

संरक्ष तात मन्त्रं च सपत्नांश्च ममोद्धर ।
निपुणेनाभ्युपायेन यद् ब्रवीमि तथा कुरु ॥१६॥

दुर्योधन बोला—तात! तुम मेरी इस गुप्त मन्त्रणा की रक्षा करो—इसे दूसरों पर प्रकट न होने दो और अच्छे उपायों द्वारा मेरे शत्रुओं को उखाड़ फेंको। मैं तुमसे जो कहता हूँ, वही करो।

पाण्डवा धृतराष्ट्रेण प्रेषिता वारणावतम् ।
उत्सवे विहरिष्यन्ति धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥१७॥

पिताजी ने पाण्डवों को वारणावत जाने की आज्ञा दी है। वे उनके आदेश से [कुछ दिनों तक] वहाँ रहकर उत्सव में भाग लेंगे, घूमेंगे, फिरेंगे।

स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु ॥१८॥

अतः तुम खच्चर जुते हुए शीघ्रगामी रथ पर बैठकर आज ही वहाँ पहुँच जाओ, ऐसी चेष्टा करो।

तत्र गत्वा चतुःशालं गृहं परमसंवृतम् ।
नगरोपान्तमाश्रित्य कारयेथा महाधनम् ॥१९॥

वहाँ जाकर नगर के निकट ही एक ऐसा भवन तैयार कराश्रो, जिसमें चारों श्रोर कमरे हों तथा जो सब श्रोर से सुरक्षित हो। वह भवन बहुत धन व्यय करके सुन्दर-से-सुन्दर बनवाना चाहिए।

शणसर्जरसादीनि यानि द्रव्याणि कानिचित्।
श्राग्नेयान्युत सन्तीह तानि तत्र प्रदापय ॥२०॥

सन तथा राल श्रादि, जो कोई भी श्राग भड़कानेवाले द्रव्य संसार में हैं, उन सबको उस भवन की दीवारों में लगवाना।

सर्पिस्तैलवसाभिश्च लाक्षया चाप्यनल्पया।
मृत्तिकां मिश्रयित्वा त्वं लेपं कुड्येषु दापय ॥२१॥

घी, तेल, चर्बी तथा बहुत-सी लाख मिट्टी में मिलवाकर उसी से दीवारों को लिपवाना।

शणं तैलं घृतं चैव जतु दारूणि चैव हि।
तस्मिन् वेश्मनि सर्वाणि निक्षिपेथाः समन्ततः ॥२२॥
यथा च त्वां न शंकेरन् परीक्षन्तोऽपि पाण्डवाः।
श्राग्नेयमिति तत्कार्यमपि चान्येऽपि मानवाः ॥२३॥
वेश्मन्येवं कृते तत्र गत्वा तान् परमार्चितान्।
वासयेथाः पाण्डवेयान् कुन्तीं च ससुहृज्जनाम् ॥२४॥

उस घर के चारों श्रोर सन, तेल, घी, लाख श्रौर लकड़ी श्रादि सब वस्तुएँ संग्रह करके रखना। श्रच्छी प्रकार देख-भाल करने पर भी पाण्डवों तथा दूसरे लोगों को तुम्हारे इस कार्य पर शंका न हो कि यह भवन श्राग भड़कानेवाले पदर्थों से बना है। इस प्रकार पूर्ण सावधानी के साथ उस राजभवन का निर्माण कराना चाहिए। इस प्रकार महल बन जाने पर जब पाण्डव वहाँ जाएँ, तब उन्हें तथा सुहृदोंसहित कुन्तीदेवी को भी बड़े श्रादर-सत्कार के साथ वहीं ठहराना।

श्रासनानि च दिव्यानि यानानि शयनानि च।
विधातव्यानि पाण्डूनां यथा तुष्येत वै पिता ॥२५॥
यथा च तन्न जानन्ति नगरे वारणावते।
तथा सर्वं विधातव्यं यावत् कालस्य पर्ययः ॥२६॥

वहाँ पाण्डवों के लिए दिव्य श्रासन, सवारी श्रौर शय्या श्रादि की ऐसी [सुन्दर] व्यवस्था कर देना, जिसे सुनकर मेरे पिताजी सन्तुष्ट हों। जबतक समय बदलने के साथ ही श्रपने श्रभीष्ट कार्य की सिद्धि न हो जाए, तबतक सब काम इस प्रकार करना चाहिए कि वारणावत नगर के लोगों को इसके विषय में कुछ भी ज्ञात न हो सके।

ज्ञात्वा च तान् सुविश्वस्ताञ्शयानानकुतोभयान्।
श्रग्निस्त्वया ततो देयो द्वारतस्तस्य वेश्मनः ॥२७॥

जब तुम्हें यह भली-भाँति ज्ञात हो जाए कि पाण्डव लोग यहाँ श्राश्वस्त होकर रहने लगे हैं, इनके मन में कहीं से कोई भय नहीं है, तब उनके सो जाने पर घर के द्वार की श्रोर से श्राग लगा देना।

दह्यमाने स्वके गेहे दग्धा इति ततो जनाः।
न गर्हयेयुरस्मान् वै पाण्डवार्थाय कर्हिचित् ॥२८॥

उस समय लोग यही समझेंगे कि श्रपने श्राप ही घर में श्राग लगी थी, उसी में पाण्डव जल गये, श्रतः वे पाण्डवों की मृत्यु के लिए कभी हमारी निन्दा नहीं करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय कौरवाय पुरोचनः।
प्रायाद् रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ॥२९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पुरोचन ने दुर्योधन के सामने वैसा ही करने की प्रतिज्ञा की श्रौर खच्चर जुते हुए शीघ्रगामी रथ पर सवार हो वहाँ से वारणावत नगर को चल दिया।

स गत्वा त्वरितं राजन् दुर्योधनमते स्थितः।
यथोक्तं राजपुत्रेण सर्वं चक्रे पुरोचनः ॥३०॥

राजन्! पुरोचन दुर्योधन की सम्मति के श्रनुसार चलता था। उसने शीघ्र ही वारणावत में पहुँचकर राजकुमार दुर्योधन के मतानुसार सब काम पूरा कर लिया।

पाण्डवास्तु रथान् युक्तान् सदश्वैरनिलोपमैः।
श्रारोहमाणा भीष्मस्य पदौ जगृहुरार्तवत् ॥३१॥
राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य द्रोणस्य च महात्मनः।
श्रन्येषां चैव वृद्धानां कृपस्य विदुरस्य च ॥३२॥

उधर वायु के समान वेगवाले उत्तम घोड़ों से जुते हुए रथों पर चढ़ने के लिए उद्यत हो पाण्डवों ने श्रत्यन्त दुःखी-से होकर पितामह भीष्म के दोनों चरणों का स्पर्श किया। तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्र, महात्मा द्रोण, कृपाचार्य, विदुर तथा श्रन्य बड़े-बूढ़ों को प्रणाम किया।

सर्वा मातृस्तथाऽऽपृच्छ्य कृत्वा चैव प्रदक्षिणम् ।
सर्वा हि प्रकृतीश्चैव प्रययुर्वारणावतम् ।।३३।।

तत्पश्चात् सब माताओं से आज्ञा लेकर उनकी प्रदक्षिणा=परिक्रमा करके तथा समस्त प्रजाओं से भी विदा लेकर वे वारणावत नगर की ओर चले।

विदुरश्च महाप्राज्ञस्तथान्ये कुरुपुङ्गवाः ।
पौराश्च पुरुषव्याघ्रानन्वयुः शोककर्षिताः ।।३४।।
तत्र केचिद् ब्रुवन्ति स्म ब्राह्मणा निर्भयास्तदा ।
दीनान् दृष्ट्वा पाण्डुसुतानतीव भृशदुःखिताः ।।३५।।

उस समय महाज्ञानी विदुर तथा कुरुकुल के अन्य श्रेष्ठपुरुष एवं पुरवासी मनुष्य शोक से कातर हो नर-सिंह पाण्डवों के पीछे-पीछे चलने लगे। उस समय कुछ निर्भय ब्राह्मण पाण्डवों को अत्यन्त दीन दशा में देखकर बहुत दुःखी हो इस प्रकार कहने लगे—

विषमं पश्यते राजा सर्वथा स सुमन्दधीः ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रस्तु न च धर्मं प्रपश्यति ।।३६।।

"अत्यन्त मन्दबुद्धि कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र पाण्डवों को सदा विषम दृष्टि से देखते हैं। उनकी दृष्टि धर्म की ओर नहीं है।

स पाण्डौ पुरुषव्याघ्रे देवभावं गते सति ।
राजपुत्रानिमान् बालान् धृतराष्ट्रो न मृष्यते ।।३७।।

"नरश्रेष्ठ पाण्डु के देवभाव [मृत्यु] को प्राप्त हो जाने पर ये धृतराष्ट्र उनके छोटे-छोटे राजकुमारों का भार सहन नहीं कर पा रहे हैं।

वयमेतदनिच्छन्तः सर्व एव पुरोत्तमात् ।
गृहान् विहाय गच्छामो यत्र गन्ता युधिष्ठिरः ।।३८।।

"हम लोग यह नहीं चाहते, अतः हम सब घर-द्वार छोड़कर इस उत्तम नगरी से वहीं चलेंगे, जहाँ युधिष्ठिर जा रहे हैं।"

तांस्तथावादिनः पौरान् दुःखितान् दुःखकर्षितः ।
उवाच मनसा ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।।३९।।

शोक से दुर्बल धर्मराज युधिष्ठिर अपने लिए दुःखी उन नगर-वासियों को ऐसी बातें करते देख मन-ही-मन कुछ सोचकर उनसे बोले—

पिता मान्यो गुरुः श्रेष्ठो यदाह पृथिवीपतिः ।
अशङ्कमानैस्तत् कार्यमस्माभिरिति नो व्रतम् ।।४०।।

"बन्धुओ! राजा धृतराष्ट्र मेरे माननीय पिता, गुरु एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे जो आज्ञा दें, उसका हमें निःशङ्क होकर पालन करना चाहिए, यही हमारा व्रत है।

भवन्तः सुहृदोऽस्माकमस्मान् कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
प्रतिनन्द्य तथाशीर्भिर्निवर्तध्वं यथागृहम् ।।४१।।

"आप सब लोग हमारे हितचिन्तक हैं, अतः हमें अपने आशीर्वादों से सन्तुष्ट करें तथा हमें दाहिने करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही अपने घरों को लौट जाएँ।"

एवमुक्तास्तदा पौराः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
आशीर्भिश्चाभिनन्द्यैताञ्जग्मुर्नगरमेव हि ।।४२।।

उनके ऐसा कहने पर पुरवासी उन्हें आशीर्वाद से प्रसन्न करते हुए तथा उन्हें दाहिने करके नगर को लौट गये।

पौरेषु विनिवृत्तेषु विदुरः सत्यधर्मवित् ।
बोधयन् पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ।।४३।।

नगर-निवासियों के लौट जाने पर सत्यधर्म के ज्ञाता विदुरजी पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर को दुर्योधन के कपट का बोध कराते हुए इस प्रकार बोले—

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः ।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत् ।।४४।।

विदुरजी बुद्धिमान् तथा मूढ़ म्लेच्छों की निरर्थक-सी प्रतीत होनेवाली भाषा के भी ज्ञाता थे। इसी प्रकार युधिष्ठिर भी उस म्लेच्छ भाषा को समझनेवाले और बुद्धिमान् थे, अतः उन्होंने युधिष्ठिर से ऐसी कहने योग्य बात कही, जो म्लेच्छ भाषा के जानकार एवं बुद्धिमान् पुरुष को उस भाषा में कहे हुए रहस्य का ज्ञान करा देनेवाली थी, परन्तु उस भाषा से अनभिज्ञ पुरुष को वास्तविक अर्थ का बोध नहीं कराती थी।

यो जानाति परप्रज्ञां नीतिशास्त्रानुसारिणीम् ।
विज्ञायेह तथा कुर्यादापदं निस्तरेद् यथा ।।४५।।

"जो नीति-शास्त्र का अनुसरण करनेवाली शत्रु की बुद्धि को समझ लेता है, वह उसे समझ लेने पर कोई ऐसा उपाय करे, जिससे वह शत्रुजनित संकट से बच सके।

अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम् ।
यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ॥४६॥

"एक ऐसा तीखा अस्त्र है, जो लोहे का बना तो नहीं है, परन्तु शरीर को नष्ट कर देता है । जो उसे जानता है, ऐसे उस शस्त्र के आघात से बचने का उपाय जाननेवाले पुरुष को शत्रु नहीं मार सकते ।

कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
न दहेदिति चात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥४७॥

"घास-फूस तथा सूखे वृक्षोंवाले जंगल को जलाने और सरदी को नष्ट कर देनेवाली आग विशाल वन में फैल जाने पर भी बिल में रहनेवाले चूहे आदि जीव-जन्तुओं को नहीं जला सकती—जो ऐसा समझकर अपनी रक्षा का उपाय करता है, वही जीवित रहता है ।

नाचक्षुर्वेत्ति पन्थानं नाचक्षुर्विन्दते दिशः ।
नाधृतिर्बुद्धिमाप्नोति बुध्यस्वैवं प्रबोधितः ॥४८॥

"जिसकी आँखें नहीं है, वह मार्ग नहीं देख पाता, अन्धे को दिशाओं का ज्ञान नहीं होता और जो धैर्य खो देता है, उसे सद्बुद्धि प्राप्त नहीं होती । इस प्रकार मेरे समझाने पर तुम मेरी बात को भली भाँति समझ लो ।

अनाप्तैर्दत्तमादत्ते नरः शास्त्रमलोहजम् ।
श्वाविच्छरणमासाद्य प्रमुच्येत हुताशनात् ॥४९॥

"शत्रु के दिये हुए बिना लोहे के बने शस्त्र को जो मनुष्य ग्रहण कर लेता है, वह साही के बिल में घुसकर आग से बच जाता है ।

चरन् मार्गान् विजानाति नक्षत्रैर्विन्दते दिशः ।
आत्मना चात्मनः पञ्च पीडयन् नानुपीड्यते ॥५०॥

"मनुष्य घूम-फिर कर मार्ग का पता लगा लेता है, नक्षत्रों से दिशाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और जो अपनी पाँचों इन्द्रियों को वश में रखता है, वह शत्रुओं से पीड़ित नहीं होता ।"

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
विदुरं विदुषां श्रेष्ठं ज्ञातमित्येव पाण्डवः ॥५१॥

इस प्रकार कहे जाने पर पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर ने विद्वानों में श्रेष्ठ विदुरजी से कहा—"मैंने आपकी बात अच्छी प्रकार समझ ली है ।"

अनुशिक्ष्यानुगम्यैतान् कृत्वा चैव प्रदक्षिणम् ।
पाण्डवानभ्यनुज्ञाय विदुरः प्रययौ गृहान् ॥५२॥

इस प्रकार पाण्डवों को बारम्बार कर्तव्य की शिक्षा देते हुए कुछ दूर तक उनके पीछे-पीछे जाकर विदुरजी उनको जाने की आज्ञा दे उन्हें अपने दाहिने करके अपने घर को लौट गये ।

निवृत्ते विदुरे चापि भीष्मे पौरजने तथा ।
अजातशत्रुमासाद्य कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥५३॥

विदुर, भीष्मजी और नगर-वासियों के लौट जाने पर कुन्ती अजातशत्रु युधिष्ठिर के पास जाकर यह वचन बोली—

क्षत्ता यदब्रवीद् वाक्यं जनमध्येऽब्रुवन्निव ।
त्वया च स तथेत्युक्तो जानीमो न च तद्वयम् ॥५४॥

"पुत्र ! विदुरजी ने सब लोगों के मध्य में जो अस्पष्ट-सी बात कही थी, उसे सुनकर तुमने 'बहुत अच्छा' कहकर स्वीकार किया था, परन्तु हम लोग वह बात अबतक नहीं समझ पा रहे हैं ।

यदीदं शक्यमस्माभिर्ज्ञातं न च सदोषवत् ।
श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं संवादं तव तस्य च ॥५५॥

"यदि उसे हम भी समझ सकें और हमारे जानने से कोई दोष न आता हो, तो तुम्हारी और उनकी सारी बात-चीत का रहस्य मैं जानना चाहती हूँ ।

युधिष्ठिर उवाच

गृहादग्निश्च बोद्धव्य इति मां विदुरोऽब्रवीत् ।
पन्थाश्च वो नाविदितः कश्चित्स्यादिति धर्मधीः ॥५६

युधिष्ठिर बोले—माँ ! जिनकी बुद्धि सदा धर्म में लगी रहती है, उन विदुरजी ने [सांकेतिक भाषा में] मुझसे कहा था, "तुम जिस घर में ठहरोगे, वहाँ आग का भय है, यह बात अच्छी प्रकार जान लेनी चाहिए । साथ ही वहाँ का कोई भी मार्ग ऐसा न हो, जो तुमसे अपरिचित रहे ।

जितेन्द्रियश्च वसुधां प्राप्स्यतीति च मेऽब्रवीत् ।
विज्ञातमिति तत्सर्वं प्रत्युक्तो विदुरो मया ॥५७॥

"यदि तुम अपनी इन्द्रियों को वश में रखोगे तो सारी पृथिवी का राज्य प्राप्त कर लोगे, यह बात भी उन्होंने मुझे बताई थी और इन्हीं बातों के लिए मैंने विदुरजी को उत्तर दिया था कि "मैं सब समझ गया !"

वैशम्पायन उवाच

अष्टमेऽहनि रोहिण्यां प्रयाताः फाल्गुनस्य ते ।
वारणावतमासाद्य ददृशुर्नगरं जनम् ॥५८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! पाण्डवों ने फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन रोहिणी में यात्रा की थी। वे यथासमय वारणावत में पहुँचकर वहाँ के निवासियों से मिले।

इति महाभारते आदिपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

पाण्डवों का लाक्षागृह में निवास, लाक्षागृह का दाह और पाण्डवों का सुरंग से बच निकलना, धृतराष्ट्र आदि द्वारा पाण्डवों के लिए शोक-प्रकाश

वैशम्पायन उवाच

ततः सर्वाः प्रकृतयो नगराद् वारणावतात् ।
सर्वमङ्गलसंयुक्ता यथाशास्त्रमतन्द्रिताः ॥१॥
श्रुत्वाऽऽगतान् पाण्डुपुत्रान् नानायानैः सहस्रशः ।
अभिजग्मुर्नरश्रेष्ठान् श्रुत्वैव परया मुदा ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नरश्रेष्ठ पाण्डवों के आगमन का समाचार सुनकर वारणावत नगर से वहाँ के सभी नागरिक अत्यन्त प्रसन्न हो आलस्य छोड़कर शास्त्रविधि के अनुसार सब प्रकार की माङ्गलिक वस्तुओं की भेंट ले-लेकर सहस्रों की संख्या में नाना प्रकार की सवारियों द्वारा उनके स्वागत के लिए आये।

अर्चिताश्च नरैः पौरैः पाण्डवा भरतर्षभ ।
जग्मुरावसथं पश्चात् पुरोचनपुरस्सराः ॥३॥

भरतश्रेष्ठ ! नगर-निवासी मनुष्यों द्वारा पूजित एवं सम्मानित हो पाण्डव लोग पुरोचन को आगे करके डेरे पर गये।

तेभ्यो भक्ष्याणि पानानि शयनानि शुभानि च ।
आसनानि च मुख्यानि प्रददौ स पुरोचनः ॥४॥

वहाँ पुरोचन ने उनके लिए खाने-पीने की उत्तम वस्तुएँ, सुन्दर शय्याएँ तथा श्रेष्ठ आसन प्रस्तुत किये।

तत्र ते सत्कृतास्तेन सुमहार्हपरिच्छदाः ।
उपास्यमानाः पुरुषैरूषुः पुरनिवासिभिः ॥५॥

उस भवन में पुरोचन द्वारा उनका बड़ा सत्कार हुआ। वे बहुमूल्य सामग्रियों का उपभोग करते थे और बहुत-से नगर-निवासी उनकी सेवा में उपस्थित रहते थे। इस प्रकार वे [अत्यन्त आनन्द] से वहाँ रहने लगे।

दशरात्रोषितानां तु तत्र तेषां पुरोचनः ।
निवेदयामास गृहं शिवाख्यमशिवं तदा ॥६॥

दस दिन तक वहाँ रहने के पश्चात् पुरोचन ने पाण्डवों से उस नूतन गृह के सम्बन्ध में चर्चा की। जो कहने को तो 'शिवभवन' था, परन्तु वास्तव में अशिव [अमङ्गलकारी] था।

तत्र ते पुरुषव्याघ्रा विविशुः सपरिच्छदाः ।
पुरोचनस्य वचनात् कैलासमिव गुह्यकाः ॥७॥

पुरोचन के कहने से पुरुषसिंह पाण्डव अपनी सभी सामग्रियों और सेवकों के साथ उस नये भवन में गये, मानो गुह्यकगण (यक्ष-गण) कैलास पर्वत पर जा रहे हों।

उच्चागारमभिप्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरः ।
उवाचाग्नेयमित्येवं भीमसेनं युधिष्ठिरः ॥८॥

उस भवन को अच्छी प्रकार देखकर समस्त धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा—"भाई ! यह गृह तो आग भड़कानेवाली वस्तुओं से बना जान पड़ता है।

जिघ्राणोऽस्य वसागन्धं सर्पिर्जतुविमिश्रितम् ।
कृतं हि व्यक्तमाग्नेयमिदं वेश्म परन्तप ॥९॥

"शत्रुसन्तापक भीमसेन ! मुझे इस घर की दीवारों से घी और लाख मिली हुई चर्बी की गन्ध आ रही है, अतः स्पष्ट जान पड़ता है कि इस घर का निर्माण अग्निदीपक पदार्थों से ही हुआ है।"

भीमसेन उवाच

यदीदं गृहमाग्नेयं विहितं मन्यते भवान् ।
तत्रैव साधु गच्छामो यत्र पूर्वोषिता वयम् ॥१०॥

भीमसेन ने कहा—भैया ! यदि आप यह मानते हैं कि इस भवन का निर्माण ज्वलनशील वस्तुओं से हुआ है तो हम लोग जहाँ पहले रहते थे, कुशलपूर्वक पुनः उसी घर में क्यों न लौट चलें ?

युधिष्ठिर उवाच

इह यत्तैर्निराकारैर्वस्तव्यमिति रोचये ।
अप्रमत्तैर्विचिन्वद्भिर्गतिमिष्टां ध्रुवामितः ॥११॥

युधिष्ठिर बोले—भाई ! हम लोगों को यहाँ अपनी बाह्य चेष्टाओं से मन की बात प्रकट न करते हुए तथा यहाँ से बच निकलने के लिए मनोऽनुकूल निश्चित मार्ग का पता लगाते हुए पूरी सावधानी के साथ यहीं रहना चाहिए । मुझे ऐसा करना ही उचित प्रतीत होता है ।

वयं तु यदि दाहस्य बिभ्यतः प्रद्रवेमहि ।
स्पशैर्निर्घातयेत् सर्वान् राज्यलुब्धः सुयोधनः ॥१२॥

यदि हम भस्म होने के भय से भाग निकलें तो भी राज्यलोभी दुर्योधन हम सबको अपने गुप्तचरों द्वारा मरवा सकता है ।

अपदस्थान् पदे तिष्ठन्नपक्षान् पक्षसंस्थितः ।
हीनकोशान् महाकोशः प्रयोगैर्घातयेद् ध्रुवम् ॥१३॥

इस समय वह अधिकार-पद पर प्रतिष्ठित है और हम उससे वञ्चित हैं । वह सहायकों के साथ है और हम असहाय हैं । उसके पास बहुत बड़ा कोष है और हमारे पास उसका सर्वथा अभाव है, अतः निश्चय ही वह अनेक प्रकार के उपायों द्वारा हमारी हत्या करा सकता है ।

तदस्माभिरिमं पापं तं च पापं सुयोधनम् ।
वञ्चयद्भिर्निवस्तव्यं छन्नावासं क्वचित्क्वचित् ॥१४

अतः इस पापात्मा पुरोचन तथा पापी दुर्योधन को भी धोखे में रखते हुए हमें यहीं कहीं किसी गुप्त स्थान में निवास करना चाहिए ।

ते वयं मृगयाशीलाश्चराम वसुधामिमाम् ।
यथा नो विदिता मार्गा भविष्यन्ति पलायताम् ॥१५॥

हम सब शिकार खेलने में रत रहकर यहाँ की भूमि पर सब ओर विचरें, इससे भाग निकलने के लिए हमें बहुत-से मार्ग ज्ञात हो जाएँगे ।

भौमं च बिलमद्यैव करवाम सुसंवृतम् ।
गूढश्वासान्न नस्तत्र हुताशः सम्प्रधक्ष्यति ॥१६॥

इसके अतिरिक्त हम आज ही से भूमि में एक सुरंग तैयार करें जो ऊपर से अच्छी प्रकार ढकी हो । वहाँ हमारी साँस तक छिपी रहेगी [हमारे अन्य कार्यों की तो बात ही क्या है] उस सुरंग में घुस जाने पर आग हमें नहीं जला सकेगी ।

वसतोऽत्र यथा चास्मान्न बुध्येत पुरोचनः ।
पौरो वापि जनः कश्चित् तथा कार्यमतन्द्रितैः ॥१७॥

हमें आलस्य छोड़कर इस प्रकार कार्य करना चाहिए, जिससे यहाँ रहते हुए भी पुरोचन को हमारे सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात न हो सके और किसी पुरवासी को भी हमारी कानों-कान खबर न हो ।

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य सुहृत् कश्चित् खनकः कुशलो नरः ।
विविक्ते पाण्डवान् राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इधर ऐसा निश्चय हुआ, उधर एक सुरंग खोदनेवाला मनुष्य जो विदुरजी का हितैषी और विश्वासपात्र तथा अपने कार्य में अति चतुर था, एक दिन एकान्त में पाण्डवों से मिला और इस प्रकार कहने लगा—

प्रहितो विदुरेणास्मि खनकः कुशलो ह्यहम् ।
पाण्डवानां प्रियं कार्यमिति किं करवाणि वः ॥१९॥
प्रच्छन्नं विदुरेणोक्तः श्रेयस्त्वमिति पाण्डवान् ।
प्रतिपादय विश्वासादिति किं करवाणि वः ॥२०॥

"मुझे विदुरजी ने भेजा है । मैं सुरंग खोदने की कला में निपुण हूँ । मुझे आप पाण्डवों का प्रिय कार्य करना है, अतः आप लोग बताएँ, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? विदुरजी ने गुप्त रूप से मुझसे यह कहा है कि तुम वारणावत में जाकर विश्वासपूर्वक पाण्डवों का हित सम्पादन करो, अतः आप आज्ञा दीजिए, मैं क्या करूँ ?

किञ्चिच्च विदुरेणोक्तो म्लेच्छवाचासि पाण्डव ।
त्वया च तत् तथेत्युक्तमेतद् विश्वासकारणम् ॥२१॥

"पाण्डुनन्दन ! विदुरजी ने म्लेच्छ भाषा में

आपको कुछ संकेत किया था और आपने 'तथास्तु' कहकर उसे स्वीकार किया था। यह बात मैं विश्वास दिलाने के लिए कहता हूँ।"

युधिष्ठिर उवाच

अभिजानामि सौम्य त्वां सुहृदं विदुरस्य वै।
शुचिमाप्तं प्रियं चैव सदा च दृढभक्तिकम् ॥२२॥

युधिष्ठिर बोले—सौम्य! मैं तुम्हें पहचानता हूँ। तुम विदुरजी के हितैषी, ईमानदार, विश्वसनीय, प्रिय तथा उनके प्रति सदा अविचल भक्ति रखनेवाले हो।

इदं शरणमाग्नेयं मदर्थमिति मे मतिः।
पुरोचनेन विहितं धार्तराष्ट्रस्य शासनात् ॥२३॥

यह घर अग्नि-दीपक पदार्थों से बना है। हमारा विश्वास है कि दुर्योधन के आदेश से पुरोचन ने हमारे लिए ही इसे बनवाया है।

स भवान्मोक्षयत्वस्मान्यत्नेनास्माद्धुताशनात्।
अस्मास्विह हि दग्धेषु सकामः स्यात् सुयोधनः ॥२४॥

तुम प्रयत्न करके हम लोगों को इस आग से बचा लो, अन्यथा हम लोगों के यहाँ दग्ध हो जाने पर दुर्योधन का मनोरथ सफल हो जाएगा।

वैशम्पायन उवाच

स तथेति प्रतिश्रुत्य खनको यत्नमास्थितः।
परिखामुत्किरन्नाम चकार च महाबिलम् ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब उस सुरंग खोदनेवाले ने 'बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा'—यह प्रतिज्ञा की और कार्य-सिद्धि के प्रयत्न में लग गया। खाई की सफाई करने के बहाने से उसने एक बहुत बड़ी सुरंग तैयार कर दी।

चक्रे स वेश्मनस्तस्य मध्येनातिमहद् बिलम्।
कपाटयुक्तमज्ञातं समं भूम्याश्च भारत ॥२६॥

हे भारत! उसने उस भवन के ठीक मध्य से वह महान् सुरंग निकाली। उसके मुहाने पर किवाड़ लगे थे। वह भूमि के समान स्तर पर ही बनी थी, अतः किसी को भी ज्ञात नहीं होती थी।

पुरोचनभयादेव व्यदधात् संवृतं मुखम्।
स तस्य तु गृहद्वारि वसत्यशुभधीः सदा ॥२७॥
तत्र ते सायुधाः सर्वे वसन्ति स्म क्षपां नृप।
दिवा चरन्ति मृगयां पाण्डवेया वनाद् वनम् ॥२८॥
विश्वसन्तोऽप्यविश्वस्ता वञ्चयन्तः पुरोचनम्।
अतुष्टास्तुष्टवद् राजन्नूषुः परमविस्मिताः ॥२९॥

पुरोचन के भय से उस सुरंग खोदनेवाले ने उसके मुख को बन्द कर दिया था, क्योंकि दुष्टबुद्धि पुरोचन सदा भवन के द्वार पर ही निवास करता था तथा पाण्डवगण भी रात्रि के समय शस्त्र सँभाले अति सावधानी के साथ उस द्वार पर ही रहा करते थे। [अतः पुरोचन को आग लगाने का अवसर नहीं मिलता था।] वे दिन में शिकार के बहाने एक वन से दूसरे वन में घूमते रहते थे। पाण्डव भीतर से तो विश्वास न करने के कारण सदा चौकन्ने रहते थे, परन्तु ऊपर से पुरोचन को ठगने के लिए विश्वस्त की भाँति व्यवहार करते थे। राजन्! वे असन्तुष्ट होते हुए भी सन्तुष्ट की भाँति निवास करते एवं अत्यन्त विस्मययुक्त-से रहते थे।

तांस्तु दृष्ट्वा सुमनसः परिसंवत्सरोषितान्।
विश्वस्तानिव संलक्ष्य हर्षं चक्रे पुरोचनः ॥३०॥
पुरोचने तथा हृष्टे कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमौ प्रोवाच धर्मवित् ॥३१॥

हे जनमेजय! पाण्डवों को एक वर्ष से वहाँ प्रसन्नचित्त हो विश्वस्त की भाँति रहते हुए देख पुरोचन अति हर्षित हुआ। उसके इस प्रकार प्रसन्न होने पर धर्म के ज्ञाता कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव से इस प्रकार कहा—

अस्मानयं सुविश्वस्तान् वेत्ति पापः पुरोचनः।
वञ्चितोऽयं नृशंसात्मा कालं मन्ये पलायने ॥३२॥

"पापी पुरोचन हम लोगों को पूर्ण विश्वस्त समझ रहा है। इस निर्दयी को अबतक हम लोगों ने धोखा दिया है। अब मेरे विचार में हमारे भाग निकलने का उपयुक्त अवसर आ गया है।"

चक्रे दानापदेशेन कुन्ती ब्राह्मणभोजनम्।
निषादी पञ्चपुत्रा तु तस्मिन्भोज्ये यदृच्छया ॥३३॥
अन्नार्थिनी समभ्यागात् सपुत्रा कालचोदिता।
भुक्त्वा सर्वैः सुतैः राजँस्तस्मिन्नेव निवेशने।
सुष्वाप विगतज्ञाना मृतकल्पा नराधिप ॥३४॥

महाराज! एक दिन [रात्रि के समय] कुन्ती

ने दान देने के निमित्त ब्राह्मणों को भोजन कराया। दैवेच्छा से उस भोजन के समय एक भीलनी भी अपने पाँच पुत्रों के साथ उस भोज में आई, मानो काल ने ही उसे प्रेरित करके वहाँ भेजा था। भोजन करके वह अपने सभी पुत्रों के साथ उसी घर में सो गई। उस समय वह अपनी सुध-बुध खोकर मृतक-सी हो रही थी।

अथ प्रवाते तुमुले निशि सुप्ते जने तदा।
तदुपादीपयद् भीमः शेते यत्र पुरोचनः ॥३५॥

रात्रि में जब सब सो गये, उस समय सहसा बड़े जोर की आँधी चली। तब भीमसेन ने उस जगह आग लगा दी, जहाँ पुरोचन सो रहा था।

समन्ततो ददौ पश्चादग्निं तत्र निवेशने।
ज्ञात्वा तु तद् गृहं सर्वमादीप्तं पाण्डुनन्दनाः ॥३६॥
सुरङ्गां विविशुस्तूर्णं मात्रा सार्धमरिन्दमाः।
ततः प्रतापः सुमहाञ्छब्दश्चैव विभावसोः ॥३७॥
प्रादुरासीत् तदा तेन बुबुधे स जनव्रजः।
तदवेक्ष्य गृहं दीप्तमाहुः पौराः कृशाननाः ॥३८॥

तत्पश्चात् पाण्डवों ने उस भवन के चारों ओर आग लगा दी। जब वह सारा घर आग की लपेट में आ गया, तब शत्रुओं का दमन करनेवाले पाण्डव अपनी माता के साथ सुरंग में घुस गये। उधर वहाँ आग की भीषण ज्वालाएँ उठने लगीं, महान् ताप फैल गया। घर को जलानेवाली उस अग्नि का महान् चट-चट शब्द सुनाई देने लगा। इससे उस नगर का जन-समूह जाग उठा। उस घर को जलता देखकर पुरवासियों के मुख पर दीनता छा गई। वे व्याकुल होकर कहने लगे—

पौरा ऊचुः

दुर्योधनप्रयुक्तेन पापेनाकृतबुद्धिना।
गृहमात्मविनाशाय कारितं दाहितं च तत् ॥३९॥
अहो धिक् धृतराष्ट्रस्य बुद्धिर्नातिसमञ्जसा।
यः शुचीन् पाण्डुदायादान् दाहयामास शत्रुवत् ॥४०॥

पुरवासी बोले—अहो! पुरोचन का अन्तःकरण उसके वश में नहीं था। उस पापी ने दुर्योधन की आज्ञा से अपने ही विनाश के लिए इस घर को बनवाया और जला भी दिया! अहो! धिक्कार है, धृतराष्ट्र की बुद्धि बहुत बिगड़ गई है, जिसने शुद्ध हृदयवाले पाण्डुपुत्रों को शत्रुओं की भाँति आग में जलवा दिया।

दिष्ट्या त्विदानीं पापात्मा दग्धोऽयमतिदुर्मतिः।
अनागसः सुविश्वस्तान् यो ददाह नरोत्तमान् ॥४१॥

यह सौभाग्य की बात है कि दुर्बुद्धि पापी पुरोचन स्वयं भी इसी अग्नि में दग्ध हो गया है, जिसने निरपराध और अपने ऊपर पूर्ण विश्वास करनेवाले नरश्रेष्ठ पाण्डवों को जला दिया है।

वैशम्पायन उवाच

एवं ते विलपन्ति स्म वारणावतका जनाः।
परिवार्य गृहं तच्च तस्थू रात्रौ समन्ततः ॥४२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार वारणावत के लोग विलाप करने लगे। वे रात-भर उस घर को चारों ओर से घेरकर खड़े रहे।

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे सह मात्रा सुदुःखिताः।
बिलेन तेन निर्गत्य जग्मुर्द्रुतमलक्षिताः ॥४३॥

उधर समस्त पाण्डव भी अत्यन्त दुःखी हो अपनी माता के साथ सुरंग के मार्ग से निकलकर तुरन्त ही दूर चले गये। उन्हें कोई भी देख न सका।

तेन निद्रोपरोधेन साध्वसेन च पाण्डवाः।
न शेकुः सहसा गन्तुं सह मात्रा परन्तपाः ॥४४॥

नींद न ले सकने के कारण आलस्य और भय से युक्त परन्तप पाण्डव अपनी माता के साथ जल्दी-जल्दी चल नहीं पाते थे।

भीमसेनस्तु राजेन्द्र भीमवेगपराक्रमः।
जगाम भ्रातॄनादाय सर्वान् मातरमेव च ॥४५॥
स्कन्धमारोप्य जननीं यमावङ्केन वीर्यवान्।
पार्थौ गृहीत्वा पाणिभ्यां भ्रातरौ सुमहाबलः ॥४६॥

हे राजेन्द्र! प्रबल वेग और पराक्रमवाले भीमसेन अपने सब भाइयों तथा माता को भी साथ लिये चल रहे थे। वे महान् बल और पराक्रम से सम्पन्न थे। उन्होंने माता को तो कंधे पर चढ़ा लिया, नकुल और सहदेव को गोद में उठा लिया तथा शेष दोनों भाइयों को दोनों हाथों से पकड़कर उन्हें सहारा देते हुए चलने लगे।

उरसा पादपान् भञ्जन् महीं पद्भ्यां विदारयन्।
स जगामाशु तेजस्वी वातरंहा वृकोदरः ॥४७॥

तेजस्वी भीम वायु के समान वेगशाली थे। वे अपनी छाती के धक्के से वृक्षों को तोड़ते और पैरों की ठोकर से पृथिवी को विदीर्ण करते हुए तीव्र गति से आगे बढ़े जा रहे थे।

एतस्मिन्नेव काले तु यथासम्प्रत्ययं कविः।
विदुरः प्रेषयामास तद् वनं पुरुषं शुचिम् ॥४८॥

जनमेजय! इसी समय परम ज्ञानी विदुरजी ने अपने विश्वास के अनुसार एक शुद्ध विचारवाले पुरुष को उस वन में भेजा।

स गत्वा तु यथोद्देशं पाण्डवान् ददृशे वने।
जनन्या सह कौरव्य मापयानान् नदीजलम् ॥४९॥

हे कुरुनन्दन! उसने विदुरजी के बताये अनुसार ठीक स्थान पर पहुँचकर वन में मातासहित जाते हुए पाण्डवों को देखा, जो नदी के जल की गहराई माप रहे थे।

विदितं तन्महाबुद्धेर्विदुरस्य महात्मनः।
ततस्तस्यापि चारेण चेष्टितं पापचेतसः ॥५०॥
ततः प्रवासितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम्।
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ॥५१॥

परम बुद्धिमान् महात्मा विदुर को गुप्तचर द्वारा उस पापासक्त पुरोचन की चेष्टाओं का पता चल गया था, इसलिए उन्होंने उस समय उस बुद्धिमान् मनुष्य को वहाँ भेजा था। उसने मन और वायु के समान वेग से चलनेवाली एक नौका पाण्डवों को दिखाई, जो सब प्रकार से वायु का वेग सहने में समर्थ तथा ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित थी। उस नौका को चलाने के लिए यन्त्र लगाया गया था।

ततः पुनरथोवाच ज्ञापकं पूर्वचोदितम्।
युधिष्ठिर निबोधेदं संज्ञार्थं वचनं कवेः ॥५२॥

तत्पश्चात् उस मनुष्य ने कहा—"युधिष्ठिर-जी! ज्ञानी विदुरजी द्वारा पहले कही हुई यह बात, जो मेरी विश्वसनीयता को सूचित करनेवाली है, पुनः सुनिए! मैं आपको संकेत के रूप में स्मरण कराने के लिए इसे कहता हूँ।

कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः।
न हन्तीत्येवमात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥५३॥

"[आपसे विदुर ने कहा था—] घास-फूंस तथा सूखे वृक्षों के जंगल को जलानेवाली तथा सरदी को नष्ट कर देनेवाली आग विशाल वन में फैल जाने पर भी बिल में रहनेवाले चूहे आदि जन्तुओं को नहीं जला सकती। ऐसा समझकर जो अपनी रक्षा का उपाय करता है, वही जीवित रहता है।"

तेन मां प्रेषितं विद्धि विश्वस्तं संज्ञयानया।
भूयश्चैवाह मां क्षत्ता विदुरः सर्वतोऽर्थवित् ॥५४॥
कर्णं दुर्योधनं चैव भ्रातृभिः सहितं रणे।
शकुनिं चैव कौन्तेय विजेतासि न संशयः ॥५५॥

"इस संकेत से आप यह जान लें कि "मैं विश्वास-पात्र हूँ तथा विदुरजी ने ही मुझे भेजा है।" इसके सिवा, सब प्रकार से अर्थसिद्धि का ज्ञान रखनेवाले विदुरजी ने पुनः मुझे आपके लिए यह सन्देश दिया है कि—"कुन्तीनन्दन! तुम युद्ध में भाइयों सहित दुर्योधन, कर्ण और शकुनि को अवश्य परास्त करोगे, इसमें संशय नहीं है।"

इयं वारिपथे युक्ता नौरप्सु सुखगामिनी।
मोचयिष्यति वः सर्वानस्माद् देशान्न संशयः ॥५६॥

"यह नौका जलमार्ग के लिए पूर्ण उपयुक्त है। जल में यह अति सुगमता से चलनेवाली है। यह नौका आप सब लोगों को इस देश से दूर छोड़ देगी, इसमें सन्देह नहीं है।"

अथ तान्व्यथितान्दृष्ट्वा सह मात्रा नरोत्तमान्।
नावमारोप्य गङ्गायां प्रस्थितानब्रवीत् पुनः ॥५७॥

तत्पश्चात् माता-सहित नरश्रेष्ठ पाण्डवों को अत्यन्त दुःखी देख नाविक ने उन सबको नाव पर चढ़ाया और जब वे गङ्गा के मार्ग से प्रस्थान करने लगे, तब पुनः इस प्रकार कहा—

विदुरो मूर्ध्न्युपाघ्राय परिष्वज्य वचो मुहुः।
अरिष्टं गच्छताव्यग्राः पन्थानमिति चाब्रवीत् ॥५८॥

विदुरजी ने आप सभी पाण्डुपुत्रों को भावना द्वारा हृदय से लगाकर और मस्तक सूंघकर यह आशीर्वाद फिर कहलाया है कि—"तुम शान्तचित्त रहकर कुशलपूर्वक मार्ग पर बढ़ते जाओ!"

इत्युक्त्वा स तु तान्वीरान्पुमान्विदुरप्रेरितः ।
तारयामास राजेन्द्र गङ्गां नावा नरर्षभान् ।।५९।।

हे राजेन्द्र ! विदुरजी के भेजे हुए उस नाविक ने उन शूरवीर नरश्रेष्ठ पाण्डवों से ऐसी बात कहकर उसी नाव से उन्हें गङ्गा के पार उतार दिया ।

अथ रात्र्यां व्यतीतायामशेषो नागरो जनः ।
तत्राजगाम त्वरितो दिदृक्षुः पाण्डुनन्दनान् ।।६०।।

हे जनमेजय ! उधर रात्रि के व्यतीत होने पर वारणावत के समस्त नागरिक बड़ी उतावली के साथ पाण्डुकुमारों की दशा देखने के लिए उस लाक्षागृह के समीप आये ।

निर्वापयन्तो ज्वलनं ते जना ददृशुस्ततः ।
जातुषं तद् गृहं दग्धममात्यं च पुरोचनम् ।।६१।।

आते ही वे सब लोग आग बुझाने में लग गये । उस समय उन्होंने देखा कि सारा घर लाख का बना था, जो जलकर भस्म हो गया है और उसी में मन्त्री पुरोचन भी जल गया है ।

नूनं दुर्योधनेनेदं विहितं पापकर्मणा ।
पाण्डवानां विनाशायेत्येवं ते चुक्रुशुर्जनाः ।।६२।।

यह देख वे सभी नागरिक चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे कि—"निश्चय ही पापाचारी दुर्योधन ने पाण्डवों का विनाश करने के लिए इस भवन का निर्माण करवाया था ।

ते वयं धृतराष्ट्रस्य प्रेषयामो दुरात्मनः ।
संवृत्तस्ते परः कामः पाण्डवान् दग्धवानसि ।।६३।।

"अब हम लोग दुरात्मा धृतराष्ट्र के पास यह सन्देश भेज दें कि तुम्हारी सबसे बड़ी कामना पूर्ण हो गई । तुम पाण्डवों के जलाने में सफल हो गये ।"

ततो व्यपोहमानास्ते पाण्डवार्थे हुताशनम् ।
निषादीं ददृशुर्दग्धां पञ्चपुत्रामनागसाम् ।।६४।।

तत्पश्चात् जब उन्होंने पाण्डवों को ढूंढ़ने के लिए आग को इधर-उधर हटाया, तब पाँच पुत्रों के साथ भीलनी की जली हुई लाश देखी ।

खनकेन तु तेनैव वेश्म शोधयता बिलम् ।
पांसुभिः पिहितं तच्च पुरुषैस्तैर्न लक्षितम् ।।६५।।

उधर उसी सुरंग खोदनेवाले पुरुष ने घर को साफ करते समय सुरंग के छेद को धूल से ढक दिया था, अतः दूसरे लोगों की दृष्टि उसपर नहीं पड़ी ।

ततस्ते ज्ञापयामासुर्धृतराष्ट्रस्य नागराः ।
पाण्डवानग्निना दग्धानमात्यं च पुरोचनम् ।।६६।।

तदनन्तर वारणावत के नागरिकों ने धृतराष्ट्र को यह सूचित कर दिया कि पाण्डव तथा मन्त्री पुरोचन अग्नि में जल गये ।

श्रुत्वा तु धृतराष्ट्रस्तद् राजा सुमहदप्रियम् ।
विनाशं पाण्डुपुत्राणां विललाप सुदुःखितः ।।६७।।

महाराज धृतराष्ट्र ने पाण्डुपुत्रों के विनाश का यह अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर अत्यन्त दुःखी हो विलाप किया ।

इति महाभारते आदिपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ।।२३।।

चतुर्विंशोऽध्यायः

भीम का विषाद और दुर्योधन के प्रति उनका क्रोध

वैशम्पायन उवाच

ततो नावं परित्यज्य प्रययुर्दक्षिणां दिशम् ।
विज्ञाय निशि पन्थानं नक्षत्रगणसूचितम् ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उधर पाण्डव उस नौका को छोड़ रात्रि में नक्षत्रों द्वारा सूचित मार्ग को पहचानकर दक्षिण दिशा की ओर चल दिये ।

अगमच्च वनोद्देशमल्पमूलफलोदकम् ।
क्रूरपक्षिमृगं घोरं सायाह्ने भरतर्षभ ।।२।।

भरतश्रेष्ठ ! सायंकाल होते-होते वे वन के एक ऐसे भयंकर प्रदेश में जा पहुँचे, जहाँ फल-मूल और जल की बहुत कमी थी और वहाँ क्रूर स्वभाववाले पक्षी और हिंसक पशु रहते थे ।

ते श्रमेण च कौरव्यास्तृष्णया च प्रपीडिताः ।
नाशक्नुवँस्तदा गन्तुं निद्रया च प्रवृद्धया ।।३।।

वे कुरुकुल-भूषण पाण्डव उस समय अधिक परिश्रम एवं प्यास के कारण अति कष्ट पा रहे थे ।

थकावट से उनकी नींद भी बढ़ गई थी, जिससे पीड़ित होकर वे आगे जाने में असमर्थ हो गये।

न्यविशन्त हि ते सर्वे निरास्वादे महावने।
ततस्तृषापरिक्लान्ता कुन्ती पुत्रानथाब्रवीत् ॥४॥

तब उन सबने उस उजाड़ महावन में डेरा डाल दिया। तदनन्तर प्यास से व्याकुल कुन्तीदेवी अपने पुत्रों से बोली—

माता सती पाण्डवानां पञ्चानां मध्यतः स्थिता।
तृष्णया हि परीतास्मि पुत्रान् भृशमथाब्रवीत् ॥५॥

"मैं पाँच पाण्डुपुत्रों की माता हूँ तथा उन्हीं के बीच में बैठी हुई हूँ तो भी प्यास से व्याकुल हूँ"—इस प्रकार कुन्ती देवी ने अपने पुत्रों के समक्ष यह बात बार-बार दुहराई।

तत् श्रुत्वा भीमसेनस्य मातृस्नेहात् प्रजल्पितम्।
कारुण्येन मनस्तप्तं गमनायोपचक्रमे ॥६॥

माता का वात्सल्य से कहा हुआ वह वचन सुनकर भीमसेन का हृदय करुणा से भर आया। वे मन-ही-मन सन्तप्त हो उठे और स्वयं ही [पानी लाने के लिए] जाने की तैयारी करने लगे।

ततो भीमो वनं घोरं प्रविश्य विजनं महत्।
न्यग्रोधं विपुलच्छायं रमणीयं ददर्श ह ॥७॥

उस समय भीम ने उस विशाल, निर्जन एवं भयंकर वन में प्रवेश करके एक अति सुन्दर तथा विस्तृत छायावाला बरगद का वृक्ष देखा।

तत्र निक्षिप्य तान् सर्वानुवाच भरतर्षभः।
पानीयं मृगयामीह विश्रमध्वमिति प्रभो ॥८॥

राजन्! भरत-कुलभूषण भीमसेन ने उन सबको वहीं बिठाकर कहा—"आप सब लोग यहीं विश्राम करें, तबतक मैं पानी का पता लगाता हूँ।

एते रुवन्ति मधुरं सारसा जलचारिणः।
ध्रुवमत्र जलस्थानं महच्चेति मतिर्मम ॥९॥

"ये जलचर सारस पक्षी बहुत मीठी बोली बोल रहे हैं, अतः यहाँ निकट ही अवश्य कोई महान् जलाशय होगा—ऐसा मेरा विश्वास है।"

अनुज्ञातः स गच्छेति भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत।
जगाम तत्र यत्र स्म सारसा जलचारिणः ॥१०॥

हे भारत! जब बड़े भाई युधिष्ठिर ने 'जाओ' ऐसा कहकर उन्हें आज्ञा प्रदान कर दी, तब भीमसेन वहीं गये, जहाँ वे जलचर सारस पक्षी कलरव कर रहे थे।

स तत्र पीत्वा पानीयं स्नात्वा च भरतर्षभ।
तेषामर्थे च जग्राह भ्रातृणां भ्रातृवत्सलः।
उत्तरीयेण पानीयमानयामास भारत ॥११॥

भरतश्रेष्ठ! वहाँ पानी पीकर तथा स्नान करके भाइयों पर स्नेह रखनेवाले भीमसेन उनके लिए भी चादर में पानी ले आये।

स सुप्तां मातरं दृष्ट्वा भ्रातॄंश्च वसुधातले।
भृशं शोकपरीतात्मा विललाप वृकोदरः ॥१२॥

वहाँ अपनी माता और भाइयों को भूमि पर सोया देख भीमसेन मन-ही-मन शोक से सन्तप्त हो उठे और इस प्रकार विलाप करने लगे—

अतः कष्टतरं किं नु द्रष्टव्यं हि भविष्यति।
यत् पश्यामि महीसुप्तान् भ्रातॄनद्य सुमन्दभाक् ॥१३॥

"हाय! मैं कितना भाग्यहीन हूँ कि आज अपने भाइयों को भूमि पर सोया हुआ देख रहा हूँ। इससे महान् कष्ट की और क्या बात देखने में आएगी!

शयनेषु परार्घ्येषु ये पुरा वारणावते।
नाधिजग्मुस्तदा निद्रां तेऽद्य सुप्ता महीतले ॥१४॥

"आज से पहले जब हम लोग वारणावत में थे, उस समय जिन्हें बहुमूल्य शय्याओं पर भी नींद नहीं आती थी, वे ही आज धरती पर सो रहे हैं।

त्रिषु लोकेषु यो राज्यं धर्मनित्योऽर्हते नृपः।
सोऽयं भूमौ परिश्रान्तः शेते प्राकृतवत् कथम् ॥१५॥

"जो नित्यधर्मपरायण नरेश तीनों लोकों का राज्य पाने के अधिकारी हैं, वे ही आज साधारण मनुष्यों की भाँति थके-माँदे पृथिवी पर कैसे पड़े हैं!

ज्ञातयो यस्य नैव स्युर्विषमाः कुलपांसनाः।
स जीवेत्ससुखं लोके ग्रामद्रुम इवैकजः ॥१६॥

"जिसके कुटुम्बी पक्षपातयुक्त और कुल को कलंक लगानेवाले नहीं होते, वह पुरुष ग्राम के अकेले वृक्ष की भाँति संसार में सुखपूर्वक जीवन धारण करता है।

येषां च बहवः शूरा ज्ञातयो धर्ममाश्रिताः।
ते जीवन्ति सुखं लोके भवन्ति च निरामयाः ॥१७॥

"जिनके पक्ष में बहुत-से शूरवीर होते हैं और जिनके भाई-बन्धु धर्मपरायण होते हैं, वे संसार में सुख से जीते और नीरोग रहते हैं।

बलवन्तः समृद्धार्था मित्रबान्धवनन्दनाः।
जीवन्त्यन्योन्यमाश्रित्य द्रुमाः काननजा इव ॥१८॥

"जो बलवान् हैं, धनसम्पन्न तथा मित्रों और भाई-बन्धुओं को आनन्दित करनेवाले हैं, वे जंगल के वृक्षों की भाँति एक-दूसरे के सहारे जीवन धारण करते हैं।

वयं तु धृतराष्ट्रेण सपुत्रेण दुरात्मना।
विवासिता न दग्धाश्च कथञ्चिद् दैवसंश्रयात् ॥१९॥

"दुरात्मा धृतराष्ट्र और उसके पुत्र ने तो हमें घर से निकाल दिया तथा जलाने की भी चेष्टा की, परन्तु किसी प्रकार भाग्य के भरोसे हम बच गये हैं।

सकामो भव दुर्बुद्धे नानुज्ञां मे युधिष्ठिरः।
प्रयच्छति वधे तुभ्यं तेन जीवसि दुर्मते ॥२०॥
नन्वद्य त्वां सहामात्यं सकर्णानुजसौबलम्।
गत्वा क्रोधसमाविष्टः प्रेषयिष्ये यमक्षयम् ॥२१॥

"ओ दुर्बुद्धि दुर्योधन! आज तेरी कामना पूरी हुई। क्या करूँ! राजा युधिष्ठिर मुझे तेरा वध करने की आज्ञा नहीं दे रहे हैं, दुर्मते! इसीलिए तू अबतक जी रहा है। अन्यथा ओ पापाचारी! मैं आज ही जाकर कुपित हो मन्त्रियों, कर्ण, छोटे भाई और शकुनिसहित तुझे यमलोक भेज सकता हूँ।"

एवमुक्त्वा महाबाहुर्निश्वसन् दीनमानसः।
भ्रातॄन् महीतले सुप्तानवैक्षत वृकोदरः ॥२२॥

ऐसा कहकर महाबाहु भीमसेन लम्बी साँस खींचते हुए भूमि पर सोये हुए भाइयों की ओर देखने लगे।

पास्यन्तीमे जलं पश्चात् प्रतिबुद्धा जितक्लमाः।
इति भीमो व्यवस्यैव जजागार स्वयं तदा ॥२३॥

"ये मेरे भाई जब नींद से उठेंगे, तभी जल पीएँगे"—ऐसा निश्चय करके भीमसेन उस समय स्वयं जागरण करने लगे।

इति महाभारते आदिपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

हिडिम्बा राक्षसी का पाण्डवों के पास आगमन और भीम से वार्तालाप, हिडिम्ब का आना, भीम के साथ उसका युद्ध और भीम द्वारा उसका वध

वैशम्पायन उवाच

तत्र तेषु शयानेषु हिडिम्बो नाम राक्षसः।
अविदूरे वनात् तस्माच्छालवृक्षं समाश्रितः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जहाँ पाण्डव कुन्ती-सहित सो रहे थे, उस वन से थोड़ी ही दूर पर एक शालवृक्ष का आश्रय ले हिडिम्ब नाम का राक्षस रहता था।

क्रूरो मानुषमांसादो महावीर्यपराक्रमः।
यदृच्छया तानपश्यत् पाण्डुपुत्रान् महारथान् ॥२॥

वह अत्यन्त क्रूर और मनुष्य-मांसभक्षी था। उसका बल और पराक्रम महान् था। दैवयोग से उसकी दृष्टि उन महारथी पाण्डवों पर पड़ी।

दृष्टो मानुषमांसस्य महाकायो महाबलः।
आघ्राय मानुषं गन्धं भगिनीमिदमब्रवीत् ॥३॥

मनुष्य का मांस मिलने की सम्भावना से वह बहुत प्रसन्न हुआ। उस महाबली, विशालकाय राक्षस ने मनुष्य की गन्ध पाकर अपनी बहिन से कहा—

उपपन्नश्चिरस्याद्य भक्ष्योऽयं मम सुप्रियः।
स्नेहस्रवान् प्रस्रवति जिह्वा पर्येति मे सुखम् ॥४॥

"आज बहुत समय पश्चात् ऐसा भोजन मिला है, जो मुझे बहुत प्रिय है। इस समय मांस खाने के आनन्द से मेरी जीभ लार टपका रही है, और मुख में चारों ओर घूम रही है।

गच्छ जानीहि के त्वेते शेरते वनमाश्रिताः।
मानुषो बलवान् गन्धो घ्राणं तर्पयतीव मे ॥५॥

"अतः बहिन! तुम जाओ, और पता लगाओ कि ये कौन हैं जो इस वन में आकर सो रहे हैं।

मनुष्य की तीव्र गन्ध आज मेरी नासिका को मानो तृप्त कर रही है।

हत्वैतान् मानुषान् सर्वानानयस्व ममान्तिकम् ।
अस्मद्विषयसुप्तेभ्यो नैतेभ्यो भयमस्ति ते ॥६॥

"तुम इन सब मनुष्यों को मारकर मेरे पास ले आओ। ये हमारी सीमा में सो रहे हैं, अतः इनसे तुम्हें तनिक भी भय नहीं होना चाहिए।

एषामुत्कृत्य मांसानि मानुषाणां यथेष्टतः ।
भक्षयिष्याव सहितौ कुरु तूर्णं वचो मम ॥७॥

"फिर हम दोनों एक साथ बैठकर इन मनुष्यों के मांस को नोच-नोचकर जी-भरकर खाएँगे। तुम मेरी इस आज्ञा का तुरन्त पालन करो।"

एवमुक्ता हिडिम्बा तु हिडिम्बेन तदा वने ।
जगाम तत्र यत्र स्म पाण्डवा भरतर्षभ ॥८॥
ददर्श तत्र सा गत्वा पाण्डवान् पृथया सह ।
शयानान् भीमसेनं च जाग्रतं त्वपराजितम् ॥९॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय वन में हिडिम्ब के ऐसा कहने पर हिडिम्बा उस स्थान पर गई, जहाँ पाण्डव सो रहे थे। वहाँ पहुँचकर उसने कुन्ती के साथ पाण्डवों को सोते और किसी से परास्त न होनेवाले भीमसेन को जागते हुए देखा।

दृष्ट्वैव भीमसेनं सा शालपोतमिवोद्गतम् ।
राक्षसी कामयामास रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥१०॥

धरती पर उगे हुए शाल वृक्ष की भाँति मनोहर तथा पृथिवी पर अनुपम रूपवान् भीमसेन को देखते ही वह राक्षसी [मुग्ध हो] उन्हें चाहने लगी।

अयं श्यामो महाबाहुः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
कम्बुग्रीवः पुष्कराक्षो भर्ता युक्तो भवेन्मम ॥११॥

[उसने मन-ही-मन सोचा—] इस श्यामसुन्दर तरुण वीर की भुजाएँ विशाल हैं, कन्धे सिंह के-से हैं। ये महान् तेजस्वी हैं। इनकी गर्दन शंख के समान सुन्दर और नेत्र कमल के सदृश विशाल हैं। ये मेरे लिए उपयुक्त पति हो सकते हैं।

नाहं भ्रातृवचो जातु कुर्यां क्रूरोपसंहितम् ।
पतिस्नेहोऽतिबलवान् न तथा भ्रातृसौहृदम् ॥१२॥
मुहूर्तमेव तृप्तिश्च भवेद् भ्रातुर्ममैव च ।
हतैरेतैरहत्वा तु मोदिष्ये शाश्वतीः समाः ॥१३॥

"मेरे भाई की आज्ञा क्रूरता से भरी है, अतः मैं कदापि उसका पालन नहीं करूँगी। [नारी के हृदय में] पति का प्रेम जितना प्रबल होता है, भाई का सौहार्द उतना नहीं। इन सबको मार देने पर इनके मांस से मुझे और मेरे भाई को केवल दो घड़ी के लिए तृप्ति मिल सकती है और यदि इन्हें न मारूँ तो बहुत वर्षों तक इनके साथ आनन्द भोगूँगी।"

उपतस्थे महाबाहुं भीमसेनं शनैः शनैः ।
लज्जमानेव ललना दिव्याभरणभूषिता ॥१४॥

[ऐसा सोचकर] दिव्य आभूषणों से विभूषित वह राक्षसी लजीली ललना की भाँति धीरे-धीरे महाबाहु भीमसेन के पास गई। [भीमसेन के पास पहुँचकर—]

राक्षस्युवाच

कुतस्त्वमसि सम्प्राप्तः कश्चासि पुरुषर्षभ ।
क इमे शेरते चेह पुरुषा देवरूपिणः ॥१५॥

राक्षसी ने पूछा—हे पुरुषश्रेष्ठ! आप कौन हैं और कहाँ से आये हैं? ये देवताओं के समान सुन्दर रूपवाले पुरुष कौन हैं, जो यहाँ सो रहे हैं?

केयं वै बृहती श्यामा सुकुमारी तवानघ ।
शेते वनमिदं प्राप्य विश्वस्ता स्वे गृहे यथा ॥१६॥

निष्पाप! ये सबसे अधिक अवस्थावाली, श्यामा[1], सुकुमारी देवी आपकी कौन लगती हैं, जो इस वन में आकर भी ऐसी निःशङ्क होकर सो रही हैं, मानो अपने घर में ही हों।

नेदं जानाति गहनं वनं राक्षससेवितम् ।
वसति ह्यत्र पापात्मा हिडिम्बो नाम राक्षसः ॥१७॥

आपको यह पता नहीं है कि यह गहन वन राक्षसों का निवास-स्थान है। यहाँ हिडिम्ब नामक पापात्मा राक्षस रहता है।

---

१. श्यामा का अर्थ प्रायः काली स्त्री समझा जाता है। परन्तु इसका केवल यही अर्थ नहीं है। मल्लिनाथ ने 'शिशुपाल-वध' और 'मेघदूत' की टीका में श्यामा का अर्थ 'यौवन-मध्यस्था' किया है। भट्टिकाव्य के एक टीकाकार के अनुसार—

तप्तकाञ्चनवर्णाभा स्त्री श्यामेति कथ्यते ।

तपाये हुए सोने के समान वर्णवाली स्त्री को श्यामा कहते हैं।

तेनाहं प्रेषिता भ्रात्रा दुष्टभावेन रक्षसा।
बिभक्षयिषता मांसं युष्माकममरोपम ॥१८॥

वह मेरा भाई है। उस राक्षस ने दुष्टभाव से मुझे यहाँ भेजा है। देवोपम वीर! वह आप लोगों का मांस खाना चाहता है।

साहं त्वामभिसम्प्रेक्ष्य देवगर्भसमप्रभम्।
नान्यं भर्तारमिच्छामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥१९॥

आपका तेज देवकुमारों जैसा है, मैं आपको देखकर अब किसी अन्य को अपना पति नहीं बनाना चाहती। मैं यह सच्ची बात आपसे कह रही हूँ।

एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ युक्तं मयि समाचर।
कामोपहतचित्ताङ्गीं भजमानां भजस्व माम् ॥२०॥

हे धर्मज्ञ! इस बात को समझकर आप मेरे साथ उचित बर्ताव कीजिए। मेरे तन-मन को काम ने मथ डाला है। मैं आपकी सेविका हूँ, आप मुझे स्वीकार कीजिए।

त्रास्यामि त्वां महाबाहो राक्षसात्पुरुषादकात्।
वत्स्यावो गिरिदुर्गेषु भर्ता भव ममानघ ॥२१॥

हे महाबाहो! मैं इस नरभक्षी राक्षस से आपकी रक्षा करूँगी। हम दोनों पर्वतों की दुर्गम कन्दराओं में निवास करेंगे। अनघ! आप मेरे पति हो जाइए।

अन्तरिक्षचरी ह्यस्मि कामतो विचरामि च।
अतुलामाप्नुहि प्रीतिं तत्र तत्र मया सह ॥२२॥

मैं आकाश में विचरनेवाली हूँ तथा जहाँ इच्छा हो वहाँ भी विचरण कर सकती हूँ। आप मेरे साथ विभिन्न लोकों और प्रदेशों में विहार करके अनुपम प्रसन्नता प्राप्त कीजिए।

भीमसेन उवाच

मातरं भ्रातरं ज्येष्ठं सुखसुप्तान् कथं त्विमान्।
परित्यजेत को न्वद्य प्रभवन्निह राक्षसि ॥२३॥

भीमसेन बोले—राक्षसी! कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो इस जगत् में सामर्थ्यवान् होते हुए भी, सुखपूर्वक सोते हुए इन बन्धुओं को, माता को तथा ज्येष्ठ भ्राता को किसी प्रकार अरक्षित छोड़कर जा सके?

को हि सुप्तानिमान्भ्रातृन्दत्त्वा राक्षसभोजनम्।
मातरं च नरो गच्छेत् कामार्त इव मद्विधः ॥२४॥

मुझ जैसा कौन पुरुष कामपीड़ित की भाँति इन सोये हुए भाइयों और माता को राक्षस का भोजन बनाकर [अन्यत्र] जा सकता है?

राक्षस्युवाच

यत्ते प्रियं तत् करिष्ये सर्वानेतान् प्रबोधय।
मोक्षयिष्याम्यहं कामं राक्षसात् पुरुषादकात् ॥२५॥

राक्षसी बोली—आपको जो प्रिय लगे मैं वहीं करूँगी। आप इन सब लोगों को जगा दीजिए। मैं इच्छानुसार उस नर-भक्षी राक्षस से इन सबको छुड़ा लूँगी।

भीमसेन उवाच

सुखसुप्तान् वने भ्रातॄन् मातरं चैव राक्षसि।
न भयाद् बोधयिष्यामि भ्रातुस्तव दुरात्मनः ॥२६॥

भीमसेन ने कहा—राक्षसी! मेरे भाई और माता इस वन में सुखपूर्वक सो रहे हैं, तुम्हारे दुरात्मा भाई के भय से मैं इन्हें नहीं जगाऊँगा।

न हि मे राक्षसा भीरु सोढुं शक्ताः पराक्रमम्।
न मनुष्या न गन्धर्वा न यक्षाश्चारुलोचने ॥२७॥

हे भीरु! सुलोचने! मेरे पराक्रम को राक्षस, मनुष्य, गन्धर्व तथा यक्ष—कोई भी नहीं सह सकता।

गच्छ वा तिष्ठ वा भद्रे यद्वापीच्छसि तत्कुरु।
तं वा प्रेषय तन्वङ्गि भ्रातरं पुरुषादकम् ॥२८॥

अतः भद्रे! तुम जाओ या रहो, अथवा जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वही करो। तन्वङ्गि! यदि तुम चाहो तो अपने नरमांसभक्षी भाई को ही भेज दो।

वैशम्पायन उवाच

तां विदित्वा चिरगतां हिडिम्बो राक्षसेश्वरः।
अवतीर्य द्रुमात् तस्मादाजगामाशु पाण्डवान् ॥२९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! उधर राक्षसराज हिडिम्ब यह सोचकर कि मेरी बहन को गये बहुत देर हो गई, उस वृक्ष से नीचे उतरा और शीघ्र ही पाण्डवों के पास आ गया।

तमापतन्तं दृष्ट्वैव तथा विकृतदर्शनम्।
हिडिम्बोवाच वित्रस्ता भीमसेनमिदं वचः ॥३०॥

देखने में विकराल उस राक्षस हिडिम्ब को आते देखकर ही हिडिम्बा भय से थर्रा उठी और भीमसेन से इस प्रकार बोली—

अहं कामगमा वीर रक्षोबलसमन्विता ।
आरोहेमां मम श्रोणिं नेष्यामि त्वां विहायसा ॥३१॥

"हे वीर ! मैं इच्छानुसार चल सकती हूँ, मुझमें राक्षसों का सम्पूर्ण बल है । आप मेरी पीठ पर बैठ जाइए । मैं आपको आकाश-मार्ग से ले चलूँगी ।

प्रबोधयैतान् संसुप्तान् मातरं च परन्तप ।
सर्वानेव गमिष्यामि गृहीत्वा वो विहायसा ॥३२॥

"हे परन्तप ! आप इन सोये हुए भाइयों और माताजी को भी जगा दीजिए । मैं आप सब लोगों को लेकर आकाश-मार्ग से उड़ चलूँगी ।"

भीम उवाच

मा भैस्त्वं पृथुसुश्रोणि नैष कश्चिन्मयि स्थिते ।
अहमेनं हनिष्यामि प्रेक्षन्त्यास्ते सुमध्यमे ॥३३॥

भीमसेन ने कहा—सुन्दरी ! तुम डरो मत । मेरे सामने यह राक्षस कुछ भी नहीं है । सुमध्यमे ! मैं तुम्हारे देखते-देखते इसे मार डालूँगा ।

नायं प्रतिबलो भीरु राक्षसापसदो मम ।
सोढुं युधि परिस्पन्दमथवा सर्वराक्षसाः ॥३४॥

भीरु ! यह नीच राक्षस युद्ध में मेरे आक्रमण का वेग सह सके, ऐसा बलवान् नहीं है । यह अथवा सम्पूर्ण राक्षस भी मेरा सामना नहीं कर सकते ।

हिडिम्बोवाच

नावमन्ये नरव्याघ्र त्वामहं देवरूपिणम् ।
दृष्टप्रभावस्तु मया मानुषेष्वेव राक्षसः ॥३५॥

हिडिम्बा बोली—नरश्रेष्ठ ! आपका स्वरूप तो देवताओं के समान है । मैं आपका तिरस्कार नहीं करती । मैं तो इसलिए कहती थी कि मनुष्यों पर ही इस राक्षस का प्रभाव मैं [कई बार] देख चुकी हूँ ।

वैशम्पायन उवाच

तथा संजल्पतस्तस्य भीमसेनस्य भारत ।
वाचः शुश्राव ताः क्रुद्धो राक्षसः पुरुषादकः ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! उस नरभक्षी राक्षस हिडिम्ब ने क्रोधपूर्वक वहाँ आकर भीमसेन की कही हुई उपर्युक्त बातें सुनीं ।

तां तथा मानुषं रूपं बिभ्रतीं सुमनोहरम् ।
पुंस्कामां शङ्कमानश्च चुक्रोध पुरुषादकः ॥३७॥

उधर अपनी बहिन को सुन्दर एवं मनोहर मानवरूप धारण किये देखकर राक्षस के मन में यह सन्देह हुआ कि हो-न-हो, यह पतिरूप में किसी पुरुष का वरण करना चाहती है । यह विचार मन में आते ही वह कुपित हो उठा ।

संक्रुद्धो राक्षसस्तस्या भगिन्याः कुरुसत्तम ।
उत्फाल्य विपुले नेत्रे ततस्तामिदमब्रवीत् ॥३८॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! अपनी बहिन पर उस राक्षस का क्रोध बहुत बढ़ गया था । फिर तो उसने बड़ी-बड़ी आँखें फाड़कर उसकी ओर देखते हुए कहा—

को हि मे भोक्तुकामस्य विघ्नं चरति दुर्मतिः ।
न बिभेषि हिडिम्बे किं मत्कोपाद्विप्रमोहिता ॥३९॥

"हिडिम्बे ! मैं [भूखा हूँ और] भोजन चाहता हूँ । कौन मूर्ख मनुष्य मेरे इस अभीष्ट की सिद्धि में विघ्न डाल रहा है ? तू अत्यन्त मोह के वशीभूत होकर क्या मेरे क्रोध से नहीं डरती है ?

धिक् त्वामसति पुंस्कामे मम विप्रियकारिणि ।
पूर्वेषां राक्षसेन्द्राणां सर्वेषामयशस्करि ॥४०॥

"मनुष्य को पति बनाने की इच्छा रखकर मेरा अप्रिय करनेवाली दुराचारिणि ! तुझे धिक्कार है । तू पूर्ववर्ती सम्पूर्ण राक्षसराजों के कुल में कलंक लगानेवाली है ।

यानिमानाश्रिताकार्षीर्विप्रियं सुमहन्मम ।
एष तानद्य वै सर्वान् हनिष्यामि त्वया सह ॥४१॥

"जिन लोगों का आश्रय लेकर तूने मेरा महान् अप्रिय कार्य किया है, यह देख, मैं उन सबको आज तेरे साथ ही मार डालता हूँ ।"

एवमुक्त्वा हिडिम्बां स हिडिम्बो लोहितेक्षणः ।
वधायाभिपपातैतान् दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥४२॥

हिडिम्बा से ऐसा कहकर लाल-लाल आँखें किये हिडिम्ब दाँत-से-दाँत पीसता हुआ हिडिम्बा और पाण्डवों का वध करने की इच्छा से उनकी ओर झपटा ।

भीमसेनस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं प्रहसन्निव ।
भगिनीं प्रति संक्रुद्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥४३॥

अपनी बहिन पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए [और उसपर झपटते हुए] राक्षस की ओर देखकर भीमसेन हँसते हुए से इस प्रकार बोले—

मयि तिष्ठति दुष्टात्मन् न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
अहमेकश्च नेष्यामि त्वामद्य यमसादनम् ॥४४॥

"दुष्टात्मन् ! तू मेरे रहते [किसी] स्त्री को नहीं मार सकता । आज मैं अकेला ही [तुझसे लड़कर] तुझे यमलोक पठा दूंगा ।

निराबाधास्त्वयि हते मया राक्षसपांसन ।
वनमेतच्चरिष्यन्ति पुरुषा वनचारिणः ॥४५॥

"राक्षसकुलाङ्गार ! मेरे हाथों से तेरे मारे जाने पर वनवासी लोग बिना किसी विघ्न-बाधा के इस वन में विचरण करेंगे।"

हिडिम्ब उवाच

गर्जितेन वृथा किं ते कत्थितेन च मानुष ।
कृत्वैतत् कर्मणा सर्वं कत्थेथा मा चिरं कृथाः ॥४६॥

हिडिम्ब बोला—अरे ओ मनुष्य ! व्यर्थ गर्जना करने और बढ़-बढ़कर बातें बनाने से क्या लाभ ? यह सब-कुछ पहले करके दिखा, फिर डींग हाँकना, अब देर न कर।"

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो बाहुं प्रगृह्य पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत संक्रुद्धो भीमसेनमरिन्दमम् ॥४७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं जनमेजय ! ऐसा कहकर क्रोध में भरा हुआ वह नरभक्षी राक्षस अपनी एक बाँह ऊपर को उठाये शत्रुदमन भीमसेन पर टूट पड़ा ।

अन्योन्यं तौ समासाद्य विचकर्षतुरोजसा ।
हिडिम्बो भीमसेनश्च विक्रमं चक्रतुः परम् ॥४८॥

फिर तो वे दोनों एक-दूसरे से गुंथ गये, और बलपूर्वक एक-दूसरे को अपनी-अपनी ओर खींचने लगे । हिडिम्ब और भीमसेन दोनों ने बड़ा भारी पराक्रम प्रकट किया ।

तयोः शब्देन महता विबुद्धास्ते नरर्षभाः ।
सह मात्रा च ददृशुर्हिडिम्बामग्रतः स्थिताम् ॥४९॥

उन दोनों की भारी गर्जना से वे नरश्रेष्ठ पाण्डव माता-सहित जाग उठे और उन्होंने अपने सामने खड़ी हुई हिडिम्बा को देखा ।

प्रबुद्धास्ते हिडिम्बाया रूपं दृष्ट्वातिमानुषम् ।
विस्मिताः पुरुषव्याघ्रा बभूवुः पृथया सह ॥५०॥

जागने पर हिडिम्बा का अलौकिक रूप देख वे पुरुषसिंह पाण्डव माता कुन्ती-सहित अति विस्मित हो गये । तब—

कुन्त्युवाच

कस्य त्वं सुरगर्भाभे का वासि वरवर्णिनि ।
केन कार्येण सम्प्राप्ता कुतश्चागमनं तव ॥५१॥

कुन्ती ने पूछा—देवकन्याओं की-सी कान्तिवाली सुन्दरि ! तुम कौन हो और किसकी कन्या हो ? तुम किस कार्य के लिए आई हो और कहाँ से आई हो ?

हिडिम्बोवाच

यदेतत् पश्यसि वनं नीलमेघनिभं महत् ।
निवासो राक्षसस्यैष हिडिम्बस्य ममैव च ॥५२॥

हिडिम्बा बोली—देवि ! यह जो नील मेघ के समान विशाल वन आप देख रही हैं, यही राक्षस हिडिम्ब का और मेरा निवास-स्थान है ।

तस्य मां राक्षसेन्द्रस्य भगिनीं विद्धि भामिनि ।
भ्रात्रा सम्प्रेषितामार्ये त्वां सपुत्रां जिघांसता ॥५३॥

महाभागे ! आप मुझे उस राक्षसराज हिडिम्ब की बहिन समझें । आर्ये ! मेरे भाई ने मुझे आपकी और आपके पुत्रों की हत्या करने की इच्छा से भेजा था ।

क्रूरबुद्धेरहं तस्य वचनादागता त्विह ।
अद्राक्षं नवहेमाभं तव पुत्रं महाबलम् ॥५४॥

उस क्रूरबुद्धि के कहने से मैं यहाँ आई । यहाँ नूतन स्वर्ण की-सी आभावाले आपके महाबली पुत्र पर मेरी दृष्टि पड़ी ।

ततोऽहं सर्वभूतानां भावे विचरता शुभे ।
प्रेरिता तव पुत्रस्य मन्मथेन वशानुगा ॥५५॥

शुभे ! उन्हें देखते ही समस्त प्राणियों के अन्तः-करण में विचरनेवाले कामदेव से प्रेरित होकर मैं आपके पुत्र की वशवर्तिनी हो गई ।

ततो वृतो मया भर्ता तव पुत्रो महाबलः ।
अपनेतुं च यतितो न चैव शकितो मया ॥५६॥

तब मैंने आपके महाबली पुत्र को पति-रूप में वरण कर लिया और इस बात के लिए प्रयत्न किया कि उन्हें [और आप सबको] लेकर यहाँ से अन्यत्र

भाग चलूं, परन्तु आपके पुत्र की स्वीकृति न मिलने से मैं इस कार्य में सफल न हो सकी।

चिरायमाणां मां ज्ञात्वा ततः स पुरुषादकः।
स्वयमेवागतो हन्तुमिमान् सर्वांस्तवात्मजान् ॥५७॥

मेरे लौटने में देर होती जान वह नरभक्षी राक्षस स्वयं ही आपके इन सब पुत्रों को मार डालने के लिए यहां आया।

स तेन मम कान्तेन तव पुत्रेण धीमता।
बलादितो विनिष्पिष्य व्यपनीतो महात्मना ॥५८॥

परन्तु मेरे प्राणवल्लभ तथा आपके बुद्धिमान् पुत्र महात्मा भीम उसे बलपूर्वक यहाँ से रगड़ते हुए हटा ले गये हैं।

विकर्षन्तौ महावेगौ गर्जमानौ परस्परम्।
पश्यैवं युधि विक्रान्तावेतौ च नरराक्षसौ ॥५९॥

देखिए, युद्ध में पराक्रम दिखानेवाले वे दोनों मनुष्य और राक्षस जोर-जोर से गर्ज रहे हैं तथा बड़े वेग से गुत्थमगुत्था होकर एक-दूसरे को अपनी ओर खींच रहे हैं।

वैशम्पायन उवाच

तस्याः श्रुत्वैव वचनमुत्पपात युधिष्ठिरः।
अर्जुनो नकुलश्चैव सहदेवश्च वीर्यवान् ॥६०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हिडिम्बा की यह बात सुनते ही युधिष्ठिर उछलकर खड़े हो गये। तब अर्जुन, नकुल और पराक्रमी सहदेव ने भी ऐसा ही किया।

तौ ते ददृशुरासक्तौ विकर्षन्तौ परस्परम्।
काङ्क्षमाणौ जयं चैव सिंहाविव बलोत्कटौ ॥६१॥

तदनन्तर उन्होंने देखा कि वे दोनों प्रचण्ड बलशाली सिंहों की भाँति आपस में गुंथे हुए हैं तथा अपनी-अपनी विजय चाहते हुए एक-दूसरे को घसीट रहे हैं।

राक्षसेन तदा भीमं क्लिश्यमानं निरीक्ष्य च।
उवाचेदं वचः पार्थः प्रहसञ्छनकैरिव ॥६२॥

उस समय भीमसेन को राक्षस द्वारा पीड़ित होते देख अर्जुन धीरे-धीरे हँसते हुए-से बोले—

भीम मा भैर्महाबाहो न त्वां बुध्यामहे वयम्।
समेतं भीमरूपेण रक्षसा श्रमकर्शितम् ॥६३॥

महाबाहु भैया भीम! डरना मत। अबतक हम लोग नहीं जानते थे कि तुम भयंकर राक्षस से भिड़कर अत्यन्त परिश्रम के कारण कष्ट पा रहे हो।

साहाय्येऽस्मि स्थितः पार्थ पातयिष्यामि राक्षसम्।
नकुलः सहदेवश्च मातरं गोपयिष्यतः ॥६४॥

कुन्तीनन्दन! अब मैं तुम्हारी सहायता के लिए उपस्थित हूँ। नकुल और सहदेव माताजी की रक्षा करेंगे।

भीम उवाच

उदासीनो निरीक्षस्व न कार्यः सम्भ्रमस्त्वया।
न जात्वयं पुनर्जीवेन्मद्बाह्वन्तरमागतः ॥६५॥

भीम बोले—अर्जुन! तुम तटस्थ होकर चुपचाप देखते रहो। तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं। मेरी दोनों भुजाओं के बीच में आकर अब यह राक्षस कदापि जीवित नहीं रह सकता।

अर्जुन उवाच

किमनेन चिरं भीम जीवता पापरक्षसा।
गन्तव्यं न चिरं स्थातुमिह शक्यमरिन्दम ॥६६॥

अर्जुन ने कहा—हे शत्रुदमन भीम! इस पापी राक्षस को देर तक जीवित रखने से क्या लाभ? हम लोगों को आगे चलना है, अतः यहाँ अधिक समय तक ठहरना सम्भव नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु भीमो रोषात् तु रक्षसः।
उत्क्षिप्याभ्रामयद् देहं तूर्णं शतगुणं तदा।
निष्पिष्यैनं बलाद् भूमौ पशुमारममारयत् ॥६७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुन के ऐसा कहने पर भीम ने क्रोधपूर्वक उस राक्षस को तुरन्त ऊपर उठा लिया और उसे सौ बार घुमाया। फिर उसे बलपूर्वक भूमि पर दे मारा तथा उसे रगड़ते हुए पशु को मारने की भाँति मारना आरम्भ किया।

स मार्यमाणो भीमेन ननाद विपुलं स्वनम्।
पूरयंस्तद् वनं सर्वं जलार्द्र इव दुन्दुभिः ॥६८॥

इस प्रकार भीमसेन की मार पड़ने पर वह राक्षस जल से भीगे हुए नगारे की-सी ध्वनि से सम्पूर्ण वन को गुंजाता हुआ जोर-जोर से चीखने लगा।

बाहुभ्यां योक्त्रयित्वा तं बलवान् पाण्डुनन्दनः ।
मध्ये भङ्क्त्वा महाबाहुर्हर्षयामास पाण्डवान् ॥६९॥

तब महाबाहु बलवान् पाण्डुनन्दन भीमसेन ने उसे दोनों भुजाओं से बाँधकर उलटा मोड़ दिया और उसकी कमर तोड़कर पाण्डवों का हर्ष बढ़ाया।

हिडिम्बं निहतं दृष्ट्वा संहृष्टास्ते तरस्विनः ।
अपूजयन् नरव्याघ्रं भीमसेनमरिन्दमम् ॥७०॥

हिडिम्ब को मारा गया देख वे महान् वेगशाली पाण्डव अत्यन्त हर्ष से उल्लसित हो उठे और उन्होंने शत्रुओं का दमन करनेवाले नरश्रेष्ठ भीमसेन की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

अभिपूज्य महात्मानं भीमं भीमपराक्रमम् ।
पुनरेवार्जुनो वाक्यमुवाचेदं वृकोदरम् ॥७१॥

इस प्रकार भयंकर पराक्रमी महात्मा भीम की प्रशंसा करके अर्जुन ने पुनः उनसे यह बात कही—

न दूरं नगरं मन्ये वनादस्मादहं विभो ।
शीघ्रं गच्छाम भद्रं ते न नो विद्यात् सुयोधनः ॥७२॥

"प्रभो ! मैं समझता हूँ, इस वन से नगर बहुत दूर नहीं है। तुम्हारा कल्याण हो। अब हम लोग शीघ्र चलें, जिससे दुर्योधन को हमारा पता न लग सके।"

ततः सर्वे तथेत्युक्त्वा सह मात्रा महारथाः ।
प्रययुः पुरुषव्याघ्रा हिडिम्बा चैव राक्षसी ॥७३॥

तब वे सभी पुरुषसिंह महारथी पाण्डव 'बहुत अच्छा, ऐसा ही करें' यों कहकर माता के साथ वहाँ से चल दिये। हिडिम्बा राक्षसी भी उनके साथ हो ली।

इति महाभारते आदिपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

भीमसेन और हिडिम्बा का मिलन तथा घटोत्कच की उत्पत्ति, पाण्डवों की व्यासजी से भेंट और उनका एकचक्रा नगरी में प्रवेश

भीमसेन उवाच

स्मरन्ति वैरं रक्षांसि मायामाश्रित्य मोहिनीम् ।
हिडिम्बे व्रज पन्थानं त्वमिमं भ्रातृसेवितम् ॥१॥

[हिडिम्बा को अपने पीछे-पीछे आते देखकर] **भीमसेन बोले**—हिडिम्बे ! राक्षस मोहिनी माया का आश्रय लेकर बहुत दिनों तक वैर का स्मरण रखते हैं, अतः तू भी अपने भाई के ही मार्ग पर चली जा।

युधिष्ठिर उवाच

क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र भीम मा स्म स्त्रियं वधीः ।
शरीरगुप्त्याभ्यधिकं धर्मं गोपाय पाण्डव ॥२॥

[यह सुनकर] **युधिष्ठिर बोले**—हे पुरुषसिंह भीम ! यद्यपि तुम क्रोध से भरे हुए हो तो भी स्त्री का वध मत करो। पाण्डुनन्दन ! शरीर की रक्षा की अपेक्षा भी अधिक तत्परता से धर्म की रक्षा करो।

वैशम्पायन उवाच

हिडिम्बा तु ततः कुन्तीमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
युधिष्ठिरं तु कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् हिडिम्बा ने हाथ जोड़कर कुन्तीदेवी तथा उनके पुत्र युधिष्ठिर को प्रणाम करके इस प्रकार कहा—

आर्ये जानासि यद् दुःखमिह स्त्रीणामनङ्गजम् ।
तदिदं मामनुप्राप्तं भीमसेनकृतं शुभे ॥४॥

"आर्ये ! संसार में स्त्रियों को जो कामजनित पीड़ा होती है, उसे आप जानती ही हैं। शुभे ! आपके पुत्र भीमसेन की ओर से मुझे वही कामदेव-जनित कष्ट प्राप्त हुआ है।

मया ह्युत्सृज्य सुहृदः स्वधर्मं स्वजनं तथा ।
वृतोऽयं पुरुषव्याघ्रस्तव पुत्रः पतिः शुभे ॥५॥

"शुभे ! मैंने अपने हितैषी सुहृदों, स्वजनों तथा स्वधर्म का परित्याग करके आपके पुत्र पुरुषसिंह भीमसेन को अपना पति चुना है।

वीरेणाहं तथानेन त्वया चापि यशस्विनि ।
प्रत्याख्याता न जीवामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥६॥

"यशस्विनि ! यदि ये वीरवर भीमसेन अथवा आप मेरी इस प्रार्थना को ठुकरा देंगे, तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ।

तदर्हसि कृपां कर्तुं मयि त्वं वरवर्णिनि ।
मत्वा मूढेति तन्मां त्वं भक्ता वानुगतेति वा ॥७॥

"अतएव हे वरवर्णिनि ! आपको मुझे एक मूढ स्वभाव की स्त्री मानकर अथवा अपनी भक्ता जानकर या सेविका समझकर मुझपर कृपादृष्टि करनी चाहिए ।

भर्त्रानेन महाभागे संयोजय सुतेन ह ।
तमुपादाय गच्छेयं यथेष्टं देवरूपिणम् ।
पुनश्चैवानयिष्यामि विस्रम्भं कुरु मे शुभे ॥८॥

"हे महाभागे ! मुझे अपने इस पुत्र से, जो मेरे मनोनीत पति हैं, मिलने का अवसर प्रदान कीजिए । मैं इन देवस्वरूप स्वामी को लेकर अपने अभीष्ट स्थान पर जाऊँगी और पुनः निश्चित समय पर इन्हें आपके पास वापस ले आऊँगी । हे शुभे ! आप मेरा विश्वास कीजिए ।

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं हिडिम्बे नात्र संशयः ।
स्थातव्यं तु त्वया सत्ये यथा ब्रूयां सुमध्यमे ॥९॥

युधिष्ठिर बोले—हिडिम्बे ! तुम जैसा कह रही हो, वह सब ठीक है, इसमें संशय नहीं है । परन्तु सुमध्यमे ! मैं जैसे कहूँ, तुम्हें उसी प्रकार सत्य पर स्थित रहना चाहिए ।

स्नातं कृताह्निकं भद्रे कृतकौतुकमङ्गलम् ।
भीमसेनं भजेथास्त्वं प्रागस्तगमनाद् रवेः ॥१०॥

भद्रे ! जब भीमसेन स्नान और नित्यकर्म करके माङ्गलिक वेश-भूषा आदि धारण कर लें, तब तुम प्रतिदिन उनके साथ रहकर सूर्यास्त होने से पहले तक ही उनकी सेवा कर सकती हो ।

अहस्सु विहरानेन यथाकामं मनोजवा ।
अयं त्वानयितव्यस्ते भीमसेनः सदा निशि ॥११॥

तुम मन के समान वेग से चलने-फिरनेवाली हो, अतः दिनभर तो तुम इनके साथ अपनी इच्छा के अनुसार विहार करो, परन्तु रात्रि में भीमसेन को सदा ही हमारे पास पहुँचा देना होगा ।

वैशम्पायन उवाच

तथेति तत् प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा ।
भीमसेनमुपादाय सोर्ध्वमाचक्रमे ततः ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब 'ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा करके हिडिम्बा राक्षसी भीमसेन को साथ ले, वहाँ से ऊपर आकाश में उड़ गई ।

प्रजज्ञे राक्षसी पुत्रं भीमसेनान्महाबलम् ।
विरूपाक्षं महावक्त्रं शङ्कुकर्णं विभीषणम् ॥१३॥

कुछ काल के पश्चात् उस राक्षसी ने भीमसेन से एक महान् बलवान् पुत्र उत्पन्न किया, जिसकी आँखें विकराल, मुख विशाल और कान शंकु के समान थे । वह देखने में भयंकर लगता था ।

घटो हास्योत्कच इति माता तं प्रत्यभाषत ।
अब्रवीत् तेन नामास्य घटोत्कच इति स्म ह ॥१४॥

बालक की माता ने भीमसेन से कहा—"इसका घट [सिर] उत्कच=केश-रहित है ।" उनके इस कथन से ही उसका नाम घटोत्कच हो गया ।

संवाससमयो जीर्ण इत्याभाष्य ततस्तु तान् ।
हिडिम्बा समयं कृत्वा स्वां गतिं प्रत्यपद्यत ॥१५॥

उधर हिडिम्बा पाण्डवों से यह कहकर कि भीमसेन के साथ रहने का मेरा समय समाप्त हो गया तथा आवश्यकता के समय पुनः मिलने की प्रतिज्ञा करके अपने अभीष्ट स्थान को चली गई ।

ते वनेन वनं गत्वा घ्नन्तो मृगगणान् बहून् ।
अपक्रम्य ययू राजँस्त्वरमाणा महारथाः ॥१६॥

जनमेजय ! वे महारथी पाण्डव एक वन से दूसरे वन में घूमते हुए तथा अनेक हिंसक पशुओं का आखेट करते हुए बड़ी उतावली के साथ आगे बढ़े ।

जटाः कृत्वाऽऽत्मनः सर्वे वल्कलाजिनवाससः ।
सह कुन्त्या महात्मानो बिभ्रतस्तापसं वपुः ॥१७॥
क्वचिद् वहन्तो जननीं त्वरमाणा महारथाः ।
क्वचिच्छन्देन गच्छन्तस्ते जग्मुः प्रसभं पुनः ॥१८॥

उन सबने अपने सिर पर जटाएँ रख ली थीं । उन्होंने वल्कल और मृगचर्म से अपने शरीर को ढँक लिया था तथा तपस्वी का-सा वेष धारण कर रखा था । इस प्रकार वे महारथी महात्मा पाण्डव माता कुन्तीदेवी के साथ कहीं तो उन्हें पीठ पर ढोते हुए तीव्र गति से चलते थे, कहीं इच्छानुसार शनैः-शनैः पग बढ़ाते थे और कहीं पुनः अपनी चाल तेज़ कर देते थे ।

ब्राह्मं वेदमधीयाना वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
नीतिशास्त्रं च सर्वज्ञा ददृशुस्ते पितामहम् ॥१९॥

पाण्डव लोग सब शास्त्रों के ज्ञाता तथा प्रतिदिन उपनिषद्, वेद-वेदाङ्ग तथा नीतिशास्त्र का स्वाध्याय किया करते थे। एक दिन जब वे स्वाध्याय में संलग्न थे, उन्हें पितामह व्यासजी का दर्शन हुआ।

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं तदा ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे सह मात्रा परन्तपाः ॥२०॥

शत्रुसंतापक पाण्डवों ने उस समय उन महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन को प्रणाम किया तथा अपनी माता के साथ वे सब लोग उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तब—

व्यास उवाच

मयेदं व्यसनं पूर्वं विदितं भरतर्षभाः ।
तद्विदित्वास्मि सम्प्राप्तश्चिकीर्षुः परमं हितम् ।
न विषादोऽत्र कर्तव्यः सर्वमेतत् सुखाय वः ॥२०

व्यासजी बोले—भरतश्रेष्ठ पाण्डुकुमारो ! मैंने पहले ही तुम लोगों पर आये हुए इस संकट को जान लिया था। वह सब-कुछ जानकर तुम्हारा परम हित करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिए, यह सब-कुछ तुम्हारे भावी कल्याण के लिए हो रहा है।

समास्ते चैव मे सर्वे यूयं चैव न संशयः ।
दीनतो बालतश्चैव स्नेहं कुर्वन्ति मानवाः ॥२२॥
तस्मादभ्यधिकः स्नेहो युष्मासु मम साम्प्रतम् ।
स्नेहपूर्वं चिकीर्षामि हितं वस्तन्निबोधत ॥२३॥

इसमें सन्देह नहीं कि मेरे लिए तुम लोग और धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि सब समान ही हैं फिर भी जहाँ विनम्रता एवं बचपन है, वहीं मनुष्य अधिक स्नेह करते हैं, इसी कारण इस समय तुम लोगों पर मेरा अधिक स्नेह है। मैं स्नेहपूर्वक तुम लोगों का हित करना चाहता हूँ, अतः मेरी बात सुनो !

इदं नगरमभ्याशे रमणीयं निरामयम् ।
वसतेह प्रतिच्छन्ना ममागमनकाङ्क्षिणः ॥२४॥

यहाँ पास ही जो यह रमणीय नगर है, इसमें रोग-व्याधि का भय नहीं है, अतः तुम सब लोग यहीं छिपकर रहो तथा मेरे पुनः आने की प्रतीक्षा करो।

वैशम्पायन उवाच

एवं स तान्समाश्वास्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।
एकचक्रामभिगतः कुन्तीमाश्वासयत् प्रभुः ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार पाण्डवों को भली-भाँति आश्वासन देकर सत्यवती-नन्दन व्यास उन सबके साथ एकचक्रा नगरी के निकट गये। वहाँ उन्होंने कुन्ती को इस प्रकार सान्त्वना दी।

व्यास उवाच

जीवत्पुत्रि सुतस्तेऽयं धर्मनित्यो युधिष्ठिरः ।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा प्रशासिष्यति धर्मराट् ॥२६॥

व्यासजी बोले—जीवित पुत्रोंवाली बहू ! तुम्हारे ये पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर सदा धर्मपरायण हैं, अतः ये धर्म से ही सारी पृथिवी को जीतकर उसपर शासन करेंगे।

अनुगृह्य सुहृद्वर्गं भोगैश्वर्यसुखैः सह ।
पितृपैतामहं राज्यमिमे भोक्ष्यन्ति ते सुताः ॥२७॥

तुम्हारे ये पुत्र अपने सुहृदों के समुदाय को उत्तम भोग एवं ऐश्वर्य-सुख के द्वारा अनुगृहीत करके बाप-दादों के राज्य का पालन एवं उपभोग करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा निवेश्यैतान् ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अब्रवीत् पाण्डवश्रेष्ठमृषिर्द्वैपायनस्तदा ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कह-कर महर्षि कृष्णद्वैपायन ने इन सबको एक ब्राह्मण के घर में ठहरा दिया और पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर से कहा—

इह मासं प्रतीक्षध्वमागमिष्याम्यहं पुनः ।
देशकालौ विदित्वैव लप्स्यध्वं परमां मुदम् ॥२९॥

तुम लोग यहाँ एक मास तक मेरी प्रतीक्षा करो। मैं पुनः आऊँगा। देश और काल का विचार करके ही कोई कार्य करना चाहिए, इससे तुम्हें अनुपम सुख मिलेगा।

स तैः प्राञ्जलिभिः सर्वैस्तथेत्युक्तो नराधिप ।
जगाम भगवान् व्यासो यथागतमृषिः प्रभुः ॥३०॥

राजन् ! उस समय सबने हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा स्वीकार की। तब शक्तिशाली महर्षि भगवान् व्यास जैसे आये थे, वैसे ही चले गये।

इति महाभारते आदिपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्याय।

ब्राह्मण परिवार का कष्ट और कुन्ती का उन्हें आश्वासन देना

जनमेजय उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
उत ऊर्ध्वं द्विजश्रेष्ठ किमकुर्वत पाण्डवाः ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! कुन्ती के महारथी पुत्र पाण्डव जब एकचक्रा नगरी में पहुँच गये, उसके पश्चात् उन्होंने क्या किया ?

वैशम्पायन उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
ऊषुर्नातिचिरं कालं ब्राह्मणस्य निवेशने ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन् ! एकचक्रा नगरी में जाकर महारथी कुन्तीपुत्र थोड़े दिनों तक एक ब्राह्मण के घर में रहे ।

रमणीयानि पश्यन्तो वनानि विविधानि च ।
पार्थिवानपि चोद्देशान् सरितश्च सरांसि च ॥३॥
चेरुर्भैक्ष्यं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते ।
बभूवुर्नागराणां च स्वैर्गुणैः प्रियदर्शनाः ॥४॥

प्रजानाथ ! उस समय वे सभी पाण्डव भाँति-भाँति के रमणीय वनों, सुन्दर भूभागों, सरिताओं और सरोवरों का दर्शन करते हुए भिक्षा के द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे । अपने उत्तम गुणों के कारण वे सभी नागरिकों के प्रीति-पात्र हो गये थे ।

निवेदयन्ति स्म तदा कुन्त्या भैक्ष्यं सदा निशि ।
तया विभक्तान्भागांस्ते भुञ्जते स्म पृथक्पृथक् ॥५॥

प्रतिदिन रात्रि के आरम्भ में भिक्षा लाकर वे माता कुन्ती को सौंप देते और वे बाँटकर जिसके लिए जितना भाग देतीं, उतना ही पृथक्-पृथक् लेकर पाण्डव भोजन करते थे ।

अर्धं ते भुञ्जते वीराः सह मात्रा परन्तपाः ।
अर्धं सर्वस्य भैक्ष्यस्य भीमो भुङ्क्ते महाबलः ॥६॥

वे चारों वीर परन्तप पाण्डव अपनी माता के साथ आधी भिक्षा का उपभोग करते थे और सम्पूर्ण भिक्षा का आधा भाग अकेले महाबली भीम खाते थे ।

ततः कदाचिद् भैक्ष्याय गतास्ते पुरुषर्षभाः ।
संगत्या भीमसेनस्तु तत्रास्ते पृथया सह ॥७॥

एक दिन नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदि चार भाई भिक्षा के लिए गये, किन्तु भीमसेन किसी कार्य-विशेष के सम्बन्ध से माता कुन्ती के साथ घर पर ही रह गये थे ।

अथार्तिजं महाशब्दं ब्राह्मणस्य निवेशने ।
भृशमुत्पतितं घोरं कुन्ती शुश्राव भारत ॥८॥

हे भारत ! उस दिन ब्राह्मण के घर में सहसा बड़े जोर का भयानक आर्तनाद होने लगा, जिसे कुन्ती ने सुना ।

रोरूयमाणांस्तान् दृष्ट्वा परिदेवयतश्च सा ।
कारुण्यात्साधुभावाच्च कुन्ती राजन्न चक्षमे ॥९॥

हे राजन् ! उस ब्राह्मण परिवार के लोगों को बहुत रोते और विलाप करते देख कुन्तीदेवी अत्यन्त दयालुता और साधुस्वभाव के कारण सहन न कर सकीं ।

मथ्यमानेन दुःखेन हृदयेन पृथा तदा ।
उवाच भीमं कल्याणी कृपान्वितमिदं वचः ॥१०॥

उस समय उनका दुःख मानो कुन्तीदेवी के हृदय को मथे डालता था, अतः कल्याणमयी कुन्ती भीमसेन से इस प्रकार करुणायुक्त वचन बोलीं ।

कुन्त्युवाच

वसाम ससुखं पुत्र ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अज्ञाता धार्तराष्ट्रस्य सत्कृता वीतमन्यवः ॥११॥

कुन्ती बोली—पुत्र ! हम लोग इस ब्राह्मण के घर में दुर्योधन से अज्ञात रहकर बड़े सुख से निवास करते हैं । यहाँ हमारा इतना सत्कार हुआ है कि हम अपने दुःख और दैन्य को भूल गये हैं ।

सा चिन्तये सदा पुत्र ब्राह्मणस्यास्य किं न्वहम् ।
प्रियं कुर्यामिति गृहे यत् कुर्युरुषिताः सुखम् ॥१२॥

अतः वत्स ! मैं सदा यही सोचती रहती हूँ कि इस ब्राह्मण का मैं कौन-सा प्रिय कार्य करूँ, जिसे किसी के घर में सुखपूर्वक रहनेवाले लोग किया करते हैं ।

एतावान् पुरुषस्तात कृतं यस्मिन्न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ॥१३॥

तात ! मनुष्य वही है, जिसके प्रति किया हुआ उपकार नष्ट नहीं होता [जो उपकार का बदला चुकाता है, वही मनुष्य है] और यही उसकी मानवता है कि दूसरा पुरुष उसके प्रति जितना उपकार करे, वह उससे भी अधिक उस मनुष्य का प्रत्युपकार कर दे।

तदिदं ब्राह्मणस्यास्य दुःखमापतितं ध्रुवम् ।
तत्रास्य यदि साहाय्यं कुर्यामुपकृतं भवेत् ॥१४॥

इस समय निश्चय ही इस ब्राह्मण पर कोई भारी दुःख आ पड़ा है। यदि उसमें मैं इसकी सहायता करूँ तो वास्तविक उपकार हो सकता है।

भीमसेन उवाच

ज्ञायतामस्य यद् दुःखं यतश्चैव समुत्थितम् ।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥१५॥

भीमसेन बोले—माँ ! पहले यह पता लगाओ कि इस ब्राह्मण को क्या दुःख है और वह किस कारण से प्राप्त हुआ है। यह जान लेने पर अत्यन्त दुष्कर होने पर भी मैं इसका कष्ट दूर करने के लिए पूरा उद्योग करूँगा।

वैशम्पायन उवाच

एवं तौ कथयन्तौ च भूयः शुश्रुवतुः स्वनम् ।
आर्तिजं तस्य विप्रस्य सभार्यस्य विशाम्पते ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वे माँ-बेटे इस प्रकार वार्तालाप कर ही रहे थे कि पुनः पत्नी-सहित ब्राह्मण का आर्तनाद उनके कानों में पड़ा।

अन्तःपुरं ततस्तस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
विवेश त्वरिता कुन्ती बद्धवत्सेव सौरभी ॥१७॥

तब कुन्ती तुरन्त ही उस महात्मा ब्राह्मण के घर में घुस गईं, ठीक उसी प्रकार जैसे घर के भीतर बँधे हुए बछड़ेवाली गाय स्वयं ही उसके पास पहुँच जाती है।

ततस्तं ब्राह्मणं तत्र भार्यया च सुतेन च ।
दुहित्रा चैव सहितं ददर्शावनताननम् ॥१८॥

भीतर जाकर कुन्ती ने ब्राह्मण को वहाँ अपनी पत्नी, पुत्र और कन्या के साथ मुँह लटकाये हुए बैठे देखा।

ब्राह्मण उवाच

धिगिदं जीवितं लोके गतसारमनर्थकम् ।
दुःखमूलं पराधीनं भृशमप्रियभागि च ॥१९॥

ब्राह्मण कह रहा था—जगत् के इस जीवन को धिक्कार है, क्योंकि यह सारहीन, निरर्थक, दुःख की जड़, पराधीन तथा अत्यन्त अप्रिय भावों का भागी है।

जीविते परमं दुःखं जीविते परमो ज्वरः ।
जीविते वर्तमानस्य दुःखानामागमो ध्रुवः ॥२०॥

जीने में महान् दुःख है। जीवनकाल में बड़ी भारी चिन्ता का सामना करना पड़ता है। जिसने जीवन धारण कर रखा है, उसे दुःखों की प्राप्ति अवश्य होती है।

न हि योगं प्रपश्यामि येन मुच्येयमापदः ।
पुत्रदारेण वा सार्धं प्राद्रवेयमनामयम् ॥२१॥

मुझे ऐसा कोई उपाय दिखाई नहीं देता, जिससे इस विपत्ति से छुटकारा पा सकूँ अथवा पुत्र और स्त्री के साथ किसी सुरक्षित स्थान में भाग चलूँ।

यतितं वै मया पूर्वं वेत्थ ब्राह्मणि तत् तथा ।
क्षेमं यतस्ततो गन्तुं त्वया तु मम न श्रुतम् ॥२२॥

ब्राह्मणी ! तुम इस बात को ठीक-ठीक जानती हो कि पहले तुम्हारे साथ किसी ऐसे स्थान में चलने के लिए, जहाँ सब प्रकार से अपना कल्याण हो, मैंने प्रयत्न किया था, परन्तु उस समय तुमने मेरी बात नहीं सुनी।

अहो धिक्कां गतिं त्वद्य गमिष्यामि सबान्धवः ।
सर्वैः सह मृतं श्रेयो न च मे जीवितं क्षमम् ॥२३॥

अहो ! धिक्कार है इस जीवन को। हाय ! मैं बन्धु-बान्धवों के साथ आज किस गति को प्राप्त होऊँगा ? सबके साथ मर जाना ही श्रेष्ठ है। मेरा जीवित रहना कदापि उचित नहीं है।

ब्राह्मण्युवाच

न सन्तापस्त्वया कार्यः प्राकृतेनेव कर्हिचित् ।
न हि सन्तापकालोऽयं वैद्यस्य तव विद्यते ॥२४॥

ब्राह्मणी बोली—प्राणनाथ ! आपको साधारण मनुष्यों की भाँति कभी सन्ताप नहीं करना चाहिए। आप विद्वान् हैं, आपके लिए यह सन्ताप का अवसर नहीं है।

अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः ।□
अवश्यम्भाविन्यर्थे वै सन्तापो नेह विद्यते ॥२५॥

एक-न-एक दिन इस संसार में सभी मनुष्यों को अवश्य मरना पड़ेगा, अतः जो बात अवश्य होनेवाली है, उसके लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है।

भार्या पुत्रोऽथ दुहिता सर्वमात्मार्थमिष्यते ।
व्यथां जहि सुबुद्धया त्वं स्वयं यास्यामि तत्र च ॥२६॥
एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम् ।
प्राणानपि परित्यज्य यद् भर्तृहितमाचरेत् ॥२७॥

पत्नी, पुत्र और पुत्री—ये सब अपने लिए ही अभीष्ट होते हैं, आप विवेक का आश्रय लेकर शोक-सन्ताप छोड़िए। मैं स्वयं राक्षस के पास चली जाऊँगी। पत्नी के लिए लोक में सबसे बढ़कर यही सनातन कर्तव्य है कि वह अपने प्रिय प्राणों को भी न्योछावर करके पति की भलाई करे।

यदर्थमिष्यते भार्या प्राप्तः सोऽर्थस्त्वया मयि ।
कन्या चैका कुमारश्च कृताहमनृणा त्वया ॥२८॥

जिस उद्देश्य से पत्नी की अभिलाषा की जाती है, आपने वह उद्देश्य मुझसे सिद्ध कर लिया है। एक पुत्री और एक पुत्र आपके द्वारा मेरे गर्भ से उत्पन्न हो चुके हैं। इस प्रकार आपने मुझे भी उऋण कर दिया है।

समर्थः पोषणे चासि सुतयो रक्षणे तथा ।
न त्वहं सुतयोः शक्ता तथा रक्षणपोषणे ॥२९॥

इन दोनों सन्तानों का पालन-पोषण और रक्षण करने में आप समर्थ हैं। आपकी भाँति मैं इन दोनों के पालन-पोषण तथा रक्षा की उत्तम व्यवस्था नहीं कर सकूँगी।

कथं तव कुलस्यैकामिमां बालामनागसाम् ।
पितृपैतामहे मार्गे नियोक्तुमहमुत्सहे ॥३०॥

आपके कुल की एकमात्र निरपराध बालिका को मैं बाप-दादों द्वारा पालित धर्म-मार्ग पर लगाये रखने में कैसे समर्थ होऊँगी ?

कथं शक्ष्यामि बालेऽस्मिन् गुणानाधातुमीप्सितान् ।
अनाथे सर्वतो लुप्ते यथा त्वं धर्मदर्शिवान् ॥३१॥

आप धर्म के ज्ञाता हैं, आप जैसे अपने बालक को सद्गुणी बना सकते हैं, उस प्रकार मैं आपके न रहने पर सब ओर से आश्रयहीन हुए इस अनाथ बालक में वाञ्छनीय उत्तम गुणों का आधान कैसे कर सकूँगी ?

त्रितयं सर्वथाप्येवं विनंक्ष्यतीत्यसंशयम् ।
त्वया विहीनं तस्मात् त्वं मां परित्यक्तुमर्हसि ॥३२॥

नाथ ! आपके बिना मैं और ये दोनों बच्चे—तीनों ही सर्वथा नष्ट हो जाएँगे—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, अतः आप केवल मुझे त्याग दीजिए।

व्युष्टिरेषा परा स्त्रीणां पूर्वं भर्तुः परां गतिम् ।
गन्तुं ब्रह्मन् सपुत्राणामिति धर्मविदो विदुः ॥३३॥

हे ब्रह्मन् ! पुत्रवती स्त्रियाँ यदि अपने पति से पहले ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ तो यह उनके लिए परम सौभाग्य की बात है। धर्मज्ञ विद्वान् ऐसा ही मानते हैं।

परित्यक्तः सुतश्चायं दुहितेयं तथा मया ।
बान्धवाश्च परित्यक्तास्त्वदर्थं जीवितं च मे ॥३४॥

आर्यपुत्र ! आपके लिए मैंने यह पुत्र और पुत्री भी छोड़ दी, समस्त बन्धु-बान्धवों को भी छोड़ दिया और अब अपना यह जीवन त्यागने को भी मैं तैयार हूँ।

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा ।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः ॥३५॥

स्त्री यदि सदा अपने स्वामी के प्रिय और हित में लगी रहे तो यह उसके लिए बड़े-बड़े यज्ञों, तपस्याओं, नियमों और नाना प्रकार के दानों से भी बढ़कर है।

आपदर्थं धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि । □
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥३६॥

आपत्ति के लिए धन की रक्षा करे, धन के द्वारा स्त्री की रक्षा करे और स्त्री तथा धन—दोनों के द्वारा सदा अपनी रक्षा करे।

स कुरुष्व मया कार्यं तारयात्मानमात्मना ।
अनुजानीहि मामार्य सुतौ मे परिपालय ॥३७॥

आर्य ! आप मेरे द्वारा अभीष्ट कार्य की सिद्धि कीजिए और स्वयं प्रयत्न करके अपने को इस संकट से बचाइए। मुझे राक्षस के पास जाने की आज्ञा दीजिए तथा मेरे दोनों बच्चों का पालन कीजिए।

अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये ।
धर्मज्ञान् राक्षसानाहुर्न हन्यात् स च मामपि ॥३८॥

धर्मज्ञ विद्वानों ने धर्म-निर्णय के प्रसङ्ग में नारी को अवध्य बताया है। राक्षसों को भी लोग धर्मज्ञ कहते हैं, अतः सम्भव है, वह राक्षस भी मुझे स्त्री समझकर न मारे।

निस्संशयो वधः पुंसां स्त्रीणां संशयितो वधः।
अतो मामेव धर्मज्ञ प्रस्थापयितुमर्हसि ॥३९॥

पुरुष वहाँ जाएँ, तो वह राक्षस उनका वध कर ही डालेगा, इसमें संशय नहीं है, परन्तु स्त्रियों के वध में सन्देह है [यदि राक्षस ने धर्म का विचार किया तो बचने की सम्भावना है] अतः धर्मज्ञ आर्य-पुत्र! आप मुझे ही वहाँ भेजें।

एतत् सर्वं समीक्ष्य त्वमात्मत्यागं च गर्हितम्।
आत्मानं तारयाद्याशु कुलं चेमौ च दारकौ ॥४०॥

इन सब बातों को विचार करके तथा अपने शरीर-त्याग को निन्दित कर्म मानकर आप अब शीघ्र ही अपने को, अपने कुल को और इन दोनों बच्चों को संकट से बचा लीजिए।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया भर्ता तां समालिङ्ग्य भारत।
मुमोच बाष्पं शनकैः सभार्यो भृशदुःखितः ॥४१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे भारत! ब्राह्मणी के ऐसा कहने पर उसके पति ब्राह्मण देवता अत्यन्त दुःखी हो उसे हृदय से लगाकर उसके साथ ही धीरे-धीरे आँसू बहाने लगे।

तयोर्दुःखितयोर्वाक्यमतिमात्रं निशम्य तु।
ततो दुःखपरीताङ्गी कन्या तावभ्यभाषत ॥४२॥

दुःख में डूबे हुए माता-पिता के उन शोकपूर्ण वचनों को सुनकर कन्या के सम्पूर्ण अङ्गों में दुःख व्याप्त हो गया, अतः वह अपने माता-पिता से बोली—

कन्योवाच

किमेवं भृशदुःखार्तौ रोरूयेतामनाथवत्।
ममापि श्रूयतां वाक्यं श्रुत्वा च क्रियतां क्षमम् ॥४३॥

कन्या बोली—आप दोनों इस प्रकार अत्यन्त दुःख से आतुर हो अनाथ की भाँति क्यों बार-बार रो रहे हैं? मेरी बात भी सुनिए और उसे सुनकर जो उचित लगे, वह कीजिए।

धर्मतोऽहं परित्याज्या युवयोर्नात्र संशयः।
त्यक्तव्यां मां परित्यज्य त्राहि सर्वं मयैकया ॥४४॥

एक-न-एक दिन आप दोनों को धर्मतः मेरा त्याग करना पड़ेगा, यह निश्चित है। जब मैं त्याज्य ही हूँ, तब आज ही मुझे त्यागकर मुझ अकेली के द्वारा सारे कुल की रक्षा कर लीजिए।

इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामिति।
अस्मिन्नुपस्थिते काले तरध्वं प्लववन्मया ॥४५॥

सन्तान की इच्छा इसीलिए की जाती है कि यह मुझे संकट से उबारेगी, अतः इस समय जो संकट उपस्थित हुआ है, उसमें नौका की भाँति मेरा उपयोग करके आप लोग शोकसागर से पार हो जाइए।

भ्राता च मम बालोऽयं गते लोकममुं त्वयि।
अचिरेणैव कालेन विनश्येत न संशयः ॥४६॥

यदि आप परलोकवासी हो गये तो मेरा यह नन्हा-सा भाई थोड़े ही समय में नष्ट हो जाएगा, इसमें सन्देह नहीं है।

पित्रा त्यक्ता तथा मात्रा भ्रात्रा चाहमसंशयम्।
दुःखाद् दुःखतरं प्राप्य म्रियेयमतथोचिता ॥४८॥

पिता, माता और भाई—तीनों से परित्यक्त होकर मैं एक दुःख से दूसरे महान् दुःख में पड़कर निश्चय ही मर जाऊँगी।

तदस्मदर्थं धर्मार्थं प्रसवार्थं च सत्तम।
आत्मानं परिरक्षस्व त्यक्तव्यां मां च संत्यज ॥४९॥

अतः हे साधुशिरोमणे! आप मेरे लिए तथा धर्म और सन्तान की रक्षा के लिए भी अपनी रक्षा कीजिए और मुझे, जिसे एक दिन त्यागना ही है, आज ही त्याग दीजिए।

किं न्वतः परमं दुःखं यद् वयं स्वर्गते त्वयि।
याचमानाः परादन्नं परिधावेमहि श्ववत् ॥४९॥

हम लोगों के लिए इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा कि आपके परलोकवासी हो जाने पर हम दूसरों से अन्न की भीख माँगते हुए कुत्तों की भाँति इधर-उधर दौड़ते फिरें।

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधं तस्या निशम्य परिदेवितम्।
पिता माता च सा चैव कन्या प्ररुरुदुस्त्रयः ॥५०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार उस कन्या के मुख से नाना प्रकार का विलाप सुनकर पिता, माता और वह कन्या तीनों फूट-फूटकर रोने लगे।

ततः प्ररुदितान् सर्वान् निशम्याथ सुतस्तदा ।
उत्फुल्लनयनो बालः कलमव्यक्तमब्रवीत् ॥५१॥

तब उन सबको रोते देख ब्राह्मण का नन्हा-सा बालक उन सबकी ओर प्रफुल्ल नेत्रों से देखता हुआ तोतली भाषा में अस्पष्ट एवं मधुर वचन बोला—

मा पिता रुद मा मातर्मा स्वसस्त्विति चाब्रवीत् ।
प्रहसन्निव सर्वांस्तानेकैकमनुसर्पति ॥५२॥
ततः स तृणमादाय प्रहृष्टः पुनरब्रवीत् ।
अनेनाहं हनिष्यामि राक्षसं पुरुषादकम् ॥५३॥

"पिताजी ! न रोओ, माँ ! मत आँसू बहाओ, बहिन ! मत रो। वह हँसता हुआ-सा प्रत्येक के पास जाता और सबसे यही बात कहता था। तत्पश्चात् उसने एक तिनका उठा लिया और अत्यन्त हर्ष में भरकर कहा—"मैं इसी से उस नरभक्षी राक्षस को मार डालूँगा।"

तथापि तेषां दुःखेन परीतानां निशम्य तत् ।
बालस्य वाक्यमव्यक्तं हर्षः समभवन्महान् ॥५४॥

यद्यपि वे सब लोग दुःख में डूबे हुए थे, तथापि उस बालक की अस्पष्ट तोतली बोली सुनकर उनके हृदय में सहसा अत्यन्त प्रसन्नता की लहर दौड़ गई।

अयं काल इति ज्ञात्वा कुन्ती समुपसृत्य तान् ।
गतासूनमृतेनेव जीवयन्तीदमब्रवीत् ॥५५॥

'यही अपने को प्रकट करने का अवसर है' ऐसा सोच कुन्तीदेवी उन सबके निकट गईं तथा अपनी अमृतमयी वाणी से उन मृतक-से मानवों को जीवन-प्रदान करती हुई-सी बोलीं—

कुन्त्युवाच

कुतोमूलमिदं दुःखं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ।
विदित्वाप्यपकर्षेयं शक्यं चेदपकर्षितुम् ॥५६॥

कुन्ती ने पूछा—ब्रह्मन् ! आप लोगों के इस दुःख का कारण क्या है ? मैं यह ठीक-ठीक जानना चाहती हूँ। उसे जानकर यदि मिटाया जा सकेगा तो मिटाने की चेष्टा करूँगी।

ब्राह्मण उवाच

उपपन्नं सतामेतद् यद् ब्रवीषि तपोधने ।
न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम् ॥५७॥

ब्राह्मण ने कहा—तपोधने ! आप जो कुछ कह रही हैं, वह आप-जैसे सज्जनों के अनुरूप ही है, परन्तु हमारे इस दुःख को कोई मनुष्य नहीं मिटा सकता।

समीपे नगरस्यास्य बको वसति राक्षसः ।
ईशो जनपदस्यास्य पुरस्य च महाबलः ॥५८॥

इस नगर के समीप ही बक नामक एक राक्षस रहता है। वह राक्षस अत्यन्त बलवान् है। वही इस जनपद और नगर का स्वामी है।

रक्षत्यसुरराट् नित्यमिमं जनपदं बली ।
तत्कृते परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम् ॥५९॥

वह शक्तिशाली असुरराज सदा इस जनपद की रक्षा करता है। उसके कारण हमें शत्रुराज्यों तथा हिंसक प्राणियों से कभी भय नहीं होता।

वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम् ।
महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति ॥६०॥

उसके लिए वेतन=कर निश्चित किया गया है—एक गाड़ी शालि चावल का भात, दो भैंसे और एक मनुष्य, जो यह सब सामान लेकर उसके पास जाता है।

एकैकश्चापि पुरुषस्तत् प्रयच्छति भोजनम् ।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः ॥६१॥

प्रत्येक गृहस्थ अपनी बारी आने पर उसे भोजन देता है। यद्यपि यह बारी बहुत वर्षों के बाद आती है, तथापि लोगों के लिए उसकी पूर्ति बहुत कठिन होती है।

सोऽयमस्माननुप्राप्तो वारः कुलविनाशनः ।
भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया ॥६२॥

आज हमारे सारे कुल का नाश करनेवाली वह बारी आई है। मुझे उस राक्षस को कर के रूप में नियत भोजन और एक पुरुष की बलि देनी पड़ेगी।

न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित् ।
सुहृज्जनं प्रदातुं च न शक्ष्यामि कदाचन ॥६३॥

मेरे पास धन नहीं है, जिससे कहीं से किसी पुरुष को क्रय कर लूँ। अपने सुहृदों और सगे-

सम्बन्धियों को तो मैं कदापि उस राक्षस के हाथ में नहीं दे सकूँगा।

गतिं चैव न पश्यामि तस्मान्मोक्षाय रक्षसः।
सोऽहं दुःखार्णवे मग्नो महत्यसुकरे भृशम् ॥६४॥

उस राक्षस से छूटने का कोई उपाय मुझे दिखाई नहीं देता, अतः मैं दुस्तर दुःख के महासागर में डूबा हुआ हूँ।

सहैवैतैर्गमिष्यामि बान्धवैरद्य राक्षसम्।
ततो नः सहितान् क्षुद्रः सर्वानेवोपभोक्ष्यति ॥६५॥

अब इन बन्धु-बान्धवों के साथ ही मैं उस राक्षस के पास जाऊँगा, जिससे वह नीच निशाचर एक ही साथ हम सबको खा ले।

कुन्त्युवाच

न विषादस्त्वया कार्यो भयादस्मात् कथंचन।
उपायः परिदृष्टोऽत्र तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ॥६६॥

कुन्ती बोली—ब्रह्मन्! आपको अपने ऊपर आये हुए भय से किसी प्रकार भी विषाद नहीं करना चाहिए। इस परिस्थिति में उस राक्षस से छूटने का उपाय मेरी समझ में आ गया।

एकस्तव सुतो बालः कन्या चैका तपस्विनी।
न चैतयोस्तथा पत्न्या गमनं तव रोचये ॥६७॥

आपके तो एक ही नन्हा-सा पुत्र तथा एक ही तपस्विनी कन्या है, अतः इन दोनों का तथा आपकी पत्नी का भी वहाँ जाना मुझे अच्छा नहीं लगता।

मम पञ्च सुता ब्रह्मंस्तेषामेको गमिष्यति।
त्वदर्थं बलिमादाय तस्य पापस्य रक्षसः ॥६८॥

विप्रवर! मेरे पाँच पुत्र हैं, उनमें से एक आपके लिए उस पापी राक्षस की बलि-सामग्री लेकर चला जाएगा।

ब्राह्मण उवाच

नाहमेतत् करिष्यामि जीवितार्थी कथंचन।
ब्राह्मणस्यातिथेश्चैव स्वार्थे प्राणवियोजनम् ॥६९॥

ब्राह्मण बोला—मैं अपने जीवन की रक्षा के लिए ऐसा कभी नहीं करूँगा। एक तो ब्राह्मण, दूसरे अतिथि के प्राणों का नाश मैं अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए कराऊँ, यह कदापि सम्भव नहीं।

आगतस्य गृहे त्यागस्तथैव शरणार्थिनः।
याचमानस्य च वधो नृशंसो गर्हितो बुधैः ॥७०॥

घर पर आये हुए तथा शरणार्थी का त्याग और अपनी रक्षा के लिए याचना करनेवाले का वध—यह विद्वानों की सम्मति में अत्यन्त क्रूर और निन्दित कर्म है।

श्रेयाँस्तु सहदारस्य विनाशोऽद्य मम स्वयम्।
ब्राह्मणस्य वधं नाहमनुमंस्ये कदाचन ॥७१॥

अतः आज चाहे अपनी पत्नी के साथ स्वयं मेरा विनाश हो जाए, यह श्रेष्ठ है, किन्तु ब्राह्मण-वध की अनुमति मैं कदापि नहीं दे सकता।

कुन्त्युवाच

ममाप्येषा मतिर्ब्रह्मन् विप्रा रक्ष्या इति स्थिरा।
न चाप्यनिष्टः पुत्रो मे यदि पुत्रशतं भवेत् ॥७२
न चासौ राक्षसः शक्तो मम पुत्रविनाशने।
वीर्यवान् मन्त्रसिद्धश्च तेजस्वी च सुतो मम ॥७३॥

कुन्ती बोली—ब्रह्मन्! मेरा भी यह निश्चित विचार है कि ब्राह्मणों की रक्षा करनी चाहिए। यों तो मुझे भी अपना कोई पुत्र अप्रिय नहीं है, चाहे मेरे सौ पुत्र ही क्यों न हों, किन्तु वह राक्षस मेरे पुत्र का विनाश करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि मेरा पुत्र पराक्रमी, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है।

राक्षसाय च तत् सर्वं प्रापयिष्यति भोजनम्।
मोक्षयिष्यति चात्मानमिति मे निश्चिता मतिः ॥७४

मेरा यह निश्चित विश्वास है कि मेरा पुत्र वह सारा भोजन राक्षस के पास पहुँचा देगा और उससे अपने आपको भी छुड़ा लेगा।

समागताश्च वीरेण दृष्टपूर्वाश्च राक्षसाः।
बलवन्तो महाकाया निहताश्चाप्यनेकशः ॥७५॥

मैंने पहले भी बहुत से बलवान् और विशालकाय राक्षस देखे हैं, जो मेरे वीर पुत्र से भिड़कर अपने जीवन से हाथ धो बैठे हैं।

न त्विदं केषुचिद् ब्रह्मन् व्याहर्तव्यं कथंचन।
विद्यार्थिनो हि मे पुत्रान् विप्रकुर्युः कुतूहलात् ॥७६॥

परन्तु हे ब्रह्मन्! आपको किसी से भी किसी प्रकार यह बात नहीं कहनी चाहिए, अन्यथा लोग मन्त्र सीखने के लोभ से कौतूहलवश मेरे पुत्रों को तंग करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु पृथया स विप्रो भार्यया सह ।
हृष्टः सम्पूजयामास तद्वाक्यममृतोपमम् ॥७६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुन्तीदेवी के ऐसा कहने पर पत्नी-सहित वह ब्राह्मण अति प्रसन्न हुआ और उसने कुन्ती के अमृत-तुल्य जीवनदायक मधुर वचनों को बड़ा सम्मान दिया ।

ततः कुन्ती च विप्रश्च सहितावनिलात्मजम् ।
तमब्रूतां कुरुष्वेति स तथेत्यब्रवीच्च तौ ॥७८॥

तत्पश्चात् कुन्ती और ब्राह्मण ने मिलकर वायु-नन्दन भीमसेन से कहा—"तुम यह कठोर कार्य करो।" तब भीमसेन ने भी उन दोनों से "बहुत अच्छा" कह दिया ।

इति महाभारते आदिपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

भीम को राक्षस के पास भेजने के विषय में युधिष्ठिर और कुन्ती की बातचीत, भीम द्वारा बकासुर का वध, राक्षसों का पलायन और नगरवासियों की प्रसन्नता

वैशम्पायन उवाच

करिष्य इति भीमेन प्रतिज्ञातेऽथ भारत ।
आजग्मुस्ते ततः सर्वे भैक्ष्यमादाय पाण्डवाः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब भीमसेन ने यह प्रतिज्ञा कर ली कि "मैं इस कार्य को पूरा करूँगा" उसी समय अन्य चारों पाण्डव भिक्षा लेकर वहाँ आये ।

आकारेणैव तं ज्ञात्वा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
रहः समुपविश्यैकस्ततः पप्रच्छ मातरम् ॥२॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने भीमसेन की आकृति से ही समझ लिया कि आज ये कुछ करनेवाले हैं, फिर उन्होंने एकान्त में अकेले बैठकर माता से पूछा ।

युधिष्ठिर उवाच

किं चिकीर्षत्ययं कर्म भीमो भीमपराक्रमः ।
भवत्यनुमते कच्चित् स्वयं वा कर्तुमिच्छति ॥३॥

युधिष्ठिर बोले—माँ ! ये भयंकर पराक्रमी भीमसेन कौन-सा कार्य करना चाहते हैं ? वे आपकी अनुमति से अथवा स्वयं ही कुछ करने के लिए उतारू हो रहे हैं ।

कुन्त्युवाच

ममैव वचनादेष करिष्यति परन्तपः ।
ब्राह्मणार्थे महत् कृत्यं मोक्षाय नगरस्य च ॥४॥

कुन्ती ने कहा—पुत्र ! शत्रुसंतापक भीम मेरी ही आज्ञा से ब्राह्मण के हितार्थ तथा समस्त नगर को संकट से छुड़ाने के लिए आज एक महान् कार्य करेगा ।

युधिष्ठिर उवाच

किमिदं साहसं तीक्ष्णं भवत्या दुष्करं कृतम् ।
परित्यागं हि पुत्रस्य न प्रशंसन्ति साधवः ॥५॥

युधिष्ठिर बोले—माँ ! आपने यह भीषण और दुष्कर साहस क्यों किया ? सज्जन पुरुष अपने पुत्र के परित्याग को अच्छा नहीं बताते ।

कथं परसुतस्यार्थे स्वसुतं त्यक्तुमिच्छसि ।
लोकवेदविरुद्धं हि पुत्रत्यागात् कृतं त्वया ॥६॥

दूसरे के पुत्र के लिए आप अपने पुत्र को क्यों त्याग देना चाहती हैं ? पुत्र का त्याग करके आपने लोक और वेद दोनों के विरुद्ध कार्य किया है ।

यस्य बाहू समाश्रित्य सुखं सर्वे शयामहे ।
राज्यं चापहृतं क्षुद्रैराजिहीर्षामहे पुनः ॥७॥

जिसके बाहुबल का भरोसा करके हम सब लोग सुख से सोते हैं और नीच शत्रुओं ने जिस राज्य को हड़प लिया है, उसे वापस लेना चाहते हैं [उस पुत्र के त्याग का निश्चय आपने कैसे किया है ?]

यस्य दुर्योधनो वीर्यं चिन्तयन्नमितौजसः ।
न शेते रजनीः सर्वा दुःखाच्छकुनिना सह ॥८॥
यस्य वीरस्य वीर्येण मुक्ता जतुगृहाद् वयम् ।
अन्येभ्यश्चैव पापेभ्यो निहतश्च पुरोचनः ॥९॥
यस्य वीर्यं समाश्रित्य वसुपूर्णां वसुन्धराम् ।
इमां मन्यामहे प्राप्तां निहत्य धृतराष्ट्रजान् ॥१०॥

तस्य व्यवसितस्त्यागो बुद्धिमास्थाय कां त्वया।
कच्चिन्नु दुःखैर्बुद्धिस्ते विलुप्ता गतचेतसः ॥११॥

जिस अमित तेजस्वी वीर के पराक्रम का चिन्तन करके शकुनिसहित दुर्योधन को दुःख के मारे सारी रातें नींद नहीं आती, जिस वीर के बल से हम लोग लाक्षागृह तथा दूसरे पापपूर्ण अत्याचारों से बच पाये और दुष्ट पुरोचन भी मारा गया, जिसके बल-पराक्रम का आश्रय लेकर हम लोग धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारकर धन-धान्य से सम्पन्न इस सम्पूर्ण पृथिवी को अपने अधिकार में आई हुई ही समझते हैं, उस बलवान् पुत्र के त्याग का निश्चय आपने किस बुद्धि से किया है? क्या आप अनेक दुःखों के कारण अपनी चेतना खो बैठी हैं? आपकी बुद्धि लुप्त हो गई है?

कुन्त्युवाच

युधिष्ठिर न सन्तापस्त्वया कार्यो वृकोदरे।
न चायं बुद्धिदौर्बल्याद् व्यवसायः कृतो मया ॥१२॥

कुन्ती ने कहा—हे युधिष्ठिर! तुम्हें भीमसेन के लिए कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मैंने जो यह निश्चय किया है, वह बुद्धि की किसी दुर्बलता से नहीं किया है।

इह विप्रस्य भवने वयं पुत्र सुखोषिताः।
तस्य प्रतिक्रिया पार्थ मयेयं प्रसमीक्षिता ॥१३॥

वत्स! हम लोग इस ब्राह्मण के घर में सुखपूर्वक रहे हैं। ब्राह्मण के इस उपकार से उऋण होने का यही एक उपाय मुझे दिखाई दिया।

एतावानेव पुरुषः कृतं यस्मिन् न नश्यति। □
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्याद् बहुगुणं ततः ॥१४॥

मनुष्य वही है, जिसके प्रति किया हुआ उपकार नष्ट न हो अर्थात् जो किये हुए उपकार को भुला न दे। दूसरा मनुष्य उसके लिए जितना उपकार करे, उससे कई गुना प्रत्युपकार स्वयं उसके प्रति करना चाहिए।

दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तं तदा जतुगृहे महत्।
हिडिम्बस्य वधाच्चैवं विश्वासो मे वृकोदरे ॥१५॥

मैंने उस दिन लाक्षागृह में भीमसेन का महान् पराक्रम देखा था तथा हिडिम्बवध की घटना भी मेरी आँखों के समक्ष घटित हुई, अतः भीमसेन पर मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है।

बाह्वोर्बलं हि भीमस्य नागायुतसमं महत्।
येन यूयं गजप्रख्या निर्व्यूढा वारणावतात् ॥१६॥

भीम का महान् बाहुबल दस सहस्र हाथियों के समान है, जिससे वह हाथी के समान बलशाली तुम सब भाइयों को वारणावत नगर से ढोकर लाया है।

वृकोदरेण सदृशो बलेनान्यो न विद्यते।
योऽभ्युदीयाद् युधि श्रेष्ठमपि वज्रधरं स्वयम् ॥१७॥

भीमसेन के समान बलवान् दूसरा कोई नहीं है। वह युद्ध में सर्वश्रेष्ठ वज्रपाणि इन्द्र का भी सामना कर सकता है।

जातमात्रः पुरा चैष ममाङ्कात् पतितो गिरौ।
शरीरगौरवादस्य शिला गात्रैर्विचूर्णिता ॥१८॥

पहले की बात है, जब यह उत्पन्न ही हुआ था, उसी समय मेरी गोद से छूटकर पर्वत के शिखर पर गिर पड़ा था। जिस चट्टान पर यह गिरा, वह इसके शरीर की गुरुता=भार के कारण चूर-चूर हो गई थी।

तदहं प्रज्ञया ज्ञात्वा बलं भीमस्य पाण्डव।
प्रतिकार्ये च विप्रस्य ततः कृतवती मतिम् ॥१९॥

पाण्डुनन्दन! मैंने भीमसेन के बल को अपनी बुद्धि से भली-भाँति समझकर तब ब्राह्मण के शत्रु राक्षस से बदला लेने का निश्चय किया है।

नेदं लोभान्न चाज्ञानान्न च मोहाद्विनिश्चितम्।
बुद्धिपूर्वं तु धर्मस्य व्यवसायः कृतो मया ॥२०॥

मैंने न लोभ से, न अज्ञान से और न मोह से ऐसा विचार किया है, अपितु बुद्धि के द्वारा खूब सोच-समझकर विशुद्ध धर्मानुकूल निश्चय किया है।

अर्थौ द्वावपि निष्पन्नौ युधिष्ठिर भविष्यतः।
प्रतीकारश्च वासस्य धर्मश्च चरितो महान् ॥२१॥

युधिष्ठिर! मेरे इस निश्चय से दो प्रयोजन सिद्ध हो जाएँगे। एक तो ब्राह्मण के यहाँ निवास करने का ऋण चुक जाएगा और दूसरा लाभ यह होगा कि ब्राह्मण और पुरवासियों की रक्षा होने के कारण महान् धर्म का पालन हो जाएगा।

युधिष्ठिर उवाच

उपपन्नमिदं मातस्त्वया यद् बुद्धिपूर्वकम्।
आर्तस्य ब्राह्मणस्यैतदनुक्रोशादिदं कृतम् ॥२२॥

युधिष्ठिर बोले—माँ! आपने समझ-बूझकर

जो कुछ निश्चय किया है, वह सब उचित है। आपने संकट में पड़े हुए ब्राह्मण पर दया करके ही ऐसा विचार किया है।

वैशम्पायन उवाच

ततो रात्र्यां व्यतीतायामन्नमादाय पाण्डवः।
भीमसेनो ययौ तत्र यत्रासौ पुरुषादकः ॥२३॥
आसाद्य तु वनं तस्य रक्षसः पाण्डवो बली।
आजुहाव ततो नाम्ना तदन्नमुपयोजयन् ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर रात बीतने पर पाण्डुनन्दन भीमसेन भोजन-सामग्री लेकर उस स्थान पर गये, जहाँ वह नरभक्षी राक्षस रहता था। बक राक्षस के वन में पहुँचकर महाबली पाण्डुकुमार भीमसेन उसके लिए लाये हुए अन्न को स्वयं खाते हुए उस राक्षस का नाम ले-लेकर उसे पुकारने लगे।

ततः स राक्षसः क्रुद्धो भीमस्य वचनात् तदा।
आजगाम सुसंक्रुद्धो यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥२५॥

भीमसेन के इस प्रकार पुकारने से वह राक्षस कुपित हो उठा और अत्यन्त क्रोध में भरकर उस स्थान पर आया, जहाँ बैठकर भीम भोजन कर रहे थे।

भुञ्जानमन्नं तं दृष्ट्वा भीमसेनं स राक्षसः।
विवृत्य नयने क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥२६॥

भीमसेन को उस अन्न को खाते देख राक्षस का क्रोध बहुत बढ़ गया और उसने आँखें तरेर कर कहा—

कोऽयमन्नमिदं भुङ्क्ते मदर्थमुपकल्पितम्।
पश्यतो मम दुर्बुद्धिर्यियासुर्यमसादनम् ॥२७॥

"यमलोक में जाने की इच्छा रखनेवाला यह कौन दुर्बुद्धि मनुष्य है, जो मेरी आँखों के सामने मेरे लिए तैयार करके लाये हुए इस अन्न को स्वयं ही खा रहा है?"

भीमसेनस्तु तत् श्रुत्वा प्रहसन्निव भारत।
राक्षसं तमनादृत्य भुङ्क्त एव पराङ्मुखः ॥२८॥

हे भारत! उसकी बात सुनकर भीमसेन मानो जोर-जोर से हँसते हुए-से उस राक्षस की अवहेलना करते हुए मुंह फेरकर खाते रहे।

अमर्षेण तु सम्पूर्णः कुन्तीपुत्रं वृकोदरम्।
जघान पृष्ठे पाणिभ्यामुभाभ्यां पृष्ठतः स्थितः ॥२९॥

फिर तो उसने अत्यन्त अमर्ष (क्रोध) में भरकर कुन्तीनन्दन भीमसेन के पीछे खड़े हो अपने दोनों हाथों से उनकी पीठ पर प्रहार किया।

तथा बलवता भीमः पाणिभ्यां भृशमाहतः।
नैवावलोकयामास राक्षसं भुंक्त एव सः ॥३०॥

इस प्रकार बलवान् राक्षस के दोनों हाथों से भयानक चोट खाकर भी भीमसेन ने उसकी ओर देखा तक नहीं, वे भोजन करने में ही संलग्न रहे।

ततः स भूयः संक्रुद्धो वृक्षमादाय राक्षसः।
ताडयिष्यंस्तदा भीमं पुनरभ्यद्रवद् बली ॥३१॥

तब तो उस बलवान् राक्षस ने पुनः अत्यन्त कुपित हो एक वृक्ष उखाड़कर भीमसेन को मारने के लिए उनपर धावा बोल दिया।

ततो भीमः शनैर्भुक्त्वा तदन्नं पुरुषर्षभः।
वार्युपस्पृश्य संहृष्टस्तस्थौ युधि महाबलः ॥३२॥

उधर नरश्रेष्ठ महाबली भीमसेन धीरे-धीरे उस सब अन्न को खाकर, तथा मुँह-हाथ धोकर अत्यन्त प्रसन्न हो युद्ध के लिए डट गये।

क्षिप्तं क्रुद्धेन तं वृक्षं प्रतिजग्राह वीर्यवान्।
सव्येन पाणिना भीमः प्रहसन्निव भारत ॥३३॥

जनमेजय! क्रुद्ध हुए राक्षस के द्वारा फेंके हुए उस वृक्ष को पराक्रमी भीमसेन ने बाएँ हाथ से हँसते हुए ही पकड़ लिया।

नाम विश्राव्य तु बकः समभिद्रुत्य पाण्डवम्।
भुजाभ्यां परिजग्राह भीमसेनं महाबलम् ॥३४॥

तब तो बकासुर ने अपना नाम सुनाकर महाबली पाण्डुनन्दन भीमसेन की ओर दौड़कर दोनों भुजाओं से उन्हें पकड़ लिया।

भीमसेनोऽपि तद् रक्षः परिरभ्य महाभुजः।
विस्फुरन्तं महाबाहुं विचकर्ष बलाद् बली ॥३५॥

महाबाहु बलवान् भीमसेन ने भी उस विशाल भुजाओंवाले राक्षस को दोनों भुजाओं से कसकर छाती से सटा लिया और बलपूर्वक उसे इधर-उधर खींचने लगे। उस समय बकासुर उनके बाहुपाश से छूटने के लिए छटपटा रहा था।

ह्रीयमानं तु तद् रक्षः समीक्ष्य पुरुषादकम्।
निष्पिष्य भूमौ जानुभ्यां समाजघ्ने वृकोदरः ॥३६॥

उस नरभक्षी राक्षस को निर्बल होते देख भीमसेन उसे पृथिवी पर पटककर रगड़ने लगे और दोनों घुटनों से मारने लगे।

ततोऽस्य जानुना पृष्ठमवपीड्य बलादिव।
बाहुना परिजग्राह दक्षिणेन शिरोधराम् ॥३७॥
सव्येन च कटीदेशे गृह्य वाससि पाण्डवः।
तद् रक्षो द्विगुणं चक्रे रुवन्तं भैरवं रवम् ॥३८॥

तत्पश्चात् उन्होंने अपने एक घुटने से बलपूर्वक राक्षस की पीठ दबाकर दाहिने हाथ से उसकी गर्दन पकड़ ली तथा बाएँ हाथ से कमर का लंगोट पकड़कर उस राक्षस को दुहरा मोड़ दिया। उस समय वह भयानक चीत्कार कर रहा था।

ततोऽस्य रुधिरं वक्त्रात् प्रादुरासीद् विशाम्पते।
भज्यमानस्य भीमेन तस्य घोरस्य रक्षसः ॥३९

राजन्! भीमसेन के द्वारा जब उस भयानक राक्षस की कमर तोड़ी जा रही थी, उस समय उसके मुख से [बहुत-सा] रक्त गिरा।

ततः स भग्नपार्श्वाङ्गो नदित्वा भैरवं रवम्।
शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद् बकः ॥४०॥

पसलियों की हड्डियों के टूट जाने पर पर्वत के समान विशालकाय बकासुर भयंकर चीत्कार करके निष्प्राण हो गया।

तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याथ रक्षसः।
निष्पपात गृहाद् राजन् सहैव परिचारिभिः ॥४१॥
तान् भीतान् विगतज्ञानान् भीमः प्रहरतां वरः।
सान्त्वयामास बलवान् समये च न्यवेशयत् ॥४२॥
न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित्।
हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति ॥४३

राजन्! उस चीत्कार से भयभीत हो उस राक्षस के परिवार के लोग अपने सेवकों के साथ घर से बाहर निकल आये। योद्धाओं में श्रेष्ठ बलशाली भीम ने उन्हें भय से अचेत देखकर सान्त्वना प्रदान की और उनसे यह शर्त करा ली कि 'भविष्य में तुम लोग मनुष्यों की हिंसा न करना। जो हिंसा करेंगे, उनका शीघ्र ही इसी प्रकार वध कर दिया जाएगा।'

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत।
एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम् ॥४४॥

हे भारत! भीम की बात सुनकर उन राक्षसों ने 'ऐसा ही होगा' कहकर वह शर्त स्वीकार कर ली।

ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत।
नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः ॥४५॥

भरतकुलभूषण! तब से नगर-निवासी मनुष्यों ने अपने नगर में राक्षसों को बड़े सौम्य स्वभाव से व्यवहार करते देखा।

ततो भीमस्तमादाय गतासुं पुरुषादकम्।
द्वारदेशे विनिक्षिप्य जगामानुपलक्षितः ॥४६॥

उधर भीमसेन ने उस राक्षस की लाश उठाकर नगर के दरवाजे पर गिरा दी और स्वयं दूसरों की दृष्टि से अपने को बचाते हुए चले गये।

दृष्ट्वा भीमबलोद्भूतं बकं विनिहतं तदा।
ज्ञातयोऽस्य भयोद्विग्नाः प्रतिजग्मुरितस्ततः ॥४७॥

भीमसेन के बल से बकासुर को पछाड़ा एवं मारा गया देख उस राक्षस के कुटुम्बीजन भय से व्याकुल हो इधर-उधर भाग गये।

ततः स भीमस्तं हत्वा गत्वा ब्राह्मणवेश्म तत्।
आचचक्षे यथावृत्तं राज्ञः सर्वमशेषतः ॥४८॥

उस राक्षस को मारने के पश्चात् भीमसेन ब्राह्मण के उसी घर में गये और वहाँ उन्होंने राजा युधिष्ठिर को सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक कह सुनाया।

ततो नरा विनिष्क्रान्ता नगरात् काल्यमेव तु।
ददृशुर्निहतं भूमौ राक्षसं रुधिरोक्षितम् ॥४९॥

तत्पश्चात् प्रातःकाल होने पर जब लोग नगर से बाहर निकले, तब उन्होंने देखा कि बकासुर खून से लथपथ हो पृथिवी पर पड़ा है।

एकचक्रां ततो गत्वा प्रवृत्तिं प्रददुः पुरे।
ततः सहस्रशो राजन् नरा नगरवासिनः ॥५०॥
तत्राजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः।
ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वातिमानुषम् ॥५१॥

हे राजन्! उन लोगों ने एकचक्रा नगरी में जाकर नगरभर में यह समाचार फैला दिया, फिर सहस्रों नगर-निवासी मनुष्य स्त्री, बच्चों और बूढ़ों के साथ बकासुर को देखने के लिए वहाँ आये। उस समय वह अमानुषिक कृत्य देखकर सबको महान् आश्चर्य हुआ।

इति महाभारते आदिपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

पाण्डवों का एक ब्राह्मण से विचित्र कथाएँ सुनना, पाण्डवों की पाञ्चाल यात्रा, मार्ग में अर्जुन द्वारा चित्ररथ गन्धर्व की पराजय और दोनों की मित्रता

जनमेजय उवाच

ते तथा पुरुषव्याघ्रा निहत्य बकराक्षसम् ।
अत ऊर्ध्वं ततो ब्रह्मन् किमकुर्वत पाण्डवाः ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन् ! पुरुषसिंह पाण्डवों ने उस प्रकार बकासुर का वध करने के पश्चात् कौन-सा कार्य किया ?

वैशम्पायन उवाच

तत्रैव न्यवसन् राजन् निहत्य बकराक्षसम् ।
अधीयानाः परं ब्रह्म ब्राह्मणस्य निवेशने ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! बकासुर का वध करने के पश्चात् पाण्डव लोग वेदों का स्वाध्याय करते हुए वहीं ब्राह्मण के घर में रहने लगे ।

ततः कतिपयाहस्य ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
प्रतिश्रयार्थी तद् वेश्म ब्राह्मणस्य जगाम ह ॥३॥

तदनन्तर कुछ दिनों के पश्चात् कठोर नियमों का पालन करनेवाला एक ब्राह्मण ठहरने के लिए उस ब्राह्मण के घर पर आया ।

स सम्यक् पूजयित्वा तं विप्रं विप्रर्षभस्तदा ।
ददौ प्रतिश्रयं तस्मै सदा सर्वातिथिव्रतः ॥४॥

उस ब्राह्मण का सदा घर पर आये हुए सभी अतिथियों की सेवा करने का व्रत था। उसने आगन्तुक ब्राह्मण का भली-भाँति सत्कार करके उसे ठहरने के लिए स्थान दे दिया ।

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सह कुन्त्या नरर्षभाः ।
उपासांचक्रिरे विप्रं कथयन्तं कथाः शुभाः ॥५॥

वह ब्राह्मण बड़ी सुन्दर-सुन्दर एवं कल्याणमयी कथाएँ कह रहा था, [उन्हें सुनने के लिए] सभी नरश्रेष्ठ पाण्डव कुन्ती के साथ उसके पास जा बैठे ।

कथयामास देशांश्च तीर्थानि सरितस्तथा ।
राज्ञश्च विविधाश्चर्यान् पुराणि विविधानि च ॥६॥

उसने अनेक देशों, तीर्थों, नदियों, राजाओं, नाना प्रकार के आश्चर्यजनक स्थानों तथा नगरों का वर्णन किया ।

स तत्राकथयद् विप्रः कथान्ते जनमेजय ।
पाञ्चालेष्वद्भुताकारं याज्ञसेन्याः स्वयंवरम् ॥७॥

जनमेजय ! कथा के अन्त में उस ब्राह्मण ने यह भी बताया कि पाञ्चाल देश में यज्ञसेनकुमारी द्रौपदी का अद्भुत स्वयंवर होने जा रहा है ।

एतत् श्रुत्वा तु कौन्तेया ब्राह्मणात् संशितव्रतात् ।
सर्वे चास्वस्थमनसो बभूवुस्ते महाबलाः ॥८॥

कठोर व्रत का पालन करनेवाले उस ब्राह्मण से यह वृत्तान्त सुनकर उन सब महाबली कुन्तीपुत्रों का मन विचलित हो गया ।

ततः कुन्ती सुतान् दृष्ट्वा सर्वांस्तद्गतचेतसः ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वचनं सत्यवादिनी ॥९॥

अपने सभी पुत्रों के मन को उस स्वयंवर की ओर आकृष्ट हुआ देख उस समय सत्यवादिनी कुन्ती ने युधिष्ठिर से कहा—

कुन्त्युवाच

चिररात्रोषिताः स्मेह ब्राह्मणस्य निवेशने ।
रममाणाः पुरे रम्ये लब्धभैक्षा महात्मनः ॥१०॥

कुन्ती बोली—पुत्र ! हम लोग यहाँ इन महात्मा ब्राह्मण के घर में बहुत दिनों तक सुखपूर्वक रहे हैं । इस रमणीय नगर में हम आनन्दपूर्वक घूमे-फिरे और यहाँ हमें भिक्षा भी पर्याप्त मिली है ।

यानीह रमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
सर्वाणि तानि दृष्टानि पुनः पुनररिन्दम ॥११॥

शत्रुदमन ! यहाँ जो रमणीय वन और उपवन हैं, उन सबको भी हमने बार-बार देख लिया ।

पुनर्द्रष्टुं हि तानीह प्रीणयन्ति न नस्तथा ।
भैक्षं च न तथा वीर लभ्यते कुरुनन्दन ॥१२॥

वीर ! यदि उन देखे हुए स्थानों को हम पुनः देखने जाएँ तो वे हमें पहले जैसी प्रसन्नता नहीं दे सकते । कुरुनन्दन ! अब हमें यहाँ भिक्षा भी पहले जैसी नहीं मिल रही है ।

ते वयं साधु पाञ्चालान् गच्छाम यदि मन्यसे ।
अपूर्वदर्शनं वीर रमणीयं भविष्यति ॥१३॥

यदि तुम्हारी इच्छा हो तो अब हम सुखपूर्वक पाञ्चाल देश में चलें । हे वीर ! उस देश को हमने पहले कभी नहीं देखा है, अतः वह अतीव रमणीय प्रतीत होगा ।

एकत्र चिरवासश्च क्षमो न च मतो मम ।
ते तत्र साधु गच्छामो यदि त्वं पुत्र मन्यसे ॥१४॥

वत्स ! एक स्थान पर बहुत समय तक रहना मुझे न उचित जान पड़ता है, न ही सम्भव, अतः यदि तुम ठीक समझो, तो हम लोग सुखपूर्वक वहाँ चलें ।

युधिष्ठिर उवाच

भवत्या यन्मतं कार्यं तदस्माकं परं हितम् ।
अनुजांस्तु न जानामि गच्छेयुर्नेति वा पुनः ॥१५॥

युधिष्ठिर बोले—माँ ! आप जिस कार्य को ठीक समझती हैं, वह हमारे लिए परम हितकर है, परन्तु अपने छोटे भाइयों के सम्बन्ध में मैं नहीं जानता कि वे जाने के लिए उद्यत हैं या नहीं ।

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्ती भीमसेनमर्जुनं यमजौ तथा ।
उवाच गमनं ते च तथेत्येवाब्रुवँस्तदा ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब कुन्ती ने भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव से भी चलने के विषय में पूछा । उन सबने भी 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दे दी ।

तत आमन्त्र्य तं विप्रं कुन्ती राजन् सुतैः सह ।
प्रतस्थे नगरीं रम्यां द्रुपदस्य महात्मनः ॥१७॥

हे राजन् ! तब कुन्ती ने उस ब्राह्मण से विदा लेकर अपने पुत्रों के साथ महात्मा द्रुपद की रमणीय नगरी की ओर जाने की तैयारी की ।

वसत्सु तेषु प्रच्छन्नं पाण्डवेषु महात्मसु ।
आजगामथ तान् द्रष्टुं व्यासः सत्यवतीसुतः ॥१८॥

हे जनमेजय ! महात्मा पाण्डव जब गुप्तरूप से वहाँ निवास कर रहे थे [और जाने की तैयारी में संलग्न थे] उसी समय सत्यवतीनन्दन व्यासजी उनसे मिलने के लिए वहाँ आये ।

अथ धर्मार्थविद् वाक्यमुक्त्वा स भगवानृषिः ।
विचित्राश्च कथास्तास्ताः पुनरेवेदमब्रवीत् ॥१९॥

उस समय महर्षि भगवान् व्यास ने उनसे धर्म और अर्थयुक्त बातें कहीं । फिर विचित्र-विचित्र कथाएँ सुनाकर वे पुनः उनसे इस प्रकार बोले—

पाञ्चालनगरे गत्वा निवसध्वं महाबलाः ।
सुखिनो द्रौपदीं प्राप्य भविष्यथ न संशयः ॥२०॥

हे महाबली वीरो ! अब तुम पाञ्चालनगर में जाकर रहो । द्रौपदी को पाकर तुम सब लोग सुखी होओगे, इसमें संशय नहीं है ।

एवमुक्त्वा महाभागः पाण्डवान् स पितामहः ।
पार्थानामन्त्र्य कुन्तीं च प्रातिष्ठत महातपाः ॥२१॥

महान् सौभाग्यशाली और महातपस्वी पितामह व्यासजी पाण्डवों से ऐसा कहकर, उन सबसे और कुन्ती से विदा लेकर वहाँ से चल दिये ।

गते भगवति व्यासे पाण्डवा हृष्टमानसाः ।
ते प्रतस्थुः पुरस्कृत्य मातरं पुरुषर्षभाः ॥२२॥

भगवान् व्यास के चले जाने पर पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव प्रसन्नचित्त हो अपनी माता को आगे करके वहाँ से पाञ्चाल देश की ओर चल दिये ।

ते त्वगच्छन्नहोरात्रात् तीर्थं सोमाश्रयायणम् ।
आसेदुः पुरुषव्याघ्रा गङ्गायां पाण्डुनन्दनाः ॥२३॥

एक दिन और एक रात चलकर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव गङ्गा के तट पर सोमाश्रयण नामक तीर्थ पर जा पहुँचे ।

उल्मुकं तु समुद्यम्य तेषामग्रे धनञ्जयः ।
प्रकाशार्थं ययौ तत्र रक्षार्थं च महारथः ॥२४॥

उस समय उनके आगे-आगे महारथी अर्जुन उजाला तथा रक्षा करने के लिए जलती हुई मशाल उठाये चल रहे थे ।

तत्र गङ्गाजले रम्ये विविक्ते क्रीडयन् स्त्रिया ।
ईर्ष्युर्गन्धर्वराजो वै जलक्रीडामुपागतः ॥२५॥

उस एकान्त और गङ्गा के रमणीय जल में गन्धर्वराज चित्ररथ अपनी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहा था । वह ईर्ष्यालु जल-क्रीड़ा करने के लिए ही वहाँ आया था ।

शब्दं तेषां स शुश्राव नदीं समुपसर्पताम्।
तेन शब्देन चाविष्टश्चुक्रोध बलवद्वली ॥२६॥

उसने गङ्गा की ओर बढ़ते हुए पाण्डवों के पैरों की पदचाप [की ध्वनि] सुनी। उस शब्द को सुनते ही वह बलवान् गन्धर्व क्रोध के आवेश में आकार अत्यन्त बौखला उठा।

स दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सह मात्रा परन्तपान्।
विस्फारयन् धनुर्घोरमिदं वचनमब्रवीत् ॥२७॥

परन्तप पाण्डवों को अपनी माता के साथ वहाँ देख वह अपने भयानक धनुष को टंकारता हुआ इस प्रकार बोला—

आरात् तिष्ठत मा मह्यं समीपमुपसर्पत।
कस्मान्मां नाभिजानीत प्राप्तं भागीरथं जलम् ॥२८॥
अङ्गारपर्णं गन्धर्वं वित्त मां स्वबलाश्रयम्।
अहं हि मानी चेर्ष्युश्च कुबेरस्य प्रियः सखा ॥२९॥

अरे, ओ मनुष्यो! दूर ही खड़े रहो। मेरे समीप मत आना। तुम्हें कैसे ज्ञात नहीं हुआ कि मैं गन्धर्व-राज अङ्गारपर्ण गङ्गा के जल में उतरा हुआ हूँ। तुम लोग मुझे अच्छी प्रकार जान लो। मैं अपने ही बल का भरोसा रखनेवाला स्वाभिमानी तथा ईर्ष्यालु व्यक्ति हूँ और कुबेर का प्रिय मित्र हूँ।

न कौणपाः शृङ्गिणो वा न देवा न च मानुषाः।
इदं समुपसर्पन्ति तत् किं समनुसर्पथ ॥३०॥

मेरी उपस्थिति में यहाँ राक्षस, यक्ष, देवता अथवा मनुष्य कोई भी नहीं आने पाता, फिर तुम लोग कैसे आ रहे हो?

अर्जुन उवाच

समुद्रे हिमवत्पार्श्वे नद्यामस्यां च दुर्मते।
रात्रावहनि सन्ध्यायां कस्य गुप्तः परिग्रहः ॥३१॥

अर्जुन बोले—दुर्मते! समुद्र, हिमालय की तराई और गङ्गा नदी के तट पर रात, दिन अथवा सन्ध्या के समय किसका अधिकार सुरक्षित है?

भुक्तो वाप्यथवाभुक्तो रात्रावहनि खेचर।
न कालनियमो ह्यस्ति गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम् ॥३२॥

आकाशचारी गन्धर्व! सरिताओं में श्रेष्ठ गङ्गा के तट पर आने के लिए यह नियम नहीं है कि यहाँ कोई खाकर आये अथवा बिना खाये, रात्रि में आये या दिन में। इसी प्रकार काल आदि का भी कोई नियम नहीं है।

वयं च शक्तिसम्पन्ना अकाले त्वामधृष्णुमः।
अशक्ता हि रणे क्रूर युष्मानर्चन्ति मानवाः ॥३३॥

अरे ओ क्रूर! हम लोग तो शक्ति-सम्पन्न हैं। हम असमय में भी आकर तुम्हें कुचल सकते हैं। जो युद्ध करने में असमर्थ हैं वे दुर्बल मनुष्य ही तुम लोगों की पूजा करते हैं।

वैशम्पायन उवाच

अङ्गारपर्णस्तत् श्रुत्वा क्रुद्ध आनम्य कार्मुकम्।
मुमोच बाणान् निशितानहीनाशीविषानिव ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुन की वह बात सुनकर अङ्गारपर्ण क्रुद्ध हो गया और धनुष तानकर विषैले साँपों की भाँति तीखे बाण छोड़ने लगा।

अर्जुन उवाच

विभीषिका वै गन्धर्व नास्त्रज्ञेषु प्रयुज्यते।
अस्त्रज्ञेषु प्रयुक्तेयं फेनवत् प्रविलीयते ॥३५॥

अर्जुन बोले—गन्धर्व! जो अस्त्रविद्या के वेत्ता हैं, उनपर तुम्हारी यह घुड़की नहीं चल सकती। अस्त्रविद्या के मर्मज्ञों पर फैलाई हुई तुम्हारी यह माया फेन [झाग] की भाँति विलीन हो जाएगी।

मानुषानति गन्धर्वान् सर्वान् गन्धर्व लक्षये।
तस्मादस्त्रेण दिव्येन योत्स्येऽहं न तु मायया ॥३६॥

गन्धर्व! मैं जानता हूँ कि सम्पूर्ण गन्धर्व मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली होते हैं, अतः मैं तुम्हारे साथ माया से नहीं, दिव्यास्त्र से युद्ध करूँगा।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा पाण्डवः क्रुद्धो गन्धर्वाय मुमोच ह।
प्रदीप्तमस्त्रमाग्नेयं ददाहास्य रथं तु तत् ॥३७॥
विरथं विप्लुतं तं तु स गन्धर्वं महाबलः।
अस्त्रतेजःप्रमूढं च प्रपतन्तमवाङ्मुखम् ॥३८॥
शिरोरुहेषु जग्राह माल्यवत्सु धनंजयः।
भ्रातॄन् प्रति चकर्षाथ सोऽस्त्रपातादचेतसम् ॥३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर पाण्डुनन्दन अर्जुन ने कुपित हो गन्धर्वराज पर प्रज्वलित आग्नेयास्त्र चला दिया। उस अस्त्र ने

गन्धर्व के रथ को जलाकर भस्म कर दिया। वह रथ-विहीन गन्धर्व व्याकुल हो उठा तथा अस्त्र के तेज से मूढ़ होकर नीचे मुँह किये गिरने लगा। तब महाबली अर्जुन ने उसके फूलों की मालाओं से सुशोभित केश पकड़ लिये और उसे घसीटकर अपने भाइयों के पास ले आये। दिव्य अस्त्र के आघात से वह गन्धर्व अचेत हो गया था।

युधिष्ठिरं तस्य भार्या प्रपेदे शरणार्थिनी।
नाम्ना कुम्भीनसी नाम पतित्राणमभीप्सती ॥४०॥

उस गन्धर्व की पत्नी का नाम कुम्भीनसी था। उसने अपने पति के जीवन की रक्षा के लिए महाराज युधिष्ठिर की शरण ली।

गन्धर्व्युवाच

त्रायस्व मां महाभाग पतिं चेमं विमुञ्च मे।
गन्धर्वी शरणं प्राप्ता नाम्ना कुम्भीनसी प्रभो ॥४१॥

गन्धर्वी बोली—महाभाग ! मेरी रक्षा कीजिए तथा मेरे इन पतिदेव को आप छोड़ दीजिए। प्रभो ! मैं गन्धर्वपत्नी कुंभीनसी आपकी शरण में आयी हूँ।

युधिष्ठिर उवाच

युद्धे जितं यशोहीनं स्त्रीनाथमपराक्रमम्।
को निहन्याद् रिपुं तात मुञ्चेमं रिपुसूदन ॥४२॥

युधिष्ठिर बोले—तात ! शत्रुसूदन अर्जुन ! यह गन्धर्व युद्ध में हारकर अपना यश खो चुका। अब स्त्री इसकी रक्षिका बनकर आयी है। यह स्वयं पराक्रम नहीं कर सकता। ऐसे दीन-हीन शत्रु को कौन मारता है ? इसे जीवित छोड़ दो !

अर्जुन उवाच

जीवितं प्रतिपद्यस्व गच्छ गन्धर्व मा शुचः।
प्रदिशत्यभयं तेऽद्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥४३॥

अर्जुन बोले—गन्धर्व ! जीवन धारण करो। जाओ, अब शोक न करो। इस समय कुरुराज युधिष्ठिर तुम्हें अभय-दान दे रहे हैं।

गन्धर्व उवाच

जितोऽहं पूर्वकं नाम मुञ्चाम्यङ्गारपर्णताम्।
न च श्लाघे बलेनाङ्ग न नाम्ना जनसंसदि ॥४४॥

गन्धर्व ने कहा—हे अर्जुन ! मैं परास्त हो गया, अतः अपने पहले नाम अङ्गारपर्ण[1] को त्याग देता हूँ। अब मैं जनसमुदाय में अपने बल की श्लाघा नहीं करूँगा और न इस नाम से अपना परिचय ही दूँगा।

अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं दग्धो मे रथ उत्तमः।
सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम् ॥४५॥

आपके दिव्यास्त्र की अग्नि से मेरा यह विचित्र और उत्तम रथ दग्ध हो गया है। पहले मैं विचित्र रथ के कारण 'चित्ररथ' कहलाता था, परन्तु अब मेरा नाम 'दग्धरथ' हो गया।

साध्विमं लब्धवाँल्लाभं योऽहं दिव्यास्त्रधारिणम्।
गान्धर्व्या माययेच्छामि संयोजयितुमर्जुनम् ॥४६॥

[आज की पराजय से] मुझे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि मैंने दिव्यास्त्रधारी अर्जुन को मित्र-रूप में प्राप्त किया है और अब मैं इन्हें गन्धर्वों की माया से संयुक्त करना चाहता हूँ।

सम्भृता चैव विद्येयं तपसेह मया पुरा।
निवेदयिष्ये तामद्य प्राणदाय महात्मने ॥४७॥

मैंने पूर्वकाल में तपस्या द्वारा जो विद्या प्राप्त की है, उसे मैं आज अपने प्राणदाता महान् आत्मा मित्र को अर्पित करूँगा।

चाक्षुषी नाम विद्येयं यां सोमाय ददौ मनुः।
ददौ स विश्वावसवे मह्यं विश्वावसुर्ददौ ॥४८॥

यह चाक्षुषी नामक विद्या है, जिसे मनु ने सोम को दिया, सोम ने विश्वावसु को दिया और विश्वावसु ने मुझे प्रदान किया है।

सेयं कापुरुषं प्राप्ता गुरुदत्ता प्रणश्यति।
आगमोऽस्य मया प्रोक्तो वीर्यं प्रतिनिबोध मे ॥४९॥

यह गुरु-प्रदत्त विद्या यदि किसी कायर को मिल जाए तो नष्ट हो जाती है। [इस प्रकार] मैंने इसकी उपदेश-परम्परा का वर्णन किया है। अब इसका बल भी सुन लीजिए।

यच्चक्षुषा द्रष्टुमिच्छेत् त्रिषु लोकेषु किंचन।
तत् पश्येद् यादृशं चेच्छेत्तादृशं द्रष्टुमर्हति ॥५०॥

तीनों लोकों में जो कोई भी वस्तु है, उनमें से

---

१. गन्धर्वराज का पर्ण=वाहन प्रज्वलित अङ्गार की भाँति, दूसरों के छूने के अयोग्य था, अतः यह गन्धर्व अङ्गारपर्ण के नाम से विख्यात था।

जिस वस्तु को आँख से देखने की इच्छा हो, उसे इस विद्या के प्रभाव से कोई भी देख सकता है, और जिस रूप में देखना चाहे, उसी रूप में देख सकता है।

गन्धर्वजानामश्वानामहं पुरुषसत्तम।
आतृभ्यस्तव तुभ्यं च पृथग्दाता शतं शतम् ॥५१॥

पुरुषशिरोमणे! [इस विद्या के अतिरिक्त] मैं आपको और आपके भाइयों को अलग-अलग गन्धर्व-लोक के सौ-सौ उत्तम अश्व भेंट करता हूँ।

अर्जुन उवाच

यदि प्रीतेन मे दत्तं संशये जीवितस्य वा।
विद्या धनं श्रुतं वापि न तद् गन्धर्व रोचये ॥५२॥

अर्जुन बोले—गन्धर्व! यदि तुमने प्रसन्न होकर अथवा प्राण-संकट से बचाने के कारण मुझे विद्या, धन अथवा शास्त्र प्रदान किया है, तो मैं इस प्रकार का दान लेना पसन्द नहीं करता।

गन्धर्व उवाच

संयोगो वै प्रीतिकरो महत्सु प्रतिदृश्यते।
जीवितस्य प्रदानेन प्रीतो विद्यां ददामि ते ॥५३॥

गन्धर्व ने कहा—महापुरुषों के साथ जो समागम होता है, वह प्रीति बढ़ानेवाला होता है—ऐसा देखने में आता है। आपने मुझे जीवन-दान दिया है, इससे प्रसन्न होकर मैं आपको चाक्षुषी विद्या भेंट करता हूँ।

त्वत्तोऽप्यहं ग्रहीष्यामि अस्त्रमाग्नेयमुत्तमम्।
तथैव सख्यं बीभत्सो चिराय भरतर्षभ ॥५४॥

साथ ही आपसे भी मैं उत्तम आग्नेयास्त्र ग्रहण करूँगा। भरतकुलभूषण अर्जुन! ऐसा करने से ही हम दोनों में दीर्घकाल तक मित्रता बनी रहेगी।

अर्जुन उवाच

त्वत्तोऽस्त्रेण वृणोम्यश्वान् संयोगः शाश्वतोऽस्तु नौ।
कारणं ब्रूहि गन्धर्व किं तद् येन स्म धर्षिताः ॥५५॥

अर्जुन बोला—ठीक है, मैं यह अस्त्र-विद्या देकर तुमसे घोड़े ले लूंगा। हम दोनों की मैत्री सदा बनी रहे। मित्र गन्धर्वराज! तुमने हम लोगों पर आक्रमण किया है, इसका क्या कारण है? इस पर भी प्रकाश डालो।

गन्धर्व उवाच

अनग्नयोऽनाहुतयो न च विप्रपुरस्कृताः।
यूयं ततो धर्षिताः स्थ मया वै पाण्डुनन्दनाः ॥५६॥

गन्धर्व ने कहा—हे पाण्डुकुमारो! आप लोग [विवाहित न होने के कारण] त्रिविध अग्नियों की सेवा नहीं करते। प्रतिदिन अग्नि को आहुति भी नहीं देते। आपके आगे कोई ब्राह्मण पुरोहित भी नहीं चल रहा था, इन्हीं सब कारणों से मैंने आपपर आक्रमण किया था।

स्त्रीसकाशे च कौरव्य न पुमान् क्षन्तुमर्हति।
धर्षणामात्मनः पश्यन् बाहुद्रविणमाश्रितः ॥५७॥

हे कुरुनन्दन! [एक और भी कारण है] अपने बाहुबल का भरोसा रखनेवाला कोई भी पुरुष जब स्त्री के समक्ष अपना तिरस्कार होता देखता है, तब उसे सहन नहीं कर सकता।

नक्तं च बलमस्माकं भूय एवाभिवर्धते।
यतस्ततो मां कौन्तेय सादरं मन्युराविशत् ॥५८॥

कुन्तीनन्दन! इसके सिवा एक बात यह भी है कि रात्रि के समय हम लोगों का बल बहुत बढ़ जाता है। इसी से स्त्री के साथ रहने के कारण मुझमें क्रोध का आवेश हो गया था।

ब्रह्मचर्यं परो धर्मः स चापि नियतस्त्वयि।
यस्मात्तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मि विजितस्त्वया ॥५९॥

[तुम्हारी विजय क्यों हुई, उसका कारण भी सुनो] ब्रह्मचर्य सबसे बड़ा धर्म है और वह तुममें निश्चितरूप से विद्यमान है। कुन्तीनन्दन! इसीलिए युद्ध में मैं तुमसे हार गया हूँ।

यस्तु स्यात् क्षत्रियः कश्चित् कामवृत्तः परन्तप।
नक्तं च युधि युध्येत न स जीवेत् कथंचन ॥६०॥

शत्रु-संतापक वीर! यदि कोई दूसरा कामासक्त क्षत्रिय रात में मुझसे युद्ध करने आता तो फिर किसी प्रकार जीवित नहीं बच सकता था।

वेदे षडङ्गे निरताः शुचयः सत्यवादिनः।
धर्मात्मानः कृतात्मानः स्युर्नृपाणां पुरोहिताः ॥६१॥

[तुम्हारा कोई पुरोहित नहीं है अतः किसी पुरोहित का वरण करो] जो छहों अङ्गोंसहित वेद के स्वाध्याय में तत्पर, विश्वस्त (ईमानदार), सत्यवादी,

धर्मात्मा और मन को वश में रखनेवाले हों, ऐसे ही ब्राह्मण राजाओं के पुरोहित होने चाहिएँ।

लाभं लब्धुमलब्धं वा लब्धं वा परिरक्षितुम्।
पुरोहितं प्रकुर्वीत राजा गुणसमन्वितम् ॥६२॥

राजा को किसी अप्राप्त वस्तु या धन को प्राप्त करने अथवा उपलब्ध धनादि की रक्षा करने के लिए गुणवान् ब्राह्मण को पुरोहित बनाना चाहिए।

पुरोहितमते तिष्ठेद् य इच्छेद् भूतिमात्मनः।
प्राप्तुं वसुमतीं सर्वां सर्वशः सागराम्बराम् ॥६३॥

जो समुद्र से घिरी हुई समस्त पृथिवी पर अपना अधिकार चाहे, अथवा अपने लिए ऐश्वर्य पाना चाहे, उसे पुरोहित की आज्ञा के अधीन रहना चाहिए।

अर्जुन उवाच

अस्माकमनुरूपो वै यः स्याद् गन्धर्व वेदवित्।
पुरोहितं तमाचक्ष्व सर्वं हि विदितं तव ॥६४॥

अर्जुन बोला—गन्धर्वराज ! हमारे अनुरूप जो कोई वेदवेत्ता पुरोहित हों, आप उनका नाम बताइए, क्योंकि आपको सब-कुछ ज्ञात है।

गन्धर्व उवाच

यवीयान् देवलस्यैष वने भ्राता तपस्यति।
धौम्य उत्कोचके तीर्थे तं वृणुध्वं यदीच्छथ ॥६५॥

गन्धर्व ने कहा—कुन्तीनन्दन ! इसी वन के उत्कोचक तीर्थ में महर्षि देवल के छोटे भाई धौम्य मुनि तपस्या करते हैं। यदि आप सब भ्राता चाहें, तो उन्हीं को पुरोहितपद पर वरण करें।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनोऽस्त्रमाग्नेयं प्रददौ तद् यथाविधि।
गन्धर्वाय तदा प्रीतो वचनं चेदमब्रवीत् ॥६६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब अर्जुन ने अत्यन्त प्रसन्न होकर गन्धर्वराज को विधिपूर्वक आग्नेयास्त्र प्रदान किया और यह बात कही—

त्वय्येव तावत्तिष्ठन्तु हया गन्धर्वसत्तम।
कार्यकाले ग्रहीष्यामः स्वस्ति तेऽस्त्विति चाब्रवीत् ।६७
तेऽन्योन्यमभिसम्पूज्य गन्धर्वः पाण्डवाश्च ह।
रम्याद् भागीरथीतीराद् यथाकामं प्रतस्थिरे ॥६८॥

"गन्धर्वप्रवर ! तुमने जो घोड़े दिये हैं, वे अभी तुम्हारे पास ही रहें। आवश्यकता के समय हम तुमसे ले लेंगे। तुम्हारा कल्याण हो।" अर्जुन की यह बात पूरी होने पर गन्धर्वराज और पाण्डवों ने एक-दूसरे का बहुत सत्कार किया। फिर पाण्डवगण गङ्गा के रमणीय तट से अपनी इच्छा के अनुसार चल दिये।

तत उत्कोचकं तीर्थं गत्वा धौम्याश्रमं तु ते।
तं वव्रुः पाण्डवा धौम्यं पौरोहित्याय भारत ॥६९॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् उत्कोचक तीर्थ में धौम्य के आश्रम पर जाकर पाण्डवों ने महामुनि धौम्य को पौरोहित्य-कर्म के लिए वरण किया।

तान् धौम्यः प्रतिजग्राह सर्ववेदविदां वरः।
वन्येन फलमूलेन पौरोहित्येन चैव ह ॥७०॥

सम्पूर्ण वेदों के विद्वानों में श्रेष्ठ महर्षि धौम्य ने जंगली फल-मूल अर्पण करके तथा पौरोहित्य के लिए स्वीकृति देकर उन सबका सत्कार किया।

ते समाशंसिरे लब्धां श्रियं राज्यं च पाण्डवाः।
ब्राह्मणं तं पुरस्कृत्य पाञ्चालीं च स्वयंवरे ॥७१॥

पाण्डवों ने उस ब्राह्मण देवता को पुरोहित बनाकर यह भली-भाँति विश्वास कर लिया कि 'अब हमें अपना राज्य और धन मिले हुए के ही समान हैं।' साथ ही उन्हें यह भी आशा हो गई कि 'स्वयंवर में द्रौपदी भी हमें मिल जाएगी।'

पुरोहितेन तेनाथ गुरुणा संगतस्तदा।
नाथवन्तमिवात्मनं मेनिरे भरतर्षभाः ॥७२॥

उन गुरु एवं पुरोहित के साथ हो जाने से उस समय भरतवंशियों में श्रेष्ठ पाण्डवों ने अपने आपको सनाथ-सा समझा।

स हि वेदार्थतत्त्वज्ञस्तेषां गुरुरुदारधीः।
तेन धर्मविदा पार्था याज्या धर्मविदः कृताः ॥७३॥

उदारबुद्धि धौम्य वेदार्थ के तत्त्वज्ञ थे, वे पाण्डवों के गुरु हुए। उन धर्मज्ञ मुनि ने कुन्तीकुमारों को अपना यजमान बना लिया।

वीरांस्तु स हितान्मेने प्राप्तराज्यान्स्वधर्मतः।
बुद्धिवीर्यबलोत्साहैर्युक्तान् देवानिव द्विजः ॥७४॥

धौम्य को भी यह विश्वास हो गया कि बुद्धि, वीर्य, बल और उत्साह से युक्त ये देवोपम वीर संगठित होकर स्वधर्म के अनुसार अपना राज्य अवश्य प्राप्त कर लेंगे।

कृतस्वस्त्ययनास्तेन ततस्ते मनुजाधिपाः ।
मेनिरे सहिता गन्तुं पाञ्चाल्यास्तं स्वयंवरम् ॥७५॥

धौम्य ने पाण्डवों के लिए स्वस्तिवाचन किया । तत्पश्चात् उन नरश्रेष्ठ पाण्डवों ने एक साथ द्रौपदी के स्वयंवर में जाने का निश्चय किया ।

इति महाभारते आदिपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशोऽध्यायः

पाण्डवों का द्रुपद की राजधानी में जाकर कुम्हार के यहाँ ठहरना, स्वयंवर-सभा का वर्णन, धृष्टद्युम्न की घोषणा और अर्जुन का लक्ष्यवेध करके द्रौपदी को प्राप्त करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते नरशार्दूला भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
प्रययुर्द्रौपदीं द्रष्टुं तं च देशं महोत्सवम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब वे नरश्रेष्ठ पाँचों पाण्डव भाई राजकुमारी द्रौपदी, उसके पाञ्चाल देश और वहाँ के महान् उत्सव को देखने के लिए वहाँ से चल दिये ।

पश्यन्तो रमणीयानि वनानि च सरांसि च ।
तत्र तत्र वसन्तश्च शनैर्जग्मुर्महारथाः ॥२॥

महारथी पाण्डव मार्ग में अनेकानेक रमणीय वनों और सरोवरों को देखते तथा उन-उन स्थानों में डेरा डालते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ते गये ।

स्वाध्यायवन्तः शुचयो मधुराः प्रियवादिनः ।
आनुपूर्व्येणसंप्राप्ताः पाञ्चालान् पाण्डुनन्दनाः ॥३॥

नित्य स्वाध्याय में तत्पर रहनेवाले, पवित्र, मधुर प्रकृतिवाले तथा प्रियवादी पाण्डुकुमार इस प्रकार चलकर क्रमशः पाञ्चाल देश में जा पहुँचे ।

ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च स्कन्धावारं च पाण्डवाः ।
कुम्भकारस्य शालायां निवासं चक्रिरे तदा ॥४॥

द्रुपद के उस नगर और उसके परकोटे [चहारदीवारी] को देखकर पाण्डवों ने उस समय एक कुम्हार के घर में अपने रहने की व्यवस्था की ।

तत्र भैक्ष्यं समाजह्रुर्ब्राह्मीं वृत्तिमाश्रिताः ।
तान्सम्प्राप्तांस्तया वीराञ्जज्ञिरे न नराः क्वचित् ॥५

वहाँ ब्राह्मणवृत्ति का आश्रय ले वे भिक्षा माँगकर लाते [और उसी से निर्वाह करते] थे । इस प्रकार वहाँ पहुँचे हुए पाण्डव वीरों को कहीं कोई भी मनुष्य नहीं पहचान सका ।

यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने ।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद् विवृणोति सः ॥६॥

राजा द्रुपद के मन में सदा यही इच्छा रहती थी कि मैं पाण्डुनन्दन अर्जुन के साथ द्रौपदी का विवाह करूँ, परन्तु वे अपने इस मनोरथ को किसी पर प्रकट नहीं करते थे ।

सोऽन्वेषमाणः कौन्तेयं पाञ्चाल्यो जनमेजय ।
दृढं धनुरनानम्यं कारयामास भारत ॥७॥

भरतवंशी जनमेजय ! पाञ्चाल नरेश ने कुन्ती-पुत्र अर्जुन को खोज निकालने की इच्छा से एक ऐसा दृढ़ धनुष बनवाया, जिसे दूसरा कोई झुका ही न सके।

यन्त्रं वैहायसं चापि कारयामास कृत्रिमम् ।
तेन यन्त्रेण समितं राजा लक्ष्यं चकार सः ॥८॥

राजा द्रुपद ने एक कृत्रिम आकाश-यन्त्र भी बनाया, [जो तीव्रवेग से आकाश में घूमता रहता था]। उस यन्त्र के छिद्र के ऊपर उन्होंने उसी के बराबर का लक्ष्य तैयार कराकर रखवा दिया । [फिर उन्होंने यह घोषणा करा दी—]

द्रुपद उवाच

इदं सज्यं धनुः कृत्वा सज्जैरेभिश्च सायकैः ।
अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लब्धा मत्सुतामिति ॥९॥

द्रुपद ने घोषणा की—जो वीर इस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर इन प्रस्तुत बाणों द्वारा ही यन्त्र के छेद के भीतर से इसे लाँघकर लक्ष्यवेध करेगा, वही मेरी पुत्री को प्राप्त कर सकेगा ।

वैशम्पायन उवाच

इति स द्रुपदो राजा स्वयंवरमघोषयत् ।
तत् श्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे समीयुस्तत्र भारत ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राजा द्रुपद ने जब स्वयंवर की घोषणा करा दी, तब उसे सुनकर सब राजा उनकी राजधानी में एकत्र होने लगे ।

ऋषयश्च महात्मानः स्वयंवरदिदृक्षवः ।
दुर्योधनपुरोगाश्च सकर्णाः कुरवो नृप ॥११॥

बहुत-से महात्मा ऋषि-मुनि भी स्वयंवर देखने के लिए आये । राजन् ! दुर्योधन आदि कुरुवंशी भी कर्ण के साथ वहाँ आये ।

प्रागुत्तरेण नगराद् भूमिभागे समे शुभे ।
समाजवाटः शुशुभे भवनैः सर्वतो वृतः ॥१२॥

नगर से ईशानकोण में सुन्दर एवं समतल भूमि पर स्वयंवर सभा का रङ्गमण्डप सजाया गया था, जो सब ओर से सुन्दर भवनों द्वारा घिरा होने के कारण बड़ी शोभा पा रहा था ।

तत्र नानाप्रकारेषु विमानेषु स्वलंकृताः ।
स्पर्धमानास्तदान्योन्यं निषेदुः सर्वपार्थिवाः ॥१३॥

उन्हीं सतमहले मकानों या विमानों में, जो अनेक प्रकार के बने हुए थे, सभी नृप परस्पर एक-दूसरे से होड़ रखते हुए सुन्दर शृङ्गार करके ठहरे थे ।

ब्राह्मणैस्ते च सहिताः पाण्डवाः समुपाविशन् ।
ऋद्धिं पाञ्चालराजस्य पश्यन्तस्तामनुत्तमाम् ॥१४॥

वे पाण्डव भी पाञ्चालनरेश की उस सर्वोत्तम समृद्धि का अवलोकन करते हुए ब्राह्मणों के साथ उन्हीं की पंक्ति में बैठे थे ।

वर्तमाने समाजे तु द्रौपदी भरतर्षभ ।
अवतीर्णा ततो रङ्गं मालामादाय काञ्चनीम् ॥१५॥

भरतश्रेष्ठ ! सब राजा-महाराजाओं के एकत्र हो जाने पर द्रौपदी स्वर्ण-माला [सोने की बनी हुई माला] को हाथ में लेकर उस रंगभूमि में पधारी ।

रङ्गमध्ये गतस्तत्र धृष्टद्युम्नो विशाम्पते ।
वाक्यमुच्चैर्जगादेदं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम् ॥१६॥

हे महाराज ! उस समय द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ने रङ्गमण्डप के बीच में खड़े होकर उच्च स्वर से यह अर्थयुक्त उत्तम एवं मधुर वचन कहा—

इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च बाणाः
शृण्वन्तु मे भूपतयः समेताः ।
छिद्रेण यन्त्रस्य समर्पयध्वं
शरैः शितैर्व्योमचरैर्दशार्धैः ॥१७॥

"यहाँ एकत्र नरेशवृन्द ! आप लोग [ध्यानपूर्वक] मेरी बात सुनें । यह धनुष है, ये बाण हैं और यह लक्ष्य (निशाना) है । आप लोग आकाश में छोड़े हुए पाँच पैने बाणों द्वारा उस यन्त्र के छेद के भीतर से लक्ष्य को वेध कर गिरा दें ।

एतन्महत्कर्म करोति यो वै
कुलेन रूपेण बलेन युक्तः ।
तस्याद्य भार्या भगिनी ममेयं
कृष्णा भवित्री न मृषा ब्रवीमि ॥१८॥

"मैं सत्य कहता हूँ, झूठ नहीं बोलता—जो उत्तम कुल, सुन्दर रूप और श्रेष्ठ बल से सम्पन्न वीर यह महान् कर्म कर दिखाएगा, आज यह मेरी बहिन कृष्णा उसी की धर्मपत्नी हो जाएगी ।

ततस्तु ते राजगणाः क्रमेण
कृष्णानिमित्तं कृतविक्रमाश्च ।
तत्कार्मुकं संहननोपपन्नं
सज्यं न शेकुर्मनसापि कर्तुम् ॥१९॥
ते विक्रमन्तः स्फुरता दृढेन
विक्षिप्यमाना धनुषा नरेन्द्राः ।
विचेष्टमाना धरणीतलस्था
विनिःश्वसन्तः शमयाम्बभूवुः ॥२०॥

इस घोषणा के पश्चात् वे भूपालगण द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए क्रमशः अपना पराक्रम प्रकट करने लगे, परन्तु वे उस सुदृढ़ धनुष पर हाथ से कौन कहे, मन से भी प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ा सके । उसपर जोर लगाते समय वे सभी नरेन्द्र उस सुदृढ़ एवं प्रकाशमान धनुष के झटके से दूर फेंक दिये जाते और लड़खड़ाकर पृथिवी पर जा गिरते थे । फिर तो लम्बी साँसें खींचते हुए वे शान्त होकर बैठ जाते थे ।

एवं तेषु निवृत्तेषु क्षत्रियेषु समन्ततः ।
चेदीनामधिपो वीरो बलवानन्तकोपमः ॥२१॥
दमघोषसुतो धीरः शिशुपालो महामतिः ।
धनुरादायमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥२२॥

इस प्रकार जब वे सभी क्षत्रिय सब ओर से हट गये, तब यमराज के समान बलवान्, धीर, वीर,

चेदिराज दमघोषपुत्र महाबुद्धिमान् शिशुपाल धनुष उठाने के लिए आगे बढ़ा, परन्तु उसपर हाथ लगाते ही वह घुटनों के बल पृथिवी पर गिर पड़ा।

ततः शल्यो महावीरो मद्रराजो महाबलः।
तदप्यारोप्यमाणस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥२३॥

तत्पश्चात् महावीर एवं महाबली मद्रराज शल्य आगे आये, परन्तु उन्होंने भी उस धनुष को चढ़ाते समय धरती पर घुटने टेक दिये।

यदा निवृत्ता राजानो धनुषः सज्यकर्मणः।
अथोदतिष्ठद् विप्राणां मध्याज्जिष्णुरुदारधीः ॥२४॥

जब सब राजाओं ने उस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने के कार्य से मुँह मोड़ लिया, तब उदारधी (उदारबुद्धि) अर्जुन ब्राह्मण-मण्डली के बीच से उठकर खड़े हुए।

उदक्रोशन् विप्रमुख्या विधुन्वन्तोऽजिनानि च।
दृष्ट्वा सम्प्रस्थितं पार्थमिन्द्रकेतुसमप्रभम् ॥२५॥

इन्द्र की ध्वजा के समान तेजस्वी तथा ऊँचे अर्जुन को उठकर धनुष की ओर जाते देख बड़े-बड़े ब्राह्मण अपने-अपने मृगचर्म हिलाते हुए जोर-जोर से कोलाहल करने लगे।

केचिदासन् विमनसः केचिदासन् मुदान्विताः।
आहुः परस्परं केचिन्निपुणा बुद्धिजीविनः ॥२६॥

कुछ ब्राह्मण उदास हो गये और कुछ हर्ष के मारे फूल उठे तथा कुछ चतुर एवं बुद्धिजीवी ब्राह्मण आपस में इस प्रकार कहने लगे—

यत्कर्णशल्यप्रमुखैः क्षत्रियैर्लोकविश्रुतैः।
नानतं बलवद्भिर्हि धनुर्वेदपरायणैः ॥२७॥
तत्कथं त्वकृतास्त्रेण प्राणतो दुर्बलीयसा।
बटुमात्रेण शक्यं हि सज्यं कर्तुं धनुर्द्विजाः ॥२८॥

"ब्राह्मणो! कर्ण और शल्य आदि बलवान्, धनुर्वेदपरायण तथा लोकविख्यात क्षत्रिय जिसे झुका तक न सके, उसी धनुष पर अस्त्र-ज्ञान से शून्य और शारीरिक बल की दृष्टि से अत्यन्त दुर्बल-सा यह निरीह ब्राह्मण-बालक प्रत्यञ्चा कैसे चढ़ा सकेगा?

यद्येष दर्पाद्धर्षाद् वाप्यथ ब्राह्मणचापलात्।
प्रस्थितो धनुरायन्तं वार्यतां साधु मा गमत् ॥२९॥

"यदि यह अभिमान, हर्ष अथवा ब्राह्मणसुलभ चञ्चलता के कारण धनुष पर डोरी चढ़ाने के लिए आगे बढ़ा है, तो इसे रोक देना चाहिए, अच्छा तो यही होगा कि यह जाए ही नहीं।"

केचिदाहुर्युवा श्रीमान् नागराजकरोपमः।
पीनस्कन्धोरुबाहुश्च धैर्येण हिमवानिव ॥३०॥

कुछ ब्राह्मण बोले—"यह सुन्दर युवक नागराज ऐरावत के शुण्ड-दण्ड के समान हृष्ट-पुष्ट दिखाई देता है। इसके कन्धे सुपुष्ट और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं। यह धैर्य में हिमालय के समान जान पड़ता है।

सिंहखेलगतिः श्रीमान् मत्तनागेन्द्रविक्रमः।
सम्भाव्यमस्मिन् कर्मेदमुत्साहाच्चानुमीयते ॥३१॥

"इसकी चाल सिंह के समान मस्तानी है। यह शोभायुक्त तरुण मदमस्त हाथी के समान पराक्रमी प्रतीत होता है। इस वीर के लिए यह कार्य करना सम्भव है। इसका उत्साह देखकर भी ऐसा ही अनुमान होता है।"

एवं तेषां विलपतां विप्राणां विविधा गिरः।
अर्जुनो धनुषोऽभ्याशे तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥३२॥

इस प्रकार जब ब्राह्मण लोग भाँति-भाँति की बातें कर रहे थे, उसी समय महावीर अर्जुन धनुष के पास जाकर पर्वत के समान अविचल भाव से खड़े हो गये। फिर—

यत् पार्थिवै रुक्मसुनीथवक्रैः
राधेय - दुर्योधन - शल्यशाल्वैः।
तदा धनुर्वेदपरैर्नृसिंहैः
कृतं न सज्यं महतोऽपि यत्नात् ॥३३॥
तदर्जुनो वीर्यवतां सदर्प-
स्तदैन्द्रिरिन्द्रावरजप्रभावः।
सज्यं च चक्रे निमिषान्तरेण
शरश्च जग्राह दशार्धसंख्यान् ॥३४॥

रुक्म, सुनीथ, वक्र, कर्ण, दुर्योधन, शल्य तथा शाल्व आदि धनुर्वेद के पारङ्गत विद्वान् पुरुषसिंह राजा लोग महान् प्रयत्न करके भी जिस धनुष पर डोरी न चढ़ा सके थे, उसी धनुष पर विष्णु के समान प्रभावशाली एवं पराक्रमी, वीरों में श्रेष्ठता का अभिमान रखनेवाले, इन्द्रकुमार अर्जुन ने पलक

मारते-मारते डोरी चढ़ा दी। तत्पश्चात् उन्होंने वे पांच बाण भी हाथ में ले लिये।

विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च
छिद्रेण भूमौ सहसातिविद्धम्।
ततोऽन्तरिक्षे च बभूव नादः
समाजमध्ये च महान् निनादः ॥३५॥

और उन्हें चलाकर बात-की-बात में [लक्ष्य को] वेध दिया। वह बिंधा हुआ लक्ष्य अत्यन्त छिन्न-भिन्न हो यन्त्र के छेद से सहसा पृथिवी पर गिर पड़ा। उस समय आकाश में बड़ा भारी धमाका हुआ और सभा-मण्डप में उससे भी महान् आनन्द-भरा कोलाहल छा गया।

तस्मिंस्तु शब्दे महति प्रवृद्धे
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः।
आवासमेवोपजगाम शीघ्रं
सार्धं यमाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्याम् ॥३६॥

उस समय जब महान् कोलाहल बढ़ने लगा, तब धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर पुरुषोत्तम नकुल और सहदेव को साथ लेकर डेरे पर चले गये।

विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा
पार्थं च शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य।
आदाय शुक्लं वरमाल्यदाम
जगाम कुन्तीसुतमुत्स्मयन्ती ॥३७॥

लक्ष्य को बिंधकर धरती पर गिरा देख इन्द्र-तुल्य पराक्रमी अर्जुन पर दृष्टि डालकर हाथों में सुन्दर श्वेत फूलों की जयमाला लिये द्रौपदी मन्द-मन्द मुस्कराती हुई कुन्तीपुत्र के समीप गई।

इति महाभारते आदिपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

भीम और अर्जुन का द्रुपद को मारने के लिए उद्यत हुए राजाओं का सामना करना, उनके द्वारा कर्ण और शल्य की पराजय तथा द्रौपदी-सहित डेरे पर आना

वैशम्पायन उवाच

तस्मै दित्सति कन्यां तु ब्राह्मणाय तदा नृपे।
कोप आसीन्महीपानामालोक्यान्योन्यमन्तिकात् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा द्रुपद उस ब्राह्मण को कन्या देना चाहते हैं, यह जानकर उस समय वे राजा लोग बहुत क्रुद्ध हुए और वे एक-दूसरे को देखकर तथा समीप आकर इस प्रकार कहने लगे—

अस्मानयमतिक्रम्य तृणीकृत्य च संगतान्।
दातुमिच्छति विप्राय द्रौपदीं योषितां वराम् ॥२॥

"[अहो! देखो तो सही] यह राजा द्रुपद यहाँ एकत्र हुए हम सब लोगों को तिनके के समान तुच्छ समझकर और हमारा तिरस्कार करके युवतियों में श्रेष्ठ अपनी कन्या का विवाह एक ब्राह्मण के साथ करना चाहता है!

अवरोप्येह वृक्षं तु फलकाले निपात्यते।
निहन्मैनं दुरात्मानं योऽयमस्मान् न मन्यते ॥३॥

"यह वृक्ष लगाकर अब फल लगने के समय उसे काटकर गिरा रहा है, अतः हम लोग इस दुरात्मा को मार डालें, क्योंकि यह हमें कुछ नहीं समझ रहा है।"

इत्युक्त्वा राजशार्दूला हृष्टाः परिघबाहवः।
द्रुपदं तु जिघांसन्तः सायुधाः समुपाद्रवन् ॥४॥

ऐसा कहकर परिघ-जैसी मोटी भुजाओंवाले वे श्रेष्ठ भूपाल हर्ष और उत्साह में भरकर हाथों में अस्त्र-शस्त्र लिये द्रुपद को मारने की इच्छा से उनकी ओर वेग से दौड़े।

वेगेनापततस्ताँस्तु प्रभिन्नानिव वारणान्।
पाण्डुपुत्रौ महेष्वासौ प्रतियातावरिन्दमौ ॥५॥

मद की धारा बहानेवाले मदोन्मत्त गजराजों की भाँति उन नृपों को वेग से आते देखकर शत्रुदमन महाधनुर्धर पाडुनन्दन भीम और अर्जुन उनका सामना करने के लिए आ गये।

ततः समुत्पेतुरुदायुधास्ते
महीक्षितो बद्धतलांगुलित्राः।
जिघांसमानाः कुरुराजपुत्रा-
वमर्षयन्तोऽर्जुनभीमसेनौ ॥६॥

तब हाथों में गोह के चमड़े के दस्ताने पहने और आयुधों को ऊपर उठाये अमर्ष में भरे हुए वे सभी नरेश राजकुमार भीम और अर्जुन को मारने के लिए उनपर टूट पड़े।

ततस्तु भीमोऽद्भुतभीमकर्मा
महाबलो वज्रसमानसारः।
उत्पाटय दोर्भ्यां द्रुममेकवीरो
निष्पत्रयामास यथा गजेन्द्रः ॥७॥

तब तो वज्र के समान शक्तिशाली तथा अद्भुत एवं भयानक कर्म करनेवाले अद्वितीय वीर महाबली भीमसेन ने गजराज की भाँति अपने दोनों हाथों से एक वृक्ष को उखाड़ लिया एवं उसके पत्ते झाड़ दिये।

तं वृक्षमादाय रिपुप्रमाथी
दण्डीव दण्डं पितृराज उग्रम्।
तस्थौ समीपे पुरुषर्षभस्य
पार्थस्य पार्थः पृथुदीर्घबाहुः ॥८॥

फिर मोटी और विशाल भुजाओंवाले शत्रु-नाशक कुन्तीपुत्र भीमसेन उसी वृक्ष को हाथ में लेकर भयंकर दण्ड उठाये हुए दण्डधारी यमराज की भाँति पुरुषोत्तम अर्जुन के समीप खड़े हो गये।

तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धि-
र्जिष्णुः स हि भ्रातुरचिन्त्यकर्मा।
विसिष्मिये चापि भयं विहाय
तस्थौ धनुर्गृह्य महेन्द्रकर्मा ॥९॥

असाधारण बुद्धिवाले तथा देवराज इन्द्र के समान महापराक्रमी, अचिन्त्यकर्मा अर्जुन अपने भाई भीमसेन के उस अद्भुत कार्य को देखकर चकित हो उठे और भय छोड़कर धनुष हाथ में लिये हुए युद्ध के लिए डट गये।

अजनानि विधुन्वन्तः करकांश्च द्विजर्षभाः।
ऊचुस्ते भीर्न कर्तव्या वयं योत्स्यामहे परान् ॥१०॥

उस समय अपने मृगचर्म और कमण्डलुओं को हिलाते और उछालते हुए वे श्रेष्ठ ब्राह्मण अर्जुन से कहने लगे—"तुम डरना मत, हम सब लोग तुम्हारी ओर से शत्रुओं से युद्ध करेंगे।"

ततः कर्णमुखान् दृष्ट्वा क्षत्रियान् युद्धदुर्मदान्।
सम्पेततुरभीतौ तौ गजौ प्रतिगजानिव ॥११॥

तब कर्ण आदि रणोन्मत्त क्षत्रियों को आते देख वे दोनों भाई निर्भय हो उनपर उसी प्रकार टूट पड़े, जैसे दो मतवाले हाथी अपने विपक्षी हाथियों की ओर बढ़े जा रहे हों।

ततः कर्णो महातेजा जिष्णुं प्रति ययौ रणे।
भीमसेनं ययौ शल्यो मद्राणामीश्वरो बली ॥१२॥

उस समय महातेजस्वी कर्ण युद्ध के लिए अर्जुन की ओर बढ़ा और महाबली मद्रराज शल्य भीम से जा भिड़े।

ततोऽर्जुनः प्रत्यविध्यदापतन्तं शितैः शरैः।
कर्णं वैकर्तनं श्रीमान् विकृष्य बलवद् धनुः ॥१३॥

तब तेजस्वी अर्जुन ने अपने धनुष को जोर से खींचकर अपनी ओर वेग से आते हुए सूर्यपुत्र कर्ण को कई बाण मारे।

तेषां शराणां वेगेन शितानां तिग्मतेजसाम्।
विमुह्यमानो राधेयो यत्नात् तमनुधावति ॥१४॥

उन दुःसह तेजवाले तीखे बाणों के वेगपूर्ण आघात से राधानन्दन कर्ण को मूर्च्छा आने लगी। वह बड़ी कठिनाई से अर्जुन की ओर बढ़ा।

तावुभावप्यनिर्देश्यौ लाघवाज्जयतां वरौ।
अयुध्येतां सुसंरब्धावन्योन्यविजिगीषिणौ ॥१५॥

विजयी वीरों में श्रेष्ठ वे दोनों योद्धा हाथों की फुर्ती दिखाने में बेजोड़ थे। उनमें कौन बड़ा है और कौन छोटा—यह बताना असम्भव था। दोनों ही एक-दूसरे को जीतने की इच्छा रखकर बड़े क्रोध से लड़ रहे थे।

ततोऽर्जुनस्य भुजयोर्वीर्यमप्रतिमं भुवि।
ज्ञात्वा वैकर्तनः कर्णो हृष्टोऽब्रवीदिदं वचः ॥१६॥

तदनन्तर अर्जुन के बाहुबल की इस पृथिवी पर कहीं समानता नहीं है, यह जानकर सूर्यपुत्र कर्ण ने हर्षित होकर यह वचन कहा—

कर्ण उवाच

तुष्यामि ते विप्रमुख्य भुजवीर्यस्य संयुगे।
अविषादस्य चैवास्य शस्त्रास्त्रविजयस्य च ॥१७॥

कर्ण बोला—विप्रवर! युद्ध में आपके बाहुबल से मैं अति सन्तुष्ट हूँ। आपमें थकावट अथवा विषाद का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता और आपने सभी

अस्त्र-शस्त्रों को जीतकर मानो अपने वश में कर लिया है।

किं त्वं साक्षाद् धनुर्वेदो रामो वा विप्रसत्तम।
अथ साक्षाद्धरिहयः साक्षाद्वा विष्णुरच्युतः ॥१८॥

विप्रशिरोमणे! आप मूर्तिमान् धनुर्वेद हैं या परशुराम? अथवा आप स्वयं इन्द्र हैं या अपनी महिमा से कभी च्युत न होनेवाले विष्णु हैं?

न हि मामाहवे क्रुद्धमन्यः साक्षाच्छचीपतेः।
पुमान् योधयितुं शक्तः पाण्डवाद्वा किरीटिनः ॥१९॥

क्योंकि युद्ध में मेरे कुपित होने पर साक्षात् शचीपति इन्द्र अथवा किरीटधारी पाण्डुनन्दन अर्जुन के अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा सामना नहीं कर सकता।

अर्जुन उवाच

नास्मि कर्ण धनुर्वेदो नास्मि रामः प्रतापवान्।
ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥२०॥

अर्जुन ने कहा—कर्ण! न तो मैं धनुर्वेद हूँ और न ही प्रतापी परशुराम। मैं तो सम्पूर्ण शस्त्रधारियों में उत्तम और योद्धाओं में श्रेष्ठ एक ब्राह्मण हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात् कर्णो न्यवर्तत।
ब्राह्मं तेजस्तदाजय्यं मन्यमानो महारथः ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुन का यह कथन सुनकर महारथी कर्ण ब्रह्मतेज को अजेय मानता हुआ उस समय युद्ध छोड़कर हट गया।

अपरस्मिन् वनोद्देशे वीरौ शल्यवृकोदरौ।
अन्योन्यमाह्वयन्तौ तु मत्ताविव महागजौ ॥२२॥

इसी समय दूसरे स्थान को अपना युद्धक्षेत्र बनाकर वीर शल्य और भीमसेन एक-दूसरे को ललकारते हुए दो मतवाले गजराजों की भाँति युद्ध कर रहे थे।

मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव निघ्नन्तावितरेतरम्।
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्यकर्ष विकर्षणैः ॥२३॥

वे घूंसों और घुटनों से एक-दूसरे को मारने लगे। दोनों एक-दूसरे को दूर तक ठेल ले जाते, नीचे गिराने का प्रयत्न करते, कभी अपनी ओर खींचते और कभी अगल-वगल से पैंतरा देकर गिराने की चेष्टा करते थे।

ततश्चटचटाशब्दः सुघोरो ह्यभवत् तयोः।
पाषाणसम्पातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥२४॥

उस समय घूंसों की मार से उन दोनों के शरीरों पर अत्यन्त भयंकर 'चट-चट' शब्द हो रहा था। वे परस्पर इस प्रकार प्रहार कर रहे थे, मानो पत्थर टकरा रहे हों।

ततो भीमः समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां शल्यमाहवे।
अपातयत् कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणा जहसुस्तदा ॥२५॥

तत्पश्चात् कुरुश्रेष्ठ भीमसेन ने दोनों हाथों से शल्य को ऊपर उठाकर युद्धभूमि में दे पटका। यह देख ब्राह्मण लोग हँसने लगे।

तत्राश्चर्यं भीमसेनश्चकार पुरुषर्षभः।
यच्छल्यं पातितं भूमौ नावधीद् बलिनं बली ॥२६॥

कुरुश्रेष्ठ! बलवान् भीमसेन ने एक आश्चर्य की बात यह की कि महाबली शल्य को पृथिवी पर पटक कर भी मार नहीं डाला।

पातिते भीमसेनेन शल्ये कर्णे च शङ्किते।
शङ्किताः सर्वराजानः परिवव्रुर्वृकोदरम् ॥२७॥

भीमसेन द्वारा शल्य को पछाड़ दिये जाने और अर्जुन से कर्ण के डर जाने पर सभी राजा [युद्ध का विचार छोड़] शंकित हो भीमसेन को चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये।

ऊचुश्च सहितास्तत्र साध्विमौ ब्राह्मणर्षभौ।
विज्ञायेतां क्वजन्मानौ क्वनिवासौ तथैव च ॥२८॥

और एक साथ ही बोल उठे—"अहो! ये दोनों श्रेष्ठ ब्राह्मण धन्य हैं। पता तो लगाओ, इनकी जन्मभूमि कहाँ है तथा ये रहनेवाले कहाँ के हैं?

को हि राधासुतं कर्णं शक्तो योधयितुं रणे।
अन्यत्र रामाद् द्रोणाद्वा पाण्डवाद्वा करीटिनः ॥२९॥

"परशुराम, द्रोणाचार्य अथवा पाण्डुनन्दन अर्जुन के सिवा दूसरा ऐसा कौन है, जो युद्ध में राधानन्दन कर्ण का सामना कर सके?

तथैव मद्राधिपतिं शल्यं बलवतां वरम्।
बलदेवादृते वीरात् पाण्डवाद्वा वृकोदरात् ॥३०॥
वीराद् दुर्योधनाद् वान्यः शक्तः पातयितुं रणे।
क्रियतामवहारोऽस्माद् युद्धाद् ब्राह्मणसंवृतात् ॥३१॥

"बलवानों में श्रेष्ठ मद्रराज शल्य को भी वीर-वर बलदेव, पाण्डुनन्दन भीमसेन अथवा वीर दुर्योधन को छोड़कर दूसरा कौन रणभूमि में गिरा सकता है ? अतः ब्राह्मणों से घिरे हुए इस युद्ध-क्षेत्र से हम लोगों को हट जाना चाहिए ।"

तत्कर्म भीमस्य समीक्ष्य कृष्णः
कुन्तीसुतौ तौ परिशङ्कमानः ।
निवारयामास महीपतींस्तान्
धर्मेण लब्धेत्यनुनीय सर्वान् ॥३२॥

जनमेजय ! उधर भीमसेन का वह अद्भुत कार्य देख श्रीकृष्ण ने यह सोचते हुए कि ये दोनों भाई कुन्ती-कुमार भीमसेन और अर्जुन ही हैं, उन सब राजाओं को यह समझाकर कि "इन्होंने धर्मपूर्वक द्रौपदी को प्राप्त किया है" अनुनयपूर्वक युद्ध से रोक दिया ।

एवं ते विनिवृत्तास्तु युद्धाद् युद्धविशारदाः ।
यथावासं ययुः सर्वे विस्मिता राजसत्तमाः ॥३३॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के समझाने से वे सभी युद्ध-कुशल श्रेष्ठ भूपाल युद्ध से निवृत्त हो गये और विस्मित होकर अपने-अपने डेरों को चले गये ।

तेषां माता बहुविधं विनाशं पर्यचिन्तयत् ।
अनागच्छत्सु पुत्रेषु भैक्ष्यकालेऽभिगच्छति ॥३४॥
धार्तराष्ट्रैर्हता न स्युर्विज्ञाय कुरुपुङ्गवाः ।
मायान्वितैर्वा रक्षोभिः सुघोरैर्दृढवैरिभिः ॥३५॥

इधर भिक्षा से लौटने का समय बीत जाने पर भी जब पुत्र नहीं लौटे, तब उनकी माता कुन्तीदेवी स्नेहवश अनेक प्रकार की चिन्ताओं में डूबकर उनके विनाश की आशंका करने लगीं—'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने कुरुश्रेष्ठ पाण्डवों को पहचानकर उनकी हत्या कर डाली हो ? अथवा दृढ़तापूर्वक वैरभाव को मन में रखनेवाले महाभयंकर मायावी राक्षसों ने तो मेरे पुत्रों को नहीं मार डाला?"

इत्येवं चिन्तयामास सुतस्नेहावृता पृथा ।
ब्राह्मणैः प्राविशत् ततो जिष्णुर्भार्गववेश्म तत् ॥३६॥

इस प्रकार पुत्र-प्रेम में पगी कुन्तीदेवी जब चिंता-मग्न हो रही थी, उसी समय ब्राह्मणमण्डली से घिरे हुए अर्जुन [और भीम] ने उस कुम्हार के घर में प्रवेश किया ।

वृष्णिप्रवीरस्तु कुरुप्रवीरा-
नाशंसमानः सहरौहिणेयः ।
जगाम तां भार्गवकर्मशालां
यत्रासते ते पुरुषप्रवीराः ॥३७॥

इधर वृष्णिवंशियों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण रोहिणी-नन्दन बलरामजी के साथ कुरुकुल के प्रमुख वीर पाण्डवों को पहिचानकर कुम्हार के घर में, जहाँ वे नरश्रेष्ठ निवास करते थे, मिलने के लिए गये ।

ततोऽब्रवीद् वासुदेवोऽभिगम्य
कुन्तीसुतं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ॥३८॥

वहाँ जाकर वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ने धर्मात्माओं में श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर से "मैं कृष्ण हूँ" ऐसा

---

१. जो लोग द्रौपदी के पांच पति मानते हैं, वे इस स्थल को ध्यानपूर्वक पढ़ें। यहां माता चिन्तित हो रही है कि मेरे पुत्र अभी तक क्यों नहीं लौटे ? उन्हें पहचान तो नहीं लिया गया है ?

इसके अतिरिक्त एकचक्रा नगरी में ब्राह्मण से द्रौपदी के स्वयंवर की बात सुनकर जब पांचों पाण्डव उद्विग्न-से हो गये थे, तब माता ने स्वयं ही वहां जाने का प्रस्ताव रखा था। मार्ग में व्यासजी ने भी पांचाल-नगर में जाने की सम्मति दी थी। स्वयं माता को यह पता है कि मेरे पुत्र स्वयंवर में गये हैं। स्वयंवर की शर्त पूर्ण होते ही युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव माता को सूचना देने के लिए तुरन्त घर पर आ गये हैं। [द्र० **तस्मिंस्तु शब्दे** ३०।३६] भीम और अर्जुन द्रौपदी को लेकर अनेक ब्राह्मणों के साथ घर पर आये हैं। इन सब प्रसङ्गों के ध्यानपूर्वक अवलोकन से यह स्पष्ट है कि न तो पाण्डवों ने यह कहा था कि हम भिक्षा लाये हैं और न कुन्ती ने यह कहा कि पांचों बाँट लो। द्रौपदी को पांचों की पत्नी बनानेवाला सारा प्रकरण महाभारत में पीछे से मिलाया गया है। द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी नहीं थी। यद्यपि स्वयंवर की शर्त अर्जुन ने पूर्ण की थी, परन्तु द्रौपदी का विवाह युधिष्ठिर के साथ हुआ था। वह युधिष्ठिर और केवल युधिष्ठिर की पत्नी थी।

कहकर अजमीढवंशी राजा युधिष्ठिर के दोनों चरणों का स्पर्श किया।

तथैव तस्याप्यनु रौहिणेय-
स्तौ चापि हृष्टाः कुरवोऽभ्यनन्दन्।
पितृष्वसुश्चापि यदुप्रवीरा-
वगृह्णतां भारतमुख्य पादौ ॥३९॥

उन्हीं के साथ उसी प्रकार [अपना नाम बताकर] बलरामजी ने भी उनके चरण छूए। पाण्डव भी उन दोनों को देखकर अति प्रसन्न हुए। जनमेजय! फिर उन यदुवीरों ने अपनी बूआ कुन्ती के चरणों का भी स्पर्श किया।

अजातशत्रुश्च कुरुप्रवीरः
पप्रच्छ कृष्णं कुशलं विलोक्य।
कथं वयं वासुदेव त्वयेह
गूढा वसन्तो विदिताश्च सर्वे ॥४०॥

कुरुकुल के श्रेष्ठ वीर अजातशत्रु युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को देखकर कुशल-समाचार पूछा और कहा—"वसुदेवनन्दन! हम तो यहाँ छिपकर रहते हैं, फिर आपने हम सब लोगों को कैसे पहचान लिया?"

तमब्रवीद् वासुदेवः प्रहस्य
गूढोऽप्यग्निर्ज्ञायत एव राजन्।
तं विक्रमं पाण्डवेयानतीत्य
कोऽन्यः कर्ता विद्यते मानुषेषु ॥४१॥

तब श्रीकृष्ण ने हँसकर उत्तर दिया—"राजन्! आग कितनी ही छिपी क्यों न हो, वह पहचान में आ ही जाती है। भला, पाण्डवों को छोड़कर मनुष्यों में ऐसा कौन है, जो वैसा अद्भुत कर्म कर दिखाता?

दिष्ट्या सर्वे पावकाद् विप्रमुक्ता
यूयं घोरात् पाण्डवाः शत्रुसाहाः।
दिष्ट्या पापो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः
सहामात्यो न सकामोऽभविष्यत् ॥४२॥

बड़े सौभाग्य की बात है कि शत्रुओं का सामना करने की शक्ति रखनेवाले आप सभी पाण्डव उस भयंकर अग्नि-काण्ड से जीवित बच गये। धृतराष्ट्र-पुत्र पापी दुर्योधन अपने मन्त्रियोंसहित इस षड्यन्त्र में सफल न हो सका, यह भी सौभाग्य की बात है।

इति महाभारते आदिपर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न का गुप्तरूप से पाण्डवों का हाल जानना, द्रुपद द्वारा उनके शील की परीक्षा और युधिष्ठिर के साथ द्रौपदी का विवाह

वैशम्पायन उवाच

धृष्टद्युम्नस्तु पाञ्चाल्यः पृष्ठतः कुरुनन्दनौ।
अन्वगच्छत् तदा यान्तौ भार्गवस्य निवेशने ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कुरु-नन्दन भीमसेन और अर्जुन कुम्हार के घर जा रहे थे, उसी समय पाञ्चालकुमार धृष्टद्युम्न गुप्तरूप से उनके पीछे हो लिये।

सोऽज्ञायमानः पुरुषानवधाय समन्ततः।
स्वयमारान्निलीनोऽभूद् भार्गवस्य निवेशने ॥२॥

[वहाँ पहुँचकर] उन्होंने चारों ओर अपने सेवकों को बिठा दिया और स्वयं भी अज्ञातरूप से कुम्हार के घर के पास ही छिपे रहे।

सायं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी
जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ।
भैक्ष्यं चरित्वा तु युधिष्ठिराय
निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥३॥

सायंकाल होने पर शत्रुओं का मानमर्दन करने-वाले भीमसेन, अर्जुन और महानुभाव नकुल-सहदेव ने भिक्षा लाकर युधिष्ठिर को निवेदन की। इन सबका अन्तःकरण उदार था।

ततस्तु कुन्ती द्रुपदात्मजां ता-
मुवाच काले वचनं वदान्या।
त्वमग्रमादाय कुरुष्व भद्रे
बलिं च विप्राय च देहि भिक्षाम् ॥४॥

उस समय उदार-हृदया कुन्ती माँ ने द्रौपदी से कहा—"भद्रे! तुम भोजन का प्रथम भाग लेकर उससे बलिवैश्वदेव यज्ञ करो तथा ब्राह्मणों को भिक्षा दो।

ये चान्नमिच्छन्ति ददस्व तेभ्यः
परिश्रिता ये परितो मनुष्याः।
ततश्च शेषं प्रविभज्य शीघ्र-
मर्धं चतुर्धा मम चात्मनश्च ॥५॥

"तथा अपने आस-पास जो दूसरे मनुष्य आश्रित-भाव से रहते और भोजन चाहते हैं, उन्हें भी अन्न परोसो। फिर जो शेष बचे, उसका शीघ्र ही इस प्रकार विभाग करो—अन्न का आधा भाग एक के लिए रखो, पुनः शेष के छह भाग करके चार भाइयों के लिए चार भाग पृथक्-पृथक् रख दो, तत्पश्चात् मेरे और अपने लिए भी एक-एक भाग अलग-अलग परोस दो।

अर्धं च भीमाय च देहि भद्रे
य एष नागर्षभतुल्यरूपः।
गौरो युवा संहननोपपन्न
एष हि वीरो बहुभुक् सदैव ॥६॥

"कल्याणि! ये जो गजराज के समान शरीर-वाले, हृष्ट-पुष्ट, गोरे युवक बैठे हैं, इनका नाम भीम है, इन्हें अन्न का आधा भाग दे दो, क्योंकि यह वीर सदा से ही बहुत खानेवाले हैं।"

सा हृष्टरूपेव तु राजपुत्री
तस्या वचः साधु विशङ्कमाना।
यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी
ते चापि सर्वे बुभुजुस्तदन्नम् ॥७॥

सास की आज्ञा-पालन में ही अपना कल्याण मानती हुई साध्वी राजकुमारी द्रौपदी ने अति प्रसन्न चित्त से कुन्ती ने जैसा कहा, ठीक वैसा ही किया। उन सबने भी उस अन्न को ग्रहण किया।

ते तत्र शूराः कथयाम्बभूवुः
कथा विचित्राः पृतनाधिकाराः।
अस्त्राणि दिव्यानि रथांश्च नागान्
खड्गान् गदाश्चापि परश्वधांश्च ॥८॥

फिर वे शूरवीर पाण्डव सेनापतियों के योग्य अद्भुत कथाएँ कहने लगे। उन्होंने नाना प्रकार के दिव्यास्त्रों, रथों, हाथियों, तलवारों, गदाओं और फरसों के विषय में भी वार्तालाप किया।

धृष्टद्युम्नो राजपुत्रस्तु सर्वं
वृत्तं तेषां कथितं चैव रात्रौ।
सर्वं राज्ञे द्रुपदायाखिलेन
निवेदयिष्यँस्त्वरितो जगाम ॥९॥

तब राजकुमार धृष्टद्युम्न रात में पाण्डवों का इतिहास तथा उनकी कही हुई सभी बातें राजा द्रुपद को पूर्णरूप से सुनाने के लिए बड़ी उतावली के साथ राजभवन में गये।

पाञ्चालराजस्तु विषण्णरूप-
स्तान् पाण्डवानप्रतिविन्दमानः।
धृष्टद्युम्नं पर्यपृच्छन्महात्मा
क्व सा गता केन नीता च कृष्णा ॥१०॥

पाञ्चालराज द्रुपद पाण्डवों का पता न पाने के कारण अत्यन्त दुःखी थे। धृष्टद्युम्न के लौटने पर महात्मा द्रुपद ने उससे पूछा—"पुत्र! मेरी पुत्री कृष्णा कहाँ गई? उसे कौन ले गया?"

ततस्तथोक्तः परिहृष्टरूपः
पित्रे शशंसाथ स राजपुत्रः।
धृष्टद्युम्नः सोमकानां प्रबर्हो
वृत्तं यथा येन हृता च कृष्णा ॥११॥

राजा द्रुपद के ऐसा कहने पर सोमकशिरोमणि राजकुमार धृष्टद्युम्न अत्यन्त हर्ष में भरकर, वहाँ जो वृत्तान्त हुआ था और जो कृष्णा को ले गया था, वह सब समाचार सुनाने लगे।

धृष्टद्युम्न उवाच

निःसंशयं क्षत्रियपुङ्गवास्ते
यथा हि युद्धं कथयन्ति राजन्।
आशा हि नो व्यक्तमियं समृद्धा
मुक्तान् हि पार्थाञ्छृणुमोऽग्निवाहात् ॥१२॥

धृष्टद्युम्न बोले—जिस प्रकार वे युद्ध का वर्णन करते थे, उससे यह मान लेने में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि वे लोग क्षत्रियशिरोमणि हैं। हमने सुना है कि कुन्तीकुमार लाक्षागृह की अग्नि में जलने से बच गये थे, अतः हमारे मन में जो पाण्डवों से सम्बन्ध करने की अभिलाषा थी, निश्चय ही वह सफल हुई जान पड़ती है।

यथा हि लक्ष्यं निहतं धनुश्च
सज्यं कृतं तेन तथा प्रसह्य।
यथा हि भाषन्ति परस्परं ते
छन्ना ध्रुवं ते प्रचरन्ति पार्थाः ॥१३॥

जिस प्रकार उन्होंने धनुष पर बलपूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ाई, जिस प्रकार दुर्भेद्य लक्ष्य को मार गिराया तथा जिस प्रकार वे सभी भाई परस्पर वार्तालाप करते थे, उससे यह निश्चय हो जाता है कि कुन्ती-पुत्र ही ब्राह्मण-वेश में छिपे हुए विचर रहे हैं।

वैशम्पायन उवाच

ततः स राजा द्रुपदः प्रहृष्टः
पुरोहितं प्रेषयामास तेषाम्।
विद्याम युष्मानिति भाषमाणो
महात्मानः पाण्डुसुतास्तु कच्चित् ॥१४

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस समाचार से राजा द्रुपद को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उसी समय उनके पास अपने पुरोहित को भेजते हुए कहा—"आप उन लोगों से कहना कि मैं आप लोगों का परिचय जानना चाहता हूँ। क्या आप लोग महात्मा पाण्डु के पुत्र हैं?"

गृहीतवाक्यो नृपतेः पुरोधा
गत्वा प्रशंसामभिधाय तेषाम्।
वाक्यं समग्रं नृपतेर्यथावत्
उवाच चानुक्रमविक्रमेण ॥१५॥

राजा का अनुरोध मानकर पुरोहितजी गये तथा उन सबकी प्रशंसा करके राजा द्रुपद के वचनों को ठीक-ठीक एक के बाद एक करके क्रमशः कहने लगे—

विज्ञातुमिच्छत्यवनीश्वरो वः
पाञ्चालराजो वरदो वरार्हाः।
लक्ष्यस्य वेद्धारमिमं हि दृष्ट्वा
हर्षस्य नान्तं प्रतिपद्यते सः ॥१६॥

"वरदान पाने के योग्य वीरपुरुषो! वर देने में समर्थ पाञ्चालदेश के राजा द्रुपद आप लोगों का परिचय जानना चाहते हैं। इस वीर पुरुष को लक्ष्य-वेध करते देखकर उनके [द्रुपद] हर्ष की सीमा नहीं रह गई है।

आख्यात च जातिकुलानुपूर्वीं
पदं शिरस्सु द्विषतां कुरुध्वम्।
प्रह्लादयध्वं हृदयं ममेदं
पाञ्चालराजस्य च सानुगस्य ॥१७॥

"आप लोग अपने वर्ण और कुल आदि का यथार्थरूप से वर्णन करें, शत्रुओं के मस्तक पर पैर रखें तथा मेरे और अनुचरोंसहित पाञ्चालराज के हृदय को आनन्द प्रदान करें।

पाण्डुर्हि राजा द्रुपदस्य राज्ञः
प्रियः सखा चात्मसमो बभूव।
तस्यैष कामो दुहिता ममेयं
स्नुषां प्रदास्यामि हि कौरवाय ॥१८॥

"महाराज पाण्डु राजा द्रुपद के आत्मानुरूप प्रिय मित्र थे, अतः उनकी यह अभिलाषा थी कि मैं अपनी इस पुत्री का विवाह पाण्डुकुमार से करूँ। इसे राजा पाण्डु को पुत्रवधू के रूप में समर्पित करूँ।

कृतं हि तत् स्यात् सुकृतं ममेदं
यशश्च पुण्यं च हितं तदेतत् ॥१९॥

"उनका कहना है कि यदि मेरा यह मनोरथ पूरा हो जाए, तो मैं समझूँगा कि यह मेरे शुभकर्मों का फल प्राप्त हुआ है। यही मेरे लिए यश, पुण्य और हित की बात होगी।"

युधिष्ठिर उवाच

पाञ्चालराजेन सुता निसृष्टा
स्वधर्मदृष्टेन यथा न कामात्।
प्रदिष्टशुल्का द्रुपदेन राज्ञा
सा तेन वीरेण तथानुवृत्ता ॥२०॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन्! पाञ्चालराज द्रुपद ने यह कन्या अपनी इच्छा से नहीं दी है, उन्होंने अपने धर्म के अनुसार लक्ष्य-वेध की शर्त रखकर अपनी पुत्री देने का निश्चय किया था। उस वीर पुरुष ने उसी शर्त को पूर्ण करके यह कन्या प्राप्त की है।

न तत्र वर्णेषु कृता विवक्षा
न चापि शीले न कुले न गोत्रे।
कृतेन सज्येन हि कार्मुकेण
विद्धेन लक्ष्येण हि सा विसृष्टा ॥२१॥

राजा ने वहाँ वर्ण, शील, कुल तथा गोत्र के विषय में कोई अभिप्राय व्यक्त नहीं किया था। धनुष पर डोरी चढ़ाकर लक्ष्यवेध कर देने पर ही कन्या-दान की घोषणा की थी।

कामश्च योऽसौ द्रुपदस्य राज्ञः
स चापि सम्पत्स्यति पार्थिवस्य।
सम्प्राप्यरूपां हि नरेन्द्रकन्या-
मिमामहं ब्राह्मण साधु मन्ये ॥२२॥

ब्राह्मण! राजा द्रुपद की जो पहले की अभिलाषा है, वह भी पूर्ण होगी। इस राजकन्या को मैं सर्वथा ग्रहण करने योग्य एवं उत्तम मानता हूँ।

न तद्धनुर्मन्दबलेन शक्यं
मौर्व्या समायोजयितुं तथा हि।
न चाकृतास्त्रेण न हीनजेन
लक्ष्यं तथा पातयितुं हि शक्यम् ॥२३॥

कोई बलहीन मनुष्य उस विशाल धनुष पर प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ा सकता था। जिसने अस्त्रविद्या की पूर्ण शिक्षा न पाई हो, ऐसे पुरुष के अथवा किसी नीच कुल के मनुष्य के लिए भी उस लक्ष्य का वेधना असम्भव था।

तस्मान्न तापं दुहितुर्निमित्तं
पाञ्चालराजोऽर्हति कर्तुमद्य।
न चापि तत्पातनमन्यथेह
कर्तुं हि शक्यं भुवि मानवेन ॥२४॥

अतः पाञ्चालराज को अब अपनी पुत्री के लिए पश्चात्ताप करना उचित नहीं है। इस भूमण्डल पर उस वीर के अतिरिक्त ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो उस लक्ष्य को वेध सके।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवत्येव युधिष्ठिरे तु
पाञ्चालराजस्य समीपतोऽन्यः।
तत्राजगामाशु नरो द्वितीयो
निवेदयिष्यन्निह सिद्धमन्नम् ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर ऐसा कह ही रहे थे कि पाञ्चालराज द्रुपद के पास से एक दूसरा मनुष्य यह समाचार देने के लिए शीघ्रता-पूर्वक आया कि "राजभवन में आप लोगों के लिए भोजन तैयार है।"

दूत उवाच

इमे रथाः काञ्चनपद्मचित्राः
सदश्वयुक्ता वसुधाधिपार्हाः।
एतान् समारुह्य समेत सर्वे
पाञ्चालराजस्य निवेशनं तत् ॥२६॥

दूत बोला—ये सुवर्णमय कमलों से सुशोभित तथा राजाओं की सवारी के योग्य विचित्र रथ खड़े हैं। इनमें उत्तम घोड़े जुते हैं। इनपर सवार हो आप सब लोग महाराज द्रुपद के महल में पधारें।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयाताः कुरुपुङ्गवास्ते
पुरोहितं तं परियाप्य सर्वे।
आस्थाय यानानि महान्ति तानि
कुन्ती च कृष्णा च सहैकयाने ॥२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब वे सभी कुरुश्रेष्ठ पाण्डव पुरोहितजी को विदा करके उन विशाल रथों पर आरूढ़ हो [राजमहलों की ओर] चले। उस समय कुन्ती और कृष्णा एक साथ एक ही रथ पर बैठी हुई थीं।

श्रुत्वा तु वाक्यानि पुरोहितस्य
यान्युक्तवान् भारत धर्मराजः।
जिज्ञासयैवाथ कुरूत्तमानां
द्रव्याण्यनेकान्युपसंजहार ॥२८॥

भरतकुलभूषण! उस समय धर्मराज युधिष्ठिर ने जो बातें कही थीं, उन्हें पुरोहित के मुख से सुनकर उन कुरुश्रेष्ठ वीरों के शील-स्वभाव की परीक्षा के लिए राजा द्रुपद ने अनेक प्रकार की वस्तुओं का संग्रह किया।

तान् सिंहविक्रान्तगतीन् निरीक्ष्य
राजा च राज्ञः सचिवाश्च पुत्राः।
प्रेष्याश्च सर्वे सुहृदस्तथैव
हर्षं समापेतुरतीव तत्र ॥२९॥

सिंह के समान पराक्रम-सूचक चाल-ढालवाले पाण्डवों को [राजभवन में पधारे हुए] देखकर राजा द्रुपद, उनके सभी मन्त्री, पुत्र, इष्ट-मित्र और सभी नौकर-चाकर—सब-के-सब अति प्रसन्न हुए।

ते तत्र वीराः परमासनेषु
सपादपीठेष्वविशङ्कमानाः ।
यथानुपूर्वं विविशुर्नराग्र्याः
तथा महार्हेषु न विस्मयन्तः ॥३०॥

वे नरश्रेष्ठ वीर पाण्डव वहाँ लगे हुए पादपीठ-सहित बहुमूल्य श्रेष्ठ सिंहासनों पर बिना किसी हिचक या संकोच के मन में तनिक भी विस्मय न करते हुए बड़े-छोटे के क्रम से जा बैठे।

उच्चावचं पार्थिवभोजनीयं
पात्रीषु जाम्बूनदराजतीषु ।
दासाश्च दास्यश्च सुमृष्टवेशाः
सम्भोजकाश्चाप्युपजहरुरन्नम् ॥३१॥

तब स्वच्छ और सुन्दर वेश-भूषा धारण किये हुए दास-दासी और रसोइयों ने सोने-चाँदी के बर्तनों में राजाओं के भोजन करने योग्य अनेक प्रकार की सामान्य और विशेष भोजन-सामग्री लाकर परोसी।

ते तत्र भुक्त्वा पुरुषप्रवीरा
यथाऽऽत्मकामं सुभृशं प्रतीताः ।
उत्क्रम्य सर्वाणि वसूनि राजन्
सांग्रामिकं ते विविशुर्नृवीराः ॥३२॥

मनुष्यों में श्रेष्ठ पाण्डव वहाँ अपनी रुचि के अनुसार उन सब वस्तुओं को खाकर अत्यधिक प्रसन्न हुए। राजन्! [तत्पश्चात् वहाँ संगृहीत अन्य] सब भोग-विलास की सामग्रियों को छोड़कर वे वीर पहले उसी स्थान पर गये, जहाँ युद्ध की सामग्रियाँ रखी गई थीं।

तल्लक्षयित्वा द्रुपदस्य पुत्रो
राजा च सर्वैः सहमन्त्रिमुख्यैः ।
समर्थयामासुरुपेत्य हृष्टाः
कुन्तीसुतान् पार्थिव राजपुत्रान् ॥३३॥

जनमेजय! यह सब देखकर राजा द्रुपद, राजकुमार और सभी प्रधान मन्त्री अति प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने मन में यही निश्चय किया कि ये राजकुमार कुन्तीदेवी के ही पुत्र हैं।

तत आहूय पाञ्चाल्यो राजपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
पर्यपृच्छददीनात्मा कुन्तीपुत्रं सुवर्चसम् ॥३४॥
कथं जानीम भवतः क्षत्रियान् ब्राह्मणानुत ।
वैश्यान् वा गुणसम्पन्नानथवा शूद्रयोनिजान् ॥३५॥

तत्पश्चात् महामना पाञ्चालराज द्रुपद ने अत्यन्त कान्तिमान् कुन्तीपुत्र राजकुमार युधिष्ठिर को [अपने पास] बुलाकर पूछा—"हमें किस प्रकार ज्ञात हो कि आप लोग किस वर्ण के हैं? हम आपको क्षत्रिय, ब्राह्मण, गुणसम्पन्न वैश्य अथवा शूद्र क्या समझें?

इच्छया ब्रूहि त्वं सत्यं सत्यं राजसु शोभते ।
इष्टापूर्तेन च तथा वक्तव्यमनृतं न तु ॥३६॥

"आप स्वेच्छा से ही सच्ची बात बताएँ। राजाओं में इष्ट और पूर्त[1] की अपेक्षा सत्य की ही अधिक महिमा है, अतः असत्य नहीं बोलना चाहिए।"

युधिष्ठिर उवाच

मा राजन् विमना भूस्त्वं पाञ्चाल्य प्रीतिरस्तु ते ।
ईप्सितस्ते ध्रुवः कामः संवृत्तोऽयमसंशयम् ॥३७॥

युधिष्ठिर ने कहा—पाञ्चालराज! आप उदास न हों, आपको प्रसन्न होना चाहिए। आपके मन में जो अभीष्ट कामना थी, वह निश्चय ही पूर्ण हुई है, इसमें संशय नहीं है।

वयं हि क्षत्रिया राजन् पाण्डोः पुत्रा महात्मनः ।
ज्येष्ठं मां विद्धि कौन्तेयं भीमसेनार्जुनाविमौ ॥३८॥

राजन्! हम लोग क्षत्रिय ही हैं और महात्मा पाण्डु के पुत्र हैं। मुझे कुन्ती का ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर समझिए तथा ये दोनों भीम एवं अर्जुन हैं।

आभ्यां तव सुता राजन् निर्जिता राजसंसदि ।
यमौ च तत्र कुन्ती च यत्र कृष्णा व्यवस्थिता ॥३९॥

१. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥
—अत्रिस्मृति, १।४४

अग्निहोत्र, तप-अनुष्ठान, सत्य-भाषण, वेदों की आज्ञा का पालन, अतिथियों का सत्कार और बलिवैश्वदेव—इनका नाम 'इष्ट' है।

वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥—वही, १।४५

बावड़ी, कुआँ, तालाब इत्यादि जलाशयों का निर्माण, यज्ञशालाओं की प्रतिष्ठा, अन्नदान और बगीचों का लगाना—इसका नाम 'पूर्त' है।

राजन्! इन्हीं दोनों ने समस्त राजाओं के समूह में आपकी पुत्री को जीता है। उधर वे दोनों नकुल तथा सहदेव हैं। माता कुन्ती वहीं गई हैं, जहाँ राजकुमारी कृष्णा हैं।

व्येतु ते मानसं दुःखं क्षत्रियाः स्मो नरर्षभ।
पद्मिनीव सुतेयं ते ह्रदादन्यह्रदं गता ॥४०॥

नरश्रेष्ठ! अब आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिए। हम सब क्षत्रिय हैं। आपकी यह पुत्री कृष्णा कमलिनी की भाँति एक सरोवर से दूसरे सरोवर को प्राप्त हुई है।

वैशम्पायन उवाच

ततः स द्रुपदो राजा हर्षव्याकुललोचनः।
प्रतिवक्तुं मुदा युक्तो नाशकत् तं युधिष्ठिरम् ॥४१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! राजा युधिष्ठिर की ये बातें सुनकर महाराज द्रुपद की आँखों में हर्ष के आँसू छलक आये। वे आनन्द में मग्न हो गये और [गला भर आने के कारण] युधिष्ठिर को तुरन्त [कुछ] उत्तर न दे सके।

यत्नेन तु स तं हर्षं संनिगृह्य परन्तपः।
अनुरूपं तदा वाचा प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥४२॥

शत्रुसंतापक द्रुपद ने बड़े यत्न से अपने हर्ष के आवेग को रोका; फिर युधिष्ठिर को उनके कथन के अनुरूप ही उत्तर दिया।

पप्रच्छ चैनं धर्मात्मा यथा ते प्रद्रुताः पुरात्।
स तस्मै सर्वमाचख्यावानुपूर्व्येण पाण्डवः ॥४३॥

फिर उन धर्मात्मा पाञ्चाल-नरेश ने यह पूछा कि "आप लोग वारणावत नगर से किस प्रकार भाग निकले?" तब पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने वह सारा वृत्तान्त उन्हें क्रमपूर्वक कह सुनाया।

तत् श्रुत्वा द्रुपदो राजा कुन्तीपुत्रस्य भाषितम्।
विगर्हयामास तदा धृतराष्ट्रं नरेश्वरम् ॥४४॥
आश्वासयामास च तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
प्रतिजज्ञे च राज्याय द्रुपदो वदतां वरः ॥४५॥

कुन्तीकुमार के मुख से वह सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनकर वक्ताओं में श्रेष्ठ महाराज द्रुपद ने उस समय राजा धृतराष्ट्र की बड़ी निन्दा की और कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर को आश्वासन दिया। साथ ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा भी की "हम तुम्हें तुम्हारा राज्य वापस दिलाएँगे।"

ततः कुन्ती च कृष्णा च भीमसेनार्जुनावपि।
यमौ च राज्ञा संदिष्टं विविशुर्भवनं महत् ॥४६॥
तत्र ते न्यवसन् राजन् यज्ञसेनेन पूजिताः।
प्रत्याश्वस्तस्ततो राजा सह पुत्रैरुवाच तम् ॥४७॥

राजन्! तत्पश्चात् कुन्ती, कृष्णा, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव राजा द्रुपद के द्वारा निर्दिष्ट किये हुए विशाल भवन में गये तथा यज्ञसेन [द्रुपद] से सम्मानित हो वहीं रहने लगे। विश्वास जम जाने पर महाराज द्रुपद ने अपने पुत्रों के साथ जाकर युधिष्ठिर से कहा—

गृह्णातु विधिवत् पाणिमद्यायं कुरुनन्दनः।
पुण्येऽहनि महाबाहुरर्जुनः कुरुतां क्षणम् ॥४८॥

"कुरुकुल को आनन्दित करनेवाले ये महाबाहु अर्जुन आज के पुण्यमय दिवस में मेरी पुत्री का विधिपूर्वक पाणिग्रहण करें तथा [अपने कुलोचित] मङ्गलाचार का पालन करना आरम्भ कर दें।"

तमब्रवीत् ततो राजा धर्मात्मा च युधिष्ठिरः।
ममापि दारसम्बन्धः कार्यस्तावद् विशाम्पते ॥४९॥

तब धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ने उनसे कहा—"राजन्! विवाह तो मेरा भी करना होगा।"

द्रुपद उवाच

भवान् वा विधिवत् पाणिं गृह्णातु दुहितुर्मम।
यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश ॥५०॥

द्रुपद बोले—हे वीर! तब आप ही विधिपूर्वक मेरी पुत्री का पाणिग्रहण करें अथवा आप अपने भाइयों में से जिसके साथ चाहें, उसी के साथ कृष्णा को विवाह की आज्ञा दे दें।

वैशम्पायन उवाच

ततः समाधाय स वेदपारगो
जुहाव मन्त्रैर्ज्वलितं हुताशनम्।
युधिष्ठिरं चाप्युपनीय मन्त्रविद्-
नियोजयामास सहैव कृष्णया ॥५१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रुपद के ऐसा कहने पर वेद के पारंगत विद्वान् मन्त्रज्ञ पुरोहित धौम्य ने वेदी पर प्रज्वलित अग्नि की स्थापना करके उसमें मन्त्रों

द्वारा आहुति दी और युधिष्ठिर को बुलाकर कृष्णा के साथ उनका गँठबन्धन कर दिया।

प्रदक्षिणं तौ प्रगृहीतपाणिकौ
समानयामास स वेदपारगः।
ततोऽभ्यनुज्ञाय तमाजिशोभिनं
पुरोहितो राजगृहाद् विनिर्ययौ ॥५२॥

वेदों के पारङ्गत विद्वान् पुरोहित ने उन दोनों दम्पती का पाणिग्रहण कराकर उनसे अग्नि की प्रदक्षिणा करवाई, फिर [अन्य शास्त्रोक्त विधियों का अनुष्ठान कराके] उनका विवाह-कार्य सम्पन्न कर दिया। तत्पश्चात् संग्राम में शोभा पानेवाले युधिष्ठिर को छुट्टी देकर पुरोहितजी भी उस राज-भवन से बाहर चले गये।

कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमङ्गला।
कृताभिवादना श्वश्र्वास्तस्थौ प्रह्वा कृताञ्जलिः ॥५३

माङ्गलिक कार्य सम्पन्न हो जाने के पश्चात् रेशमी साड़ी पहने हुए कृष्णा सास के चरणों में प्रणाम करके उनके सामने हाथ जोड़ विनीत भाव से खड़ी हो गई।

रूपलक्षणसम्पन्नां शीलाचारसमन्विताम्।
द्रौपदीमवदत् प्रेम्णा पृथाऽऽशीर्वचनं स्नुषाम् ॥५४॥

सुन्दर रूप तथा उत्तम लक्षणों से सम्पन्न, शील और सदाचार से सुशोभित अपनी बहू द्रौपदी को समक्ष देख कुन्तीदेवी उसे प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देती हुई बोलीं—

यथेन्द्राणी हरिहये स्वाहा चैव विभावसौ।
रोहिणी च यथा सोमे दमयन्ती यथा नले ॥५५॥
यथा वैश्रवणे भद्रा वसिष्ठे चाप्यरुन्धती।
यथा नारायणे लक्ष्मीस्तथा त्वं भव भर्तरि ॥५६॥

"पुत्री! जैसे इन्द्राणी इन्द्र में, स्वाहा अग्नि में रोहिणी चन्द्रमा में, दमयन्ती नल में, भद्रा कुबेर में, अरुन्धती वसिष्ठ में तथा लक्ष्मी नारायण में भक्ति-भाव एवं प्रेम रखती थीं, उसी प्रकार तुम भी अपने पति में अनुरक्त रहो।

जीवसूर्वीरसूर्भद्रे बहुसौख्यसमन्विता।
सुभगा भोगसम्पन्ना यज्ञपत्नी पतिव्रता ॥५७॥

"भद्रे! तुम अनन्त सौख्य से सम्पन्न होकर दीर्घजीवी तथा वीरपुत्रों की जननी बनो। तुम सौभाग्यशालिनी, भोग्य सामग्री से सम्पन्न, पति के साथ यज्ञ में बैठनेवाली तथा पतिव्रता होओ।

अतिथीनागतान्साधून्वृद्धान् बालाँस्तथा गुरून्।
पूजयन्त्या यथान्यायं शश्वद् गच्छन्तु ते समाः ॥५८॥

"अपने घर पर आये हुए अतिथियों, साधु पुरुषों, बड़े-बूढ़ों, बालकों तथा गुरुजनों का यथायोग्य सत्कार करने में ही तुम्हारे जीवन के सम्पूर्ण वर्ष व्यतीत हों।

यथा त्वामभिनन्दामि वध्वद्य क्षौमसंवृताम्।
तथा भूयोऽभिनन्दिष्ये जातपुत्रां गुणान्विताम् ॥५९॥

"बहू! आज तुम्हें वैवाहिक रेशमी वस्त्रों से सुशोभित देखकर जैसे मैं तुम्हारा अभिनन्दन कर रही हूँ, उसी प्रकार जब तुम पुत्रवती बनोगी, उस समय भी मैं सद्गुणों से सम्पन्न तुम्हारा इसी प्रकार अभिनन्दन करूँगी।

कृते विवाहे द्रुपदो धनं ददौ
महारथेभ्यो बहुरूपमुत्तमम्।
शतं रथानां वरहेममालिनां
चतुर्युजां हेमखलीनमालिनाम् ॥६०॥

विवाह-कार्य सम्पन्न हो जाने पर द्रुपद ने महारथी पाण्डवों को दहेज में बहुत-सा धन और नाना प्रकार की उत्तम वस्तुएँ समर्पित कीं। सुन्दर सुवर्ण की मालाओं और सुवर्ण-जटित जूओं से सुशोभित सौ रथ प्रदान किये, जिनमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे।

कृते विवाहे च ततस्तु पाण्डवाः
प्रभूतरत्नामुपलभ्य तां श्रियम्।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमा महाबलाः
पुरे तु पाञ्चालनृपस्य तस्य ह ॥६१॥

विवाह हो जाने पर इन्द्र के समान महाबली पाण्डव प्रचुर रत्नराशि के साथ लक्ष्मीरूपा द्रौपदी को पाकर पाञ्चालराज द्रुपद के ही नगर में सुखपूर्वक विहार करने लगे।

इति महाभारते आदिपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र का पाण्डवों के प्रति प्रेम का दिखावा, दुर्योधन की कुमन्त्रणा, पाण्डवों को पराक्रम से दबाने के लिए कर्ण की सम्मति, भीष्म और द्रोणाचार्य द्वारा पाण्डवों को आधा राज्य देने की सम्मति और विदुर द्वारा उनके वचनों का समर्थन

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्त्वथ तां श्रुत्वा द्रौपदीं पाण्डवैर्वृताम् ।
व्रीडितान् धार्तराष्ट्रांश्च भग्नदर्पानुपागतान् ॥१॥
ततः प्रीतमनाः क्षत्ता धृतराष्ट्रं विशाम्पते ।
उवाच दिष्टया कुरवो वर्धन्त इति विस्मितः ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—विदुरजी ने जब यह सुना कि पाण्डवों ने द्रौपदी को प्राप्त कर लिया है तथा धृतराष्ट्र के पुत्र अपना अभिमानचूर्ण हो जाने से लज्जित होकर वापस आये हैं, तब वे मन-ही-मन अति प्रसन्न हुए। जनमेजय ! उस समय वे धृतराष्ट्र के पास जाकर विस्मयसूचक वाणी में बोले—"महाराज ! हमारा अहोभाग्य है जो कौरववंश की वृद्धि हो रही है ।"

वैचित्रवीर्यस्तु वचो निशम्य विदुरस्य तत् ।
अब्रवीत् परमप्रीतो दिष्टया दिष्टयेति भारत ॥३॥

हे भारत ! विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्र विदुर की यह बात सुनकर अत्यन्त हर्ष में भरकर सहसा बोल उठे—"अहोभाग्य, अहोभाग्य !"

मन्यते स वृतं पुत्रं ज्येष्ठं द्रुपदकन्यया ।
दुर्योधनमविज्ञानात् प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ॥४॥

उस अन्धे नरेश ने अज्ञानवश यह समझ लिया कि 'द्रुपद-कन्या ने मेरे ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन का वरण किया है ।'

अथ त्वाज्ञापयामास द्रौपद्या भूषणं बहु ।
आनीयतां वै कृष्णेति पुत्रं दुर्योधनं तदा ॥५॥

अतः उन्होंने आज्ञा दी—"द्रौपदी के लिए बहुत-से आभूषण मँगाओ तथा मेरे पुत्र दुर्योधन और द्रौपदी को अति सम्मानपूर्वक नगर में ले आओ ।"

अथास्य पश्चाद्विदुर आचख्यौ पाण्डवान्वृतान् ।
सर्वान् कुशलिनो वीरान् पूजितान् द्रुपदेन ह ॥६॥

तब पीछे से विदुर ने उन्हें बताया कि—"द्रौपदी ने पाण्डवों का वरण किया है। वे सभी वीर राजा द्रुपद के द्वारा सम्मानित होकर अब वहाँ कुशलपूर्वक रह रहे हैं ।"

एतत् श्रुत्वा तु वचनं विदुरस्य नराधिपः ।
आकारच्छादनार्थं स इदं वचनमब्रवीत् ॥७॥

विदुरजी का यह कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्र ने अपनी बदली हुई आकृति को छिपाने के लिए यह वचन बोला—

यथैव पाण्डोः पुत्रास्तु तथैवाभ्यधिका मम ।
यथा चाभ्यधिका बुद्धिर्मम तान् प्रति तत् श्रुणु ॥८॥

"विदुर ! युधिष्ठिर आदि जैसे पाण्डु के पुत्र हैं, वैसे ही अथवा उससे अधिक मेरे हैं। उनके प्रति मेरे मन में अधिक अपनेपन का भाव क्यों है ? यह बताता हूँ, सुनो !

यत्ते कुशलिनो वीरा मित्रवन्तश्च पाण्डवाः ।
तेषां सम्बन्धिनश्चान्ये बहवश्च महाबलाः ॥९॥

"वे वीर पाण्डव कुशलपूर्वक जीवित बच गये हैं तथा उन्हें मित्रों का सहयोग भी प्राप्त हो गया है। इतना ही नहीं, और भी बहुत सारे महाबली नरेश उनके सम्बन्धी होते जा रहे हैं।

को हि द्रुपदमासाद्य मित्रं क्षत्तः सबान्धवम् ।
न बुभूषेद् भवेनार्थी गतश्रीरपि पार्थिवः ॥१०॥

"विदुर ! कौन ऐसा राजा है, जो सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर भी बन्धु-बान्धवोंसहित द्रुपद को मित्र के रूप में पाकर जीना नहीं चाहेगा ?"

तं तथा भाषमाणं तु विदुरः प्रत्यभाषत ।
नित्यं भवतु ते बुद्धिरेषा राजञ्छतं समाः ॥११॥

जनमेजय ! ऐसी बातें कहनेवाले राजा धृतराष्ट्र से विदुर इस प्रकार बोले—"महाराज ! सौ वर्षों तक आपकी बुद्धि ऐसी ही बनी रहे ।"

ततो दुर्योधनश्चापि राधेयश्च विशाम्पते ।
धृतराष्ट्रमुपागम्य वचोऽब्रूतामिदं तदा ॥१२॥

राजन् ! विदुर के चले जाने पर दुर्योधन और कर्ण ने धृतराष्ट्र के पास आकर यह बात कही—

सन्निधौ विदुरस्य त्वां दोषं वक्तुं न शक्नुवः ।
विविक्तमिति वक्ष्यावः किं तवेदं चिकीर्षितम् ॥१३॥
सपत्नवृद्धिं यत् तात मन्यसे वृद्धिमात्मनः ।
अभिष्टौषि च यत् क्षत्तुः समीपे द्विषतो वरम् ॥१४॥

"महाराज ! विदुर के समक्ष हम आपसे आपका कोई दोष नहीं बता सकते । इस समय एकान्त है, इसलिए कहते हैं । आप यह क्या करना चाहते हैं ? पूज्य पिताजी ! आप तो शत्रुओं की उन्नति को ही अपनी उन्नति मानने लगे हैं तथा विदुरजी के सामने हमारे शत्रुओं की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं ।

अन्यस्मिन् नृप कर्तव्ये त्वमन्यत् कुरुषेऽनघ ।
तेषां बलविघातो हि कर्तव्यस्तात नित्यशः ॥१५॥

"निष्पाप नरेश ! हमें करना तो कुछ और चाहिए परन्तु आप करते कुछ और ही हैं । हे तात ! हमारे लिए तो यही उचित है कि हम सदा पाण्डवों की शक्ति का विनाश करते रहें ।

ते वयं प्राप्तकालस्य चिकीर्षां मन्त्रयामहे ।
यथा नो न ग्रसेयुस्ते सपुत्रबलबान्धवान् ॥१६॥

इस समय जैसा अवसर उपस्थित है, इसमें हमें क्या करना चाहिए—यही सोच-विचारकर निश्चय करना है, जिससे वे पाण्डुपुत्र बान्धव तथा सेनासहित हमारा सर्वनाश न कर बैठें ।"

धृतराष्ट्र उवाच

अहमप्येवमेवैतच्चिकीर्षामि यथा युवाम् ।
विवेक्तुं नाहमिच्छामि त्वाकारं विदुरं प्रति ॥१७॥

धृतराष्ट्र बोले—पुत्र ! मैं भी तो वही करना चाहता हूँ, जो तुम चाहते हो, परन्तु मैं अपनी आकृति से भी विदुर पर अपने मन का भाव प्रकट नहीं होने देना चाहता ।

अतस्तेषां गुणानेव कीर्तयामि विशेषतः ।
नावबुध्येत विदुरो ममाभिप्रायमिङ्गितैः ॥१८॥

अतः विदुर के समक्ष मैं विशेषतः पाण्डवों के गुणों का ही वर्णन करता हूँ, जिससे वह संकेत से भी मेरे मनोभाव को न ताड़ सके ।

यच्च त्वं मन्यसे प्राप्तं तच्च ब्रूहि सुयोधन ।
राधेय मन्यसे यच्च प्राप्तकालं वदाशु मे ॥१९॥

सुयोधन और कर्ण ! तुम दोनों समय के अनुसार जो कार्य करनाआवश्यकसमझते हो, वह शीघ्र मुझे बताओ ।

दुर्योधन उवाच

अद्य तान् कुशलैर्विप्रैः सुगुप्तैराप्तकारिभिः ।
कुन्तीपुत्रान् भेदयामो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥२०॥

दुर्योधन ने कहा—हे पिताजी ! आज अत्यन्त गुप्तरूप से कुछ ऐसे चतुर ब्राह्मणों को नियत करना चाहिए, जिनके कार्यों पर हमारा पूर्ण विश्वास हो । हमें उनके द्वारा पाण्डवों में से कुन्ती और माद्री के पुत्रों में फूट डालने की चेष्टा करनी चाहिए ।

भीमसेनस्य वा राजन्नुपायकुशलैर्नरैः ।
मृत्युर्विधीयतां छन्नैः स हि तेषां बलाधिकः ॥२१॥

अथवा राजन् ! उपाय-कुशल मनुष्य छिपे रहकर भीमसेन का ही वध कर डालें, क्योंकि वही पाण्डवों में सबसे अधिक बलवान् है ।

तमाश्रित्य हि कौन्तेयः पुरा चास्मान्न मन्यते ।
स हि तीक्ष्णश्च शूरश्च तेषां चैव परायणः ॥२२॥

उसी का आश्रय लेकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर पहले से ही हमें कुछ नहीं समझते । वह बहुत तीखे स्वभाव का और शूरवीर है । वही पाण्डवों का सबसे बड़ा सहारा है

अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये पृष्ठगोपे वृकोदरे ।
तमृते फाल्गुनो युद्धे राधेयस्य न पादभाक् ॥२३॥

भीमसेन को पृष्ठरक्षक पाकर ही अर्जुन युद्ध में अजेय बने हुए हैं । यदि भीम न हों तो वे रणभूमि में कर्ण की एक-चौथाई के बराबर भी न हो सकेंगे ।

इहागतेषु वा तेषु निदेशवशवर्तिषु ।
प्रवर्तिष्यावहे राजन् यथाशास्त्रं निबर्हणम् ॥२४॥

राजन् ! अथवा यदि वे यहाँ आकर हमारी आज्ञा के अधीन होकर रहेंगे, तब हम नीतिशास्त्र के अनुसार उनके विनाश के कार्य में लग जाएँगे ।

अथवा दर्शनीयाभिः प्रमदाभिर्विलोभ्यताम् ।
एकैकस्तत्र कौन्तेयस्ततः कृष्णा विरज्यताम् ॥२५॥

अथवा देखने में सुन्दर युवती स्त्रियों द्वारा एक-

एक पाण्डव को लुभाया जाए और इस प्रकार कृष्णा का मन उनकी ओर से फेर दिया जाए।

प्रेष्यतां चैव राधेयस्तेषामागमनाय वै।
तैस्तैः प्रकारैः संनीय पात्यन्तामाप्तकारिभिः ॥२६॥

अथवा पाण्डवों को यहाँ बुला लाने के लिए राधानन्दन कर्ण को भेजा जाए और यहाँ लाकर विश्वसनीय कार्यकर्ताओं द्वारा विभिन्न उपायों से उन सबको मार गिराया जाए।

एषा मम मतिस्तात निग्रहाय प्रवर्तते।
साध्वी वा यदि वासाध्वी किं वा राधेय मन्यसे ॥२७॥

पिताजी! शत्रुओं को वश में करने के लिए ये ही उपाय मेरी बुद्धि में आते हैं। मेरा यह विचार भला है या बुरा, यह आप जानें। अथवा कर्ण! तुम्हारी क्या सम्मति है?

कर्ण उवाच

दुर्योधन तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः।
न ह्युपायेन ते शक्या पाण्डवाः कुरुवर्धन ॥२८॥

कर्ण बोला—दुर्योधन! मेरे विचार से तुम्हारी यह सलाह ठीक नहीं है। कुरुवर्धन! ऐसे किसी भी उपाय से पाण्डवों को वश में नहीं किया जा सकता।

यावन्न कृतमूलास्ते पाण्डवेया विशाम्पते।
तावत् प्रहरणीयास्ते तत् तुभ्यं तात रोचताम् ॥२९॥
अस्मत्पक्षो महान्यावद्यावत्पाञ्चालको लघुः।
तावत् प्रहरणं तेषां क्रियतां मा विचारय ॥३०॥

हे राजन्! [मेरे विचार में] वे नरश्रेष्ठ पाण्डव जबतक अपनी जड़ें नहीं जमा लेते तभी तक उनपर प्रहार करना चाहिए। इसी से वे वश में आ सकते हैं। तात! मैं समझता हूँ, तुम्हें भी यह सम्मति रुचेगी। जबतक हमारा पक्ष बढ़ा-चढ़ा है और जबतक पाञ्चालराज द्रुपद का बल हमसे कम है, तभी तक उनपर आक्रमण कर दिया जाए। इसमें दूसरा कुछ विचार न करो।

वाहनानि प्रभूतानि मित्राणि च कुलानि च।
यावन्न तेषां गान्धारे तावद् विक्रम पार्थिव ॥३१॥

राजन्! गान्धारीनन्दन! जबतक पाण्डवों के पास बहुत-से वाहन, मित्र और कुटुम्बी नहीं हो जाते, तभी तक तुम उनपर आक्रमण कर लो।

यावच्च राजा पाञ्चाल्यो नोद्यमे कुरुते मनः।
सह पुत्रैर्महावीर्यैस्तावद् विक्रम पार्थिव ॥३२॥

पृथिवीपते! जबतक पाञ्चालनरेश अपने महापराक्रमी पुत्रों के साथ हमारे ऊपर चढ़ाई करने का विचार नहीं कर रहे हैं, तभी तक तुम अपना पराक्रम प्रकट कर लो।

विक्रमेण मही प्राप्ता भरतेन महात्मना।
विक्रमेण च लोकाँस्त्रीञ्जितवान् पाकशासनः ॥३३॥

महात्मा भरत ने पराक्रम से ही यह पृथिवी प्राप्त की और इन्द्र ने भी पराक्रम से ही तीनों लोकों पर विजय पायी।

विक्रमं च प्रशंसन्ति क्षत्रियस्य विशाम्पते।
स्वको हि धर्मः शूराणां विक्रमः पार्थिवर्षभ ॥३४॥

राजन्! क्षत्रिय के पराक्रम की ही प्रशंसा की जाती है। नृपश्रेष्ठ! पराक्रम करना ही शूरवीरों का स्वधर्म है।

न हि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवाः।
शक्याः साधयितुं तस्माद् विक्रमेणैव ताञ्जहि ॥३५॥

पाण्डवों को साम, दाम=दान और भेद की नीति से वश में नहीं किया जा सकता, अतः उन्हें पराक्रम से ही नष्ट करो।

तान् विक्रमेण जित्वेमामखिलां भुंक्ष्व मेदिनीम्।
अतो नान्यं प्रपश्यामि कार्योपायं जनाधिप ॥३६॥

नरेश्वर! तुम पराक्रम से ही पाण्डवों को जीतकर इस सारी पृथिवी का राज्य भोगो। इसके अतिरिक्त कार्यसिद्धि का मैं और कोई मार्ग नहीं देखता।

धृतराष्ट्र उवाच

उपपन्नं महाप्राज्ञे कृतास्त्रे सूतनन्दने।
त्वयि विक्रमसम्पन्नमिदं वचनमीदृशम् ॥३७॥

धृतराष्ट्र बोले—कर्ण! तुम परम बुद्धिमान्, अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता तथा सूत-कुल को आनन्दित करनेवाले हो। ऐसा पराक्रमयुक्त वचन तुम्हारे ही योग्य है।

भूय एव तु भीष्मश्च द्रोणो विदुर एव च।
युवां च कुरुतं बुद्धिं भवेद् या नः सुखोदया ॥३८॥

परन्तु मेरा विचार है कि भीष्म, द्रोण, विदुर और तुम दोनों एक साथ बैठकर पुनः विचार कर

लो तथा कोई ऐसी बात सोच निकालो, जो भविष्य में भी सुख देनेवाली हो।

वैशम्पायन उवाच

तत आनाय्य तान् सर्वान् मन्त्रिणः सुमहायशाः।
धृतराष्ट्रो महाराज मन्त्रयामास वै तदा ॥३९॥

महाराज ! तत्पश्चात् महायशस्वी धृतराष्ट्र ने भीष्म, द्रोण आदि एवं सम्पूर्ण मन्त्रियों को बुलवाकर उनके साथ विचार-विमर्श आरम्भ किया।

भीष्म उवाच

न रोचते विग्रहो मे पाण्डुपुत्रैः कथञ्चन।
यथैव धृतराष्ट्रो मे तथा पाण्डुरसंशयम् ॥४०॥

भीष्मजी बोले—मुझे पाण्डवों के साथ विरोध या युद्ध किसी प्रकार भी पसन्द नहीं है। मेरे लिए जैसे धृतराष्ट्र हैं, वैसे ही पाण्डु—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

गान्धार्याश्च यथा पुत्रास्तथा कुन्तीसुता मम।
यथा च मम ते रक्ष्या धृतराष्ट्र तथा तव ॥४१॥

हे धृतराष्ट्र ! जैसे गान्धारी के पुत्र मेरे अपने हैं, उसी प्रकार कुन्ती के पुत्र भी अपने ही हैं, अतः जैसे मुझे पाण्डवों की रक्षा करनी चाहिए, वैसे तुम्हें भी।

दुर्योधन यथा राज्यं त्वमिदं तात पश्यसि।
मम पैतृकमित्येवं तेऽपि पश्यन्ति पाण्डवाः ॥४२॥

तात दुर्योधन ! जैसे तुम इस राज्य को अपनी पैतृक सम्पत्ति के रूप में देखते हो, उसी प्रकार पाण्डव भी देखते हैं।

अधर्मेण च राज्यं त्वं प्राप्तवान् भरतर्षभ।
तेऽपि राज्यमनुप्राप्ताः पूर्वमेवेति मे मतिः ॥४३॥

भरतश्रेष्ठ ! तुमने अधर्मपूर्वक इस राज्य को हथिया लिया है, परन्तु मेरा विचार यह है कि तुमसे पूर्व ही वे भी इस राज्य को पा चुके थे।

मधुरेणैव राज्यस्य तेषामर्धं प्रदीयताम्।
एतद्धि पुरुषव्याघ्र हितं सर्वजनस्य च ॥४४॥

पुरुषसिंह ! तुम प्रेमपूर्वक ही उन्हें आधा राज्य दे दो, इसी में सब लोगों का हित है।

अतोऽन्यथा यते चेत् न हितं नो भविष्यति।
तवाप्यकीर्तिः सकला भविष्यति न संशयः ॥४५॥

यदि इसके विपरीत कुछ किया जाएगा, तो हमारी भलाई नहीं हो सकती और तुम्हें भी पूरा-पूरा अपयश मिलेगा—इसमें संशय नहीं है।

कीर्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्तिर्हि परमं बलम्।□
नष्टकीर्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम् ॥४६॥

अपनी कीर्ति की रक्षा करो, कीर्ति ही श्रेष्ठ बल है। जिसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है, उस मनुष्य का जीवन निष्फल माना गया है।

यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव।□
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्तिस्तु नश्यति ॥४७॥

गान्धारीनन्दन ! कुरुश्रेष्ठ ! जबतक मनुष्य की कीर्ति नष्ट नहीं होती, तभी तक वह जीवित है। जिसकी कीर्ति नष्ट हो गई, उसका तो जीवन ही नष्ट हो जाता है।

तमिमं समुपातिष्ठ धर्मं कुरुकुलोचितम्।
अनुरूपं महाबाहो पूर्वेषामात्मनः कुरु ॥४८॥

महाबाहो ! कुरुकुल के लिए उचित इस उत्तम धर्म का पालन करो और अपने पूर्वजों के अनुरूप कार्य करते रहो।

दिष्ट्या ध्रियन्ते पार्था हि दिष्ट्या जीवति सा पृथा।
दिष्ट्या पुरोचनः पापो न सकामोऽत्ययं गतः ॥४९॥

सौभाग्य की बात है कि कुन्ती के पुत्र जीवित हैं और यह भी सौभाग्य की बात है कि कुन्ती भी जीवित है तथा सबसे बड़े सौभाग्य का विषय यह है कि पापी पुरोचन अपने दूषित मनोरथ में सफल न होकर स्वयं नष्ट हो गया।

तदिदं जीवितं तेषां तव किल्बिषनाशनम्।
सम्मन्तव्यं महाराज पाण्डवानां च दर्शनम् ॥५०॥

महाराज ! पाण्डवों का यह जीवित रहना और उनका दर्शन होना वास्तव में तुमपर लगे हुए कलंक का नाश करनेवाला है, ऐसा मानना चाहिए।

न चापि तेषां वीराणां जीवतां कुरुनन्दन।
पित्र्योंऽशः शक्य आदातुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥५१॥

हे कुरुनन्दन ! पाण्डव वीरों के जीते-जी उनका पैतृक अंश साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी नहीं ले सकते।

ते सर्वेऽवस्थिता धर्मे सर्वे चैवैकचेतसः।
अधर्मेण निरस्ताश्च तुल्ये राज्ये विशेषतः ॥५२॥

वे सब धर्म में स्थित हैं, उन सबका चित्त=

विचार एक है। इस राज्य पर तुम्हारा और उनका समान अधिकार है, तो भी उनके साथ विशेष अधर्मपूर्ण व्यवहार करके उन्हें यहाँ से हटाया गया है।

यदि धर्मस्त्वया कार्यो यदि कार्यं प्रियं च मे।
क्षेमं च यदि कर्तव्यं तेषामर्धं प्रदीयताम् ॥५३॥

यदि तुम धर्मानुसार चलना चाहते हो, यदि मेरा प्रिय करना है और यदि संसार में भलाई करनी है तो उन्हें आधा राज्य प्रदान कर दो।

द्रोण उवाच

ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः ॥५४॥

द्रोणाचार्य बोले—तात! मेरी भी वही सम्मति है, जो महात्मा भीष्मजी की है। कुन्ती के पुत्रों को आधा राज्य बाँट देना चाहिए, यही परम्परा से चला आनेवाला धर्म है।

प्रेष्यतां द्रुपदायाशु नरः कश्चित् प्रियंवदः।
बहुलं रत्नमादाय तेषामर्थाय भारत ॥५५॥

महाराज! द्रुपद के पास शीघ्र ही कोई प्रिय वचन बोलनेवाला मनुष्य भेजा जाए और वह पाण्डवों के लिए बहुत-से रत्नों की भेंट लेकर जाए।

एवं सान्त्वसमायुक्तं द्रुपदं पाण्डवैः सह।
उक्त्वा सोऽनन्तरं ब्रूयात् तेषामागमनं प्रति ॥५६॥

इस प्रकार [उपहार देने के पश्चात्] पाण्डवों-सहित द्रुपद से सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर अन्त में वह पाण्डवों के हस्तिनापुर में आने के विषय में प्रस्ताव करे।

एतत् तव महाराज पुत्रेषु तेषु चैव हि।
वृत्तमौपायिकं मन्ये भीष्मेण सह भारत ॥५७॥

भरतवंशी महाराज! आपको अपने पुत्रों और पाण्डवों के प्रति उपर्युक्त व्यवहार ही करना चाहिए—भीष्मजी के साथ मैं भी यही उचित समझता हूँ।

अतोऽन्यथा क्रियते चेत् यद् ब्रवीमि परं हितम्।
कुरवो वै विनङ्क्ष्यन्ति नचिरेणैव मे मतिः ॥५८॥

मैं यह अत्यन्त हित की बात कह रहा हूँ। यदि इसके विपरीत कुछ किया जाएगा, तो कौरवों का शीघ्र ही नाश हो जाएगा—ऐसा मेरा मत है।

विदुर उवाच

इमौ हि वृद्धौ वयसा प्रज्ञया च श्रुतेन च।
समौ च त्वयि राजेन्द्र तथा पाण्डुसुतेषु च ॥५९॥

विदुरजी ने कहा—हे राजेन्द्र! अवस्था, बुद्धि और शास्त्र-ज्ञान—सभी बातों में ये [भीष्म और द्रोण] दोनों बढ़े-चढ़े हैं और आपमें तथा पाण्डवों में समान स्नेहभाव रखते हैं।

यच्चाप्यजेयतां तेषामाहतुः पुरुषर्षभौ।
तत् तथा पुरुषव्याघ्र तव तद् भद्रमस्तु ते ॥६०॥

इन पुरुष-शिरोमणियों ने जो पाण्डवों के अजेय होने की बात बताई है, वह वस्तुतः सत्य है। पुरुष-सिंह, आपका कल्याण हो।

कथं हि पाण्डवः श्रीमान् सव्यसाची धनञ्जयः।
शक्यो विजेतुं संग्रामे राजन् मघवतापि हि ॥६१॥

राजन्! दाहिने और बाएँ दोनों हाथों से बाण चलानेवाले श्रीमान् पाण्डुकुमार धनंजय को साक्षात् इन्द्र भी संग्राम में कैसे जीत सकते हैं?

भीमसेनो महाबाहुर्नागायुतबलो महान्।
कथं स्म युधि शक्येत विजेतुममरैरपि ॥६२॥

दस सहस्र हाथियों के समान महान् बलवान् महाबाहु भीमसेन को युद्ध में देवता भी कैसे जीत सकते हैं?

यस्मिन् धृतिरनुक्रोशः क्षमा सत्यं पराक्रमः।
नित्यानि पाण्डवे ज्येष्ठे स जीयेत रणे कथम् ॥६३॥

जिन ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर में धैर्य, दया, क्षमा सत्य और पराक्रम आदि गुण सदा निवास करते हैं, उन्हें युद्धभूमि में कैसे परास्त किया जा सकता है?

येषां पक्षधरो रामो येषां मन्त्री जनार्दनः।
किं नु तैरजितं संख्ये येषां पक्षे च सात्यकिः ॥६४॥

बलरामजी जिनके पक्ष में हैं, श्रीकृष्ण जिनके परामर्शदाता हैं तथा जिनके पक्ष में सात्यकि-जैसा वीर है, वे पाण्डव युद्ध में किसे परास्त नहीं कर देंगे?

इदं निर्दिष्टमयशः पुरोचनकृतं महत्।
तेषामनुग्रहेणाद्य राजन् प्रक्षालयात्मनः ॥६५॥

राजन्! पुरोचन के हाथों जो कुछ कराया गया, उससे आपका महान् अपयश सब ओर फैल गया है।

अपने उस कलंक को आज आप पाण्डवों पर अनुग्रह करके धो डालिए।

तेषामनुग्रहश्चायं सर्वेषां चैव नः कुले।
जीवितं च परं श्रेयः क्षत्रस्य च विवर्धनम् ॥६६॥

पाण्डवों पर किया हुआ यह अनुग्रह हमारे कुल के सभी लोगों के जीवन का रक्षक, परम हितकारक और सम्पूर्ण क्षत्रियजाति का अभ्युदय करनेवाला होगा।

द्रुपदोऽपि महान् राजा कृतवैरश्च नः पुरा।
तस्य संग्रहणं राजन् स्वपक्षस्य विवर्धनम् ॥६७॥

राजन्! द्रुपद भी बहुत बड़े राजा हैं और पहले हमारे साथ उनका वैर भी हो चुका है, अतः मित्र के रूप में उनका संग्रह हमारे अपने पक्ष की वृद्धि का कारण होगा।

बलवन्तश्च दाशार्हा बहवश्च विशाम्पते।
यतः कृष्णस्ततः सर्वे यतः कृष्णस्ततो जयः ॥६८॥

प्रजेश्वर! यदुवंशियों की संख्या बहुत है और वे बलवान् भी हैं। जिधर श्रीकृष्ण रहेंगे, उधर ही वे सब भी रहेंगे, अतः जिस पक्ष में श्रीकृष्ण होंगे, उस पक्ष की विजय निश्चित है।

यच्च साम्नैव शक्यते कार्यं साधयितुं नृप।
को दैवशप्तस्तत् कार्यं विग्रहेण समाचरेत् ॥६९॥

महाराज! जिस कार्य को शान्तिपूर्वक समझाने-बुझाने से ही सिद्ध किया जा सकता है, उसी को कौन दैव-भाग्य का मारा हुआ मनुष्य युद्ध के द्वारा सिद्ध करेगा?

श्रुत्वा च जीवतः पार्थान् पौरजानपदा जनाः।
बलवद् दर्शने हृष्टास्तेषां राजन् प्रियं कुरु ॥७०॥

कुन्ती के पुत्रों को जीवित सुनकर नगर और जनपद के सभी लोग उन्हें देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो रहे हैं। हे राजन्! आप उन सबका प्रिय कीजिए।

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः।
अधर्मयुक्ता दुष्प्रज्ञा बाला मैषां वचः कृथाः ॥७१॥

दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि—ये अधर्म-परायण, खोटी बुद्धिवाले और मूर्ख हैं, अतः इनका कहना मत मानिए।

इति महाभारते आदिपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र की आज्ञा से विदुर का द्रुपद के यहाँ जाना, पाण्डवों का हस्तिनापुर में आना और आधा राज्य पाकर इन्द्रप्रस्थ नगर का निर्माण करना

धृतराष्ट्र उवाच

भीष्मः शान्तनवो विद्वान् द्रोणश्च भगवानृषिः।
हितं च परमं वाक्यं त्वं च सत्यं ब्रवीषि माम् ॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—विदुर! शान्तनुनन्दन भीष्म ज्ञानी हैं और भगवान् द्रोणाचार्य तो ऋषि ही हैं, अतः इनका वचन परम-हितकारक है। तुम भी मुझसे जो कुछ कहते हो, वह सत्य ही है।

यथैव पाण्डोस्ते वीराः कुन्तीपुत्रा महारथाः।
तथैव धर्मतः सर्वे मम पुत्रा न संशयः ॥२॥

कुन्ती के वीर महारथी पुत्र जैसे पाण्डु के लड़के हैं, उसी प्रकार धर्म की दृष्टि से वे सब मेरे भी पुत्र हैं—इसमें संशय नहीं है।

यथैव मम पुत्राणामिदं राज्यं विधीयते।
तथैव पाण्डुपुत्राणामिदं राज्यं न संशयः ॥३॥

जैसे मेरे पुत्रों का यह राज्य कहा जाता है, उसी प्रकार पाण्डु-पुत्रों का भी यह राज्य है—इसमें भी सन्देह नहीं है।

क्षत्तरानय गच्छैतान् सह मात्रा सुसत्कृतान्।
तया च देवरूपिण्या कृष्णया सह भारत ॥४॥

भरतवंशी विदुर! अब तुम्हीं जाओ और उनकी माता कुन्ती एवं देवरूपिणी वधू कृष्णा के साथ इन पाण्डवों को सत्कारपूर्वक ले आओ।

वैशम्पायन उवाच

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रस्य शासनात्।
सकाशं यज्ञसेनस्य पाण्डवानां च भारत ॥५॥

समुपादाय रत्नानि वसूनि विविधानि च।
द्रौपद्याः पाण्डवानां च यज्ञसेनस्य चैव हि ॥६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब धृतराष्ट्र की आज्ञा से विदुरजी द्रौपदी, पाण्डव तथा महाराज यज्ञसेन=द्रुपद के लिए नाना प्रकार के धन-रत्नों की भेंट लेकर राजा द्रुपद और पाण्डवों के पास गये।

तत्र गत्वा स धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।
द्रुपदं न्यायतो राजन् संयुक्तमुपतस्थिवान् ॥७॥

राजन् ! वहाँ पहुँचकर सम्पूर्ण शास्त्रों के विद्वान् एवं धर्मज्ञ विदुर न्याय के अनुसार बड़े-छोटे के क्रम से द्रुपद तथा अन्य लोगों के साथ हृदय से लगकर प्रेमपूर्वक मिले।

स चापि प्रतिजग्राह धर्मेण विदुरं ततः।
चक्रतुश्च यथान्यायं कुशलप्रश्नसंविदम् ॥८॥

राजा द्रुपद ने भी धर्म के अनुसार विदुरजी का आदर-सम्मान किया। फिर वे दोनों यथोचित रीति से एक-दूसरे के कुशल-समाचार पूछने और कहने लगे।

ददर्श पाण्डवांस्तत्र वासुदेवं च भारत।
परिष्वज्य स तान् स्नेहात् पप्रच्छानामयं ततः ॥९॥

हे भरतश्रेष्ठ ! विदुरजी ने वहाँ पाण्डवों और वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्णजी को भी देखा। उन्होंने सबको स्नेह-पूर्वक हृदय से लगाकर उनकी कुशल पूछी।

पप्रच्छानामयं राजंस्ततस्तान् पाण्डुनन्दनान्।
प्रददौ चापि रत्नानि विविधानि वसूनि च ॥१०॥

राजन् ! विदुरजी ने पाण्डवों से कुशल-मङ्गल पूछकर कौरवों की ओर से दिये गये रत्न और धन उन्हें भेंट कर दिये। [फिर उनसे बोले—]

विदुर उवाच

राजञ्छृणु सहामात्यः सपुत्रश्च वचो मम।
धृतराष्ट्रः सपुत्रस्त्वां सहामात्यः सबान्धवः ॥११॥
अब्रवीत् कुशलं राजन् प्रीयमाणः पुनः पुनः।
प्रीतिमांस्ते दृढं चापि सम्बन्धेन नराधिप ॥१२॥

विदुरजी बोले—राजन् ! आप अपने मन्त्रियों तथा पुत्रों के साथ मेरी बात सुनें। महाराज धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र, मन्त्री और बन्धुओं के साथ अत्यन्त प्रसन्न होकर बारम्बार आपकी कुशल पूछी है। राजेन्द्र ! आपके साथ यह जो सम्बन्ध हुआ है, इससे उनको महती प्रसन्नता हुई है।

न तथा राज्यसम्प्राप्तिस्तेषां प्रीतिकरी मता।
यथा सम्बन्धकं प्राप्य यज्ञसेन त्वया सह ॥१३॥

हे यज्ञसेन ! उन्हें राज्य की प्राप्ति भी उतनी प्रसन्नता देनेवाली नहीं जान पड़ी, जितनी प्रसन्नता आपके साथ सम्बन्ध का सौभाग्य पाकर हुई है।

विदित्वा तु भवानेतद् प्रस्थापयतु पाण्डवान्।
द्रष्टुं हि पाण्डुपुत्रांश्च त्वरन्ति कुरवो भृशम् ॥१४॥

यह जानकर आप पाण्डवों को हस्तिनापुर भेज दें। समस्त कुरुवंशी पाण्डवों को देखने और उनसे मिलने के लिए अत्यन्त उतावले हो रहे हैं।

स भवान् पाण्डुपुत्राणामाज्ञापयतु मा चिरम्।
गमनं सहदाराणामेतदत्र मतं मम ॥१५॥

अतः आप द्रौपदीसहित पाण्डवों को हस्तिनापुर चलने के लिए शीघ्र ही आज्ञा दीजिए। इस विषय में मेरी सम्मति यही है।

द्रुपद उवाच

एवमेतन् महाप्राज्ञ यथाऽऽत्थ विदुराद्य माम्।
ममापि परमो हर्षः सम्बन्धेऽस्मिन् कृते प्रभो ॥१६॥

द्रुपद ने कहा—महाप्राज्ञ विदुरजी ! इस समय आपने जो कुछ मुझसे कहा है, वह सब ठीक है। प्रभो ! [कौरवों के साथ] यह सम्बन्ध हो जाने से मुझे भी अपार हर्ष हुआ है।

गमनं चापि युक्तं स्याद् दृढमेषां महात्मनाम्।
न तु तावन्मया युक्तमेतद् वक्तुं स्वयं गिरा ॥१७॥
यदा तु मन्यते वीरः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
रामकृष्णौ च धर्मज्ञौ तदा गच्छन्तु पाण्डवाः ॥१८॥

महात्मा पाण्डवों का अपने नगर में जाना भी उचित ही है, तथापि मेरे लिए अपने मुख से उन्हें जाने के लिए कहना उचित नहीं है। यदि कुन्ती-कुमार वीरवर युधिष्ठिर तथा धर्मज्ञ बलराम और कृष्ण पाण्डवों का वहाँ जाना उचित समझते हों, तो ये अवश्य वहाँ जाएँ।

युधिष्ठिर उवाच

परवन्तो वयं राजंस्त्वयि सर्वे सहानुगाः।
यथा वक्ष्यसि नः प्रीत्या तत् करिष्यामहे वयम् ॥१९॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! हम सब लोग अपने सेवकोंसहित सदा आपके अधीन हैं। आप स्वयं प्रसन्नतापूर्वक हमसे जैसा कहेंगे, वही हम करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो गमनं मम रोचते।
यथा वा मन्यते राजा द्रुपदः सर्वधर्मवित् ॥२०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब श्रीकृष्ण ने कहा—"मुझे तो इनका जाना ही उचित जान पड़ता है। अथवा सब धर्मों के ज्ञाता महाराज द्रुपद जैसा उचित समझें, वैसा किया जाए।"

द्रुपद उवाच

यथैव मन्यते वीरो दाशार्हः पुरुषोत्तमः।
प्राप्तकालं महाबाहुः सा बुद्धिर्निश्चिता मम ॥२१॥

द्रुपद बोले—दशार्हकुल के रत्न वीरवर पुरुषोत्तम महाबाहु श्रीकृष्ण इस समय जो कर्तव्य उचित समझते हों, निश्चय ही मेरी भी वही सम्मति है।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते समनुज्ञाता द्रुपदेन महात्मना।
पाण्डवाश्चैव कृष्णश्च विदुरश्च महीपते ॥२२॥
आदाय द्रौपदीं कृष्णां कुन्तीं चैव यशस्विनीम्।
सविहारं सुखं जग्मुर्नगरं नागसाह्वयम् ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तब द्रुपद की आज्ञा पाकर पाण्डव, श्रीकृष्ण और विदुर द्रुपदकुमारी कृष्णा और यशस्विनी कुन्ती को साथ ले आमोद-प्रमोद करते हुए हस्तिनापुर की ओर चले।

श्रुत्वा चाप्यागतान् वीरान् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
प्रतिग्रहाय पाण्डूनां प्रेषयामास कौरवान् ॥२४॥

राजा धृतराष्ट्र ने पाण्डुवीरों का आगमन सुनकर उनके स्वागत के लिए कौरवों को भेजा।

विकर्णं च महेष्वासं चित्रसेनं च भारत।
द्रोणं च परमेष्वासं गौतमं कृपमेव च ॥२५॥
तैस्ते परिवृता वीराः शोभमाना महाबलाः।
नगरं हास्तिनपुरं शनैः प्रविविशुस्तदा ॥२६॥

हे भारत ! विकर्ण, महाधनुर्धर चित्रसेन, विशाल धनुषवाले द्रोणाचार्य, गौतमवंशी कृपाचार्य आदि—इन सभी से घिरे हुए शोभाशाली महाबली वीर पाण्डवों ने धीरे-धीरे हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया। [उस समय—]

नागरिका ऊचुः

किं नु नाद्य कृतं तात सर्वेषां नः परं प्रियम्।
यन्नः कुन्तीसुता वीरा नगरं पुनरागताः ॥२७॥

पुरवासी कह रहे थे—तात ! कुन्ती के वीर पुत्र यदि पुनः इस नगर में चले आये तो आज हम सब लोगों का कौन-सा परमप्रिय कार्य सम्पन्न नहीं हो गया ? अर्थात् आज हमारे सभी परमप्रिय कार्य सम्पन्न हो गये।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य च महात्मनः।
अन्येषां च तदर्हाणां चक्रुः पादाभिवन्दनम् ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[उन वचनों को सुनते हुए थोड़ी ही देर में] पाण्डवों ने धृतराष्ट्र, महात्मा भीष्म तथा अन्य वन्दनीय पुरुषों के पास जाकर उन सबके चरणों में प्रणाम किया।

कृत्वा तु कुशलप्रश्नं सर्वेण नगरेण च।
समाविशन्त वेश्मानि धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥२९॥

फिर समस्त नगरवासियों से कुशलप्रश्न करके वे राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से राजमहलों में गये।

विश्रान्तास्ते महात्मानः कंचित् कालं महाबलाः।
आहूता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ॥३०॥

कुछ समय तक विश्राम कर लेने पर उन महाबली महात्मा पाण्डवों को राजा धृतराष्ट्र तथा भीष्मजी ने बुलवाया।

धृतराष्ट्र उवाच

भ्रातृभिः सह कौन्तेय निबोध गदतो मम।
अर्धं राज्यस्य सम्प्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविश ॥३१॥

धृतराष्ट्र बोले—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे अपने भाइयोंसहित ध्यान देकर सुनो—तुम आधा राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थ में जाकर रहो।

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद् वाक्यं नृपं सर्वे प्रणम्य च।
प्रतस्थिरे ततो घोरं वनं तन्मनुजर्षभाः ॥३२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र की बात मानकर पाण्डवों ने उन्हें प्रणाम

किया और उस खाण्डवप्रस्थ की ओर चल दिये, जो भयंकर वन के रूप में था।

ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः।
मण्डयाञ्चक्रिरे तद् वै परं स्वर्गवदच्युताः॥३३॥

तत्पश्चात् अपनी मर्यादा से कभी न डिगनेवाले पाण्डवों ने श्रीकृष्ण-सहित वहाँ पहुँचकर उस स्थान को उत्तम स्वर्गलोक की भाँति शोभायमान बना दिया।

ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा महारथाः।
नगरं मापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः॥३४॥

तत्पश्चात् पवित्र एवं कल्याणमय प्रदेश में शान्ति कर्म कराके महारथी पाण्डवों ने वेदव्याजी को अगुआ बनाकर नगर बसाने के लिए भूमि का नाप करवाया।

सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम्।
प्राकारेण च सम्पन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता॥३५॥
पाण्डुराभ्रप्रकाशेन हिमरश्मिनिभेन च।
शुशुभे तत् पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा॥३६॥

उसके चारों ओर समुद्र की भाँति विस्तृत एवं अगाध जल से भरी हुई खाइयाँ बनी थीं, जो उस समय नगर की शोभा बढ़ा रही थीं। श्वेत बादलों और चन्द्रमा के समान धवल तथा अपनी ऊँचाई से आकाशमण्डल को व्याप्त करनेवाली चहारदीवारी भी अति सुशोभित हो रही थी। जैसे नागों से भोगवती नगरी सुशोभित होती है, उसी प्रकार उस चहारदीवारी से खाई-सहित वह श्रेष्ठ नगर सुशोभित हो रहा था।

द्विपक्षगरुडप्रख्यैर्द्वारैः सौधैश्च शोभितम्।
गुप्तमभ्रचयप्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमैः॥३७॥

उस नगर के द्वार ऐसे जान पड़ते थे, मानो गरुड़ ने अपने दोनों पंख फैला रखे हों। ऐसे अनेक बड़े-बड़े फाटक और अट्टालिकाएँ उस नगर की श्रीवृद्धि कर रही थी। मेघों की घटा के समान सुशोभित तथा मन्दराचल के समान ऊँचे गोपुरों द्वारा वह नगर सब ओर से सुरक्षित था।

विविधैरपि निर्विद्धैः शस्त्रोपेतैः सुसंवृतैः।
शक्तिभिश्चावृतं तद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः॥३८॥

नाना प्रकार के अभेद्य तथा सब ओर से घिरे हुए शस्त्रागारों में शस्त्र-संग्रह करके रखे गये थे। नगर के चारों ओर हाथ से चलाई जानेवाली लोहे की शक्तियाँ निर्माण करके रखी गई थीं, जो दो जीभ-वाले साँपों के समान जान पड़ती थीं। इन सबके द्वारा उस नगर की सुरक्षा की गई थी।

तल्पैश्चाभ्यासिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम्।
तीक्ष्णांकुशशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैश्च शोभितम्॥३९॥

जिनमें अस्त्र-शस्त्रों का अभ्यास किया जाता था, ऐसी अनेक अट्टालिकाओं से युक्त और योद्धाओं से सुरक्षित उस नगर की शोभा देखते ही बनती थी। तीखे अंकुशों=बर्छों, शतघ्नियों=तोपों और दूसरे युद्ध-सम्बन्धी यन्त्रों के जाल से वह नगर शोभा पा रहा था।

आयसैश्च महाचक्रैः शुशुभे तत् पुरोत्तमम्।
सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम्॥४०॥

लोह-निर्मित महान् चक्रों द्वारा उस उत्तम नगरी की अवर्णनीय शोभा हो रही थी। वहाँ विभागपूर्वक विभिन्न स्थानों में जाने के लिए विशाल एवं चौड़ी सड़कें बनी हुई थी। उस नगर में दैवी आपत्ति का नाम तक नहीं था।

विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमैः।
तत् त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत॥४१॥

अनेक प्रकार के श्रेष्ठ एवं शुभ सदनों से सुशोभित वह नगर स्वर्गलोक के समान प्रकाशित हो रहा था। उसका नाम था इन्द्रप्रस्थ।

मेघवृन्दमिवाकाशे विद्धं विद्युत्समावृतम्।
तत्र रम्ये शिवे देशे कौरव्यस्य निवेशनम्॥४२॥

इन्द्रप्रस्थ के रमणीय एवं शुभ प्रदेश में कुरुराज युधिष्ठिर का सुन्दर राजभवन बना हुआ था, जो आकाश में विद्युत् की प्रभा से व्याप्त मेघमण्डल की भाँति देदीप्यमान था।

शुशुभे धनसम्पूर्णं धनाध्यक्षक्षयोपमम्।
तत्रागच्छन् द्विजा राजन् सर्ववेदविदां वराः॥४३॥
निवासं रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा।
वणिजश्चाभ्ययुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः।
सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाभ्यागमंस्तदा॥४४॥

अनन्त धन-राशि से परिपूर्ण होने के कारण वह

भवन धनाध्यक्ष कुबेर के निवास-स्थान के तुल्य था। राजन् ! सम्पूर्ण वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्राह्मण उस नगर में निवास करने के लिए आये, जो सम्पूर्ण भाषाओं के जानकार थे। उन्हें वहाँ का निवास बहुत भाया। अनेक दिशाओं से धनोपार्जन की इच्छावाले वणिक् भी उस नगर में आये। सब प्रकार की शिल्पकलाओं के जानकार मनुष्य भी उन दिनों इन्द्रप्रस्थ में निवास करने के लिए आ गये थे।

उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः।
मत्तबर्हिणसंघुष्टकोकिलैश्च सदामदैः।
गृहैरादर्शविमलैर्विविधैश्च लतागृहैः ॥४५॥

नगर के चारों ओर रमणीय उद्यान थे। मतवाले मयूरों के केकारव तथा सदा उन्मत्त रहनेवाली कोकिलाओं की काकली वहाँ गूँजती रहती थी। उन उद्यानों में दर्पण के समान स्वच्छ क्रीड़ा-भवन तथा नाना प्रकार के लता-मण्डप बनाये गये थे।

रम्याश्च विविधास्तत्र पुष्करिण्यो वनावृताः।
तडागानि च रम्याणि बृहन्ति सुबहूनि च ॥४६॥

वहाँ वन से घिरी हुई भाँति-भाँति की रमणीय पुष्करिणियाँ [बावड़ियाँ] और सुरम्य एवं विशाल बहुसंख्यक तड़ाग बड़े सुन्दर जान पड़ते थे।

तेषां पुण्यजनोपेतं राष्ट्रमाविशतां महत्।
पाण्डवानां महाराज शश्वत् प्रीतिरवर्धत ॥४७॥

महाराज ! पुण्यात्मा मनुष्यों से भरे हुए उस महान् प्रदेश में प्रवेश करने के पश्चात् पाण्डवों की प्रसन्नता निरन्तर बढ़ती गई।

तां निवेश्य ततो वीरो रामेण सह केशवः।
ययौ द्वारवतीं राजन् पाण्डवानुमते तदा ॥४८॥

हे राजन् ! इस प्रकार उस पुरी को बसाकर बलरामजी के साथ वीरवर श्रीकृष्ण पाण्डवों की अनुमति ले उस समय द्वारकापुरी को चले गये।

प्राप्य राज्यं महातेजाः सत्यसन्धो युधिष्ठिरः।
पालयामास धर्मेण पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥४९॥

इधर सत्यप्रतिज्ञ, महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर उस राज्य को पाकर अपने भाइयों के साथ धर्मपूर्वक पृथिवी का पालन करने लगे।

इति महाभारते आदिपर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३४॥

पञ्चत्रिंशोऽध्याय।

सुभद्रा-हरण, अर्जुन और सुभद्रा का विवाह, अभिमन्यु का जन्म

वैशम्पायन उवाच

अथ दीर्घेण कालेन रम्ये रैवतके गिरौ।
वृष्ण्यन्धकानामभवदुत्सवो नृपसत्तम ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर दीर्घकाल के पश्चात् रमणीय रैवतक पर्वत पर वृष्णि और अन्धकवंश के लोगों का एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ।

पौराश्च पादचारेण यानैरुच्चावचैस्तथा।
सदाराः सानुयात्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥२॥
ततो हलधरः क्षीवो रेवतीसहितः प्रभुः।
अनुगम्यमानो गन्धर्वैरचरत् तत्र भारत ॥३॥

द्वारकापुरी के निवासी सैकड़ों और हजारों मनुष्य अपनी स्त्रियों और सेवकों के साथ पैदल चलकर अथवा छोटी-बड़ी सवारियों के द्वारा आकर उस उत्सव में सम्मिलित हुए थे। भारत ! महाबली बलरामजी हर्षोन्मत्त होकर वहाँ रेवती के साथ विचर रहे थे। उनके पीछे-पीछे गन्धर्व=गायक चल रहे थे।

चित्रकौतूहले तस्मिन् वर्तमाने महाद्भुते।
वासुदेवश्च पार्थश्च सहितौ परिजग्मतुः ॥४॥

उस अत्यन्त अद्भुत और विचित्र कौतूहलपूर्ण उत्सव में श्रीकृष्ण और अर्जुन साथ-साथ घूम रहे थे।

तत्र चङ्क्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम्।
अलंकृतां सखीमध्ये भद्रां ददृशतुस्तदा ॥५॥

इसी समय वसुदेवजी की सुन्दरी पुत्री सुभद्रा शृङ्गार से सुसज्जित हो, सखियों से घिरी हुई उधर आ निकली। वहाँ भ्रमण करते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने उसे देखा।

दृष्ट्वैव तामर्जुनस्य कन्दर्पः समजायत ।
तं तदकाग्रमनसं कृष्णः पार्थमलक्षयत् ।।६।।

उसे देखते ही अर्जुन के हृदय में कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उनका चित्त उसी के चिन्तन में एकाग्र हो गया। श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन की उस मनोदशा को भाँप लिया।

कृष्ण उवाच

ममैषा भगिनी पार्थ पितुर्मे दयिता सुता ।
यदि ते वर्तते बुद्धिर्वक्ष्यामि पितरं स्वयम् ।।७।।

श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीनन्दन ! यह मेरी सगी बहिन है। यह मेरे पिता की बड़ी लाड़ली पुत्री है। यदि तुम्हारा विचार इससे विवाह करने का हो, तो मैं स्वयं पिताजी से कहूँगा।

अर्जुन उवाच

दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा ।
रूपेण चैषा सम्पन्ना कमिवैषा न मोहयेत् ।।८।।

अर्जुन ने कहा—यह वसुदेवजी की पुत्री तथा वासुदेव की बहिन अनुपम रूप से सम्पन्न है। फिर यह किसका मन न मोह लेगी ?

कृतमेव तु कल्याणं सर्वं मम भवेद् ध्रुवम् ।
यदि स्यान्मम वार्ष्णेयी महिषीयं स्वसा तव ।।९।।

हे सखे ! यदि यह वृष्णिकुल की कुमारी और आपकी बहिन सुभद्रा मेरी रानी हो सके तो निश्चय ही मेरा समस्त कल्याणमय मनोरथ पूर्ण हो जाए।

प्राप्तौ तु क उपायः स्यात् तं च ब्रूहि जनार्दन ।
आस्थास्यामि तदा सर्वं यदि शक्यं नरेण तत् ।।१०।।

हे जनार्दन ! बताइए, इसे प्राप्त करने का क्या उपाय हो सकता है ? यदि मनुष्य के द्वारा कर सकने योग्य होगा तो वह सारा प्रयत्न मैं अवश्य करूँगा।

कृष्ण उवाच

स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्यानिमित्ततः ।।११।।

श्रीकृष्ण बोले—नरश्रेष्ठ पार्थ ! क्षत्रियों के विवाह का स्वयंवर ही एक प्रकार है, परन्तु उसका परिणाम सन्दिग्ध होता है, क्योंकि स्त्रियों का स्वभाव अस्थिर होता है [पता नहीं, वे स्वयंवर में किसका वरण करें]।

प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः ।।१२।।

बलपूर्वक कन्या का हरण भी शूरवीर क्षत्रियों के लिए विवाह का उत्तम हेतु कहा गया है, ऐसा धर्मज्ञ पुरुषों का मत है।

स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम ।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम् ।।१३।।

अर्जुन ! मेरी सम्मति तो यही है कि तुम मेरी कल्याणमयी बहिन का बलपूर्वक हरण कर लो। कौन जानता है, स्वयंवर में उसकी क्या चेष्टा होगी—वह किसका वरण करना चाहेगी ?

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनश्च कृष्णश्च विनिश्चित्येतिकृत्यताम् ।
शीघ्रगान् पुरुषानन्यान् प्रेषयामासतुस्तदा ।।१४।।
धर्मराजाय तत् सर्वमिन्द्रप्रस्थगताय वै ।
श्रुत्वैव च महाबाहुरनुजज्ञे स पाण्डवः ।।१५।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब अर्जुन और श्रीकृष्ण ने कर्तव्य का निश्चय करके कुछ दूसरे शीघ्रगामी पुरुषों को इन्द्रप्रस्थ में धर्मराज युधिष्ठिर के पास भेजा और सब बातें उन्हें सूचित करके उनकी सम्मति जानने की इच्छा प्रकट की। महाबाहु युधिष्ठिर ने यह सुनते ही अपनी ओर से आज्ञा दे दी।

ततः संवादिते तस्मिन्ननुज्ञातो धनञ्जयः ।
गतां रैवतके कन्यां विदित्वा जनमेजय ।।१६।।
रथेन काञ्चनाङ्गेन सन्नद्धः कवची तदा ।
मृगयाव्यपदेशेन प्रययौ पुरुषर्षभः ।।१७।।

जनमेजय ! उस विवाह-सम्बन्धी संदेश पर युधिष्ठिर की आज्ञा मिल जाने के पश्चात् धनंजय को जब यह ज्ञात हुआ कि सुभद्रा रैवतक पर्वत पर गई हुई है तब नरश्रेष्ठ धनंजय धनुष-बाण और कवच-आदि से सुसज्जित होकर सुवर्णमय रथ पर आरूढ़ हो शिकार खेलने के बहाने रैवतक पर्वत पर जा पहुँचे।

सुभद्रा त्वथ शैलेन्द्रात् प्रययौ द्वारकां प्रति ।
तामभिद्रुत्य कौन्तेयः प्रसह्यारोपयद् रथम् ।।१८।।

उधर सुभद्रा उस गिरिराज रैवतक पर्वत से द्वारका की ओर लौट रही थी। अर्जुन ने दौड़कर

सर्वाङ्ग-सुन्दरी सुभद्रा को बलपूर्वक पकड़कर अपने रथ पर बैठा लिया।

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तामादाय शुचिस्मिताम्।
रथेन काञ्चनाङ्गेन प्रययौ स्वपुरं प्रति ॥१९॥

फिर तो पुरुषसिंह धनंजय मधुर मुस्कानवाली सुभद्रा को साथ ले उस सुवर्णमय रथ द्वारा अपने नगर की ओर चल दिये।

ह्रियमाणां तु तां दृष्ट्वा सुभद्रां सैनिका जनाः।
विक्रोशन्तोऽद्रवन् सर्वे द्वारकामभितः पुरीम् ॥२०॥

सुभद्रा का अपहरण होता देख समस्त सैनिकगण हल्ला मचाते हुए द्वारकापुरी की ओर दौड़ पड़े।

तत् श्रुत्वा वृष्णिवीरास्ते मदसंरक्तलोचनाः।
अमृष्यमाणाः पार्थस्य समुत्पेतुरहंकृताः ॥२१॥

सुभद्रा-हरण की बात सुनते ही युद्धोन्माद से लाल नेत्रोंवाले वृष्णिवंशी वीर अर्जुन के प्रति अमर्ष से भर गये तथा गर्व से उछल पड़े।

योजयध्वं रथानाशु प्रासानाहरतेति च।
धनूंषि च महार्हाणि कवचानि बृहन्ति च ॥२२॥

[वे सब बड़ी उतावली से कहने लगे—] "जल्दी रथ जोतो, तुरन्त प्रास=प्रक्षेपणास्त्र ले आओ, धनुष तथा बहुमूल्य एवं विशाल कवच ले आओ।"

सूतानुच्चुक्रुशुः केचिद् रथान् योजयतेति च।
स्वयं च तुरगान् केचिदयुञ्जन् हेमभूषितान् ॥२३॥

कोई सारथियों को पुकार कर कहने लगे—"अरे! जल्दी रथ जोतो।" कुछ लोग स्वयं ही सोने के आभूषणों से विभूषित घोड़ों को रथों में जोतने लगे।

रथेष्वानीयमानेषु कवचेषु ध्वजेषु च।
अभिक्रन्दे नृवीराणां तदासीत् तुमुलं महत् ॥२४॥

रथ, कवच और ध्वजाओं के लाये जाते समय चारों ओर उन नरवीरों के कोलाहल से वहाँ बड़ी भारी तुमुल ध्वनि व्याप्त हो गई।

वनमाली ततः क्षीबः कैलासशिखरोपमः।
नीलवासा मदोत्सिक्त इदं वचनमब्रवीत् ॥२५॥

तदनन्तर कैलास-शिखर के समान गौरवर्णवाले, नीलवस्त्र और वनमाला धारण करनेवाले मदमस्त बलरामजी उन यादवों से इस प्रकार बोले—

किमिदं कुरुथाप्रज्ञास्तूष्णीं भूते जनार्दने।
अस्य भावमविज्ञाय संक्रुद्धा मोघगर्जिताः ॥२६॥

"मूर्खो! श्रीकृष्ण तो चुपचाप बैठे हैं, तुम यह क्या कर रहे हो? इनका अभिप्राय जाने बिना ही तुम इतने कुपित हो उठे। तुम लोगों की यह गर्जना व्यर्थ ही है।

एष तावदभिप्रायमाख्यातु स्वं महामतिः।
यदस्य रुचिरं कर्तुं तत् कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥२७॥

"पहले परम बुद्धिमान् श्रीकृष्ण अपना अभिप्राय बताएँ। तब जो कर्तव्य इन्हें उचित जान पड़े, उसी का आलस्य छोड़कर पालन करो।"

ततोऽब्रवीद् वासुदेवं वचो रामः परन्तपः।
किमवागुपविष्टोऽसि प्रेक्षमाणो जनार्दन ॥२८॥

तत्पश्चात् शत्रुदमन बलरामजी श्रीकृष्ण से बोले—हे जनार्दन! यह सब-कुछ देखते हुए भी तुम मौन होकर क्यों बैठे हो?

सत्कृतस्त्वत्कृते पार्थः सर्वैरस्माभिरच्युत।
न च सोऽर्हति तां पूजां दुर्बुद्धिः कुलपांसनः ॥२९॥

"अच्युत! तुम्हारे सन्तोष के लिए ही हम सब लोगों ने अर्जुन का इतना आदर-सत्कार किया, परन्तु वह खोटी बुद्धिवाला कुलाङ्गार उस सत्कार के योग्य कदापि नहीं था।

को हि तत्रैव भुक्त्वान्नं भाजनं भेत्तुमर्हति।□
मन्यमानः कुले जातमात्मानं पुरुषः क्वचित् ॥३०॥

"अपने आपको कुलीन माननेवाला कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो जिस हाँडी में खाये, उसी में छेद करे?

सोऽवमन्य च नामास्माननादृत्य च केशवम्।
प्रसह्य हृतवानद्य सुभद्रां मृत्युमात्मनः ॥३१॥

"उसने हम लोगों का अपमान और केशव का अनादर करके आज बलपूर्वक सुभद्रा का अपहरण किया है, जो उसके लिए अपनी मृत्यु का कारण है।

कथं हि शिरसो मध्ये पदं तेन कृतं मम।
मर्षयिष्यामि गोविन्द पादस्पर्शमिवोरगः ॥३२॥

"गोविन्द! जैसे सर्प पैर की ठोकर नहीं सह सकता, उसी प्रकार उसने मेरे सिर पर जो पैर रख दिया है, उसे मैं कैसे सह सकता हूँ?

अद्य निष्कौरवामेकः करिष्यामि वसुन्धराम् ।
न हि मे मर्षणीयोऽयमर्जुनस्य व्यतिक्रमः ॥३३॥

"अर्जुन का यह अन्याय मेरे लिए असह्य है। आज मैं अकेला ही इस वसुन्धरा को कुरुवंशियों से विहीन कर दूंगा।"

कृष्ण उवाच

नावमानं कुलस्यास्य गुडाकेशः प्रयुक्तवान् ।
सम्मानोऽभ्यधिकस्तेन प्रयुक्तोऽयं न संशयः ॥३४॥

श्रीकृष्ण बोले—बलदेव ! निद्राजित् अर्जुन ने इस कुल का अपमान नहीं किया है, अपितु ऐसा करके उन्होंने इस कुल के प्रति अधिक सम्मान का भाव ही प्रकट किया है, इसमें संशय नहीं है।

अर्थलुब्धान् न वः पार्थो मन्यते सात्वतान् सदा ।
स्वयंवरमनाधृष्यं मन्यते चापि पाण्डवः ॥३५॥

पृथापुत्र अर्जुन यह जानते हैं कि सात्वतवंशी कभी धन के लोभी नहीं रहे, अतः धन देकर कन्या नहीं ली जा सकती। साथ ही पाण्डुपुत्र अर्जुन को यह भी ज्ञात है कि स्वयंवर में कन्या के मिल जाने का पूर्ण निश्चय नहीं रहता, अतः वह भी अग्राह्य ही है।

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कः प्रतीक्षते ।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात् पुरुषो भुवि ॥३६॥

भला कौन ऐसा वीर पुरुष होगा, जो पशु की भाँति पराक्रम-शून्य होकर कन्या-दान की प्रतीक्षा में बैठा रहेगा और इस पृथिवी पर ऐसा अधम पुरुष कौन होगा, जो धन लेकर अपनी सन्तान को बेचेगा ?

एतान् दोषांस्तु कौन्तेयो दृष्टवानिति मे मतिः ।
अतः प्रसह्य हृतवान् कन्यां धर्मेण पाण्डवः ॥३७॥

मेरा विश्वास है कि कुन्तीपुत्र अर्जुन ने इन सभी दोषों की ओर दृष्टिपात किया है और फिर क्षत्रिय-धर्म के अनुसार बलपूर्वक कन्या का अपहरण किया है।

उचितश्चैव सम्बन्धः सुभद्रा च यशस्विनी ।
एष चापीदृशः पार्थः प्रसह्य हृतवानिति ॥३८॥

मेरे विचार में तो यह सम्बन्ध अति उचित है। सुभद्रा यशस्विनी है तथा ये कुन्तीपुत्र अर्जुन भी ऐसे ही यशस्वी हैं, अतः इन्होंने बलपूर्वक सुभद्रा का अपहरण किया है।

भरतस्यान्वये जातं शान्तनोश्च यशस्विनः ।
कुन्तिभोजात्मजापुत्रं को बुभूषेत नार्जुनम् ॥३९॥

महाराज भरत तथा यशस्वी शान्तनु के कुल में जिनका जन्म हुआ है, जो कुन्तीभोजकुमारी कुन्ती के पुत्र हैं, ऐसे वीरवर अर्जुन को कौन अपना सम्बन्धी न बनाना चाहेगा ?

न च पश्यामि यः पार्थं विजयेत रणे बलात् ।
अपि सर्वेषु लोकेषु सेन्द्ररुद्रेषु मारिष ॥४०॥

आर्य ! इन्द्रलोक और रुद्रलोक-सहित सम्पूर्ण लोकों में मैं किसी ऐसे वीर को नहीं देखता, जो संग्राम में बलपूर्वक पार्थ को परास्त कर सके।

तमभिद्रुत्य सान्त्वेन परमेण धनञ्जयम् ।
न्यवर्तयत संहृष्टा ममैषा परमा मतिः ॥४१॥

अतः आप लोग प्रसन्नतापूर्वक दौड़ जाइए और सान्त्वना प्रदान कर वीरवर अर्जुन को लौटा लाइए। मेरी तो यही परम सम्मति है।

वैशम्पायन उवाच

तत् श्रुत्वा वासुदेवस्य तथा चक्रुर्जनाधिप ।
निवृत्तश्चार्जुनस्तत्र विवाहं कृतवान् प्रभुः ॥४२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्ण का वह परामर्श सुनकर यादवों ने वैसा ही किया। शक्तिशाली अर्जुन द्वारका में लौट आये और वहाँ उन्होंने सुभद्रा से विवाह किया।

उषित्वा तत्र कौन्तेयः संवत्सरपराः क्षपाः ।
विहृत्य च यथाकामं खाण्डवप्रस्थमागतः ॥४३॥

एक वर्ष से भी कुछ अधिक दिन तक वहाँ रहकर और इच्छानुसार विहार करके अर्जुन खाण्डवप्रस्थ में लौट आये।

ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा ।
जयन्तमिव पौलोमी ख्यातिमन्तमजीजनत् ॥४४॥

तदनन्तर कुछ काल के पश्चात् कृष्ण की प्यारी बहिन सुभद्रा ने यशस्वी सौभद्र को जन्म दिया, ठीक उसी प्रकार, जैसे शची ने जयन्त को उत्पन्न किया था।

दीर्घबाहुं महोरस्कं वृषभाक्षमरिन्दमम् ।
सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ॥४५॥

सुभद्रा ने वीरवर नरश्रेष्ठ अभिमन्यु को जन्म दिया जिसकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं। उसका वक्षः-स्थल विशाल और नेत्र बैल की आँखों के समान बड़े-बड़े थे। वह शत्रुओं का दमन करनेवाला था।

अभीश्च मन्युमाँश्चैव ततस्तमरिमर्दनम् ।
अभिमन्युमिति प्राहुरार्जुनिं पुरुषर्षभम् ॥४६॥

वह अभीः=निर्भय तथा मन्युमान् [क्रुद्ध होकर लड़नेवाला] था, अतः पुरुषोत्तम अर्जुनकुमार को सब लोग 'अभिमन्यु' कहने लगे।

जन्मप्रभृति कृष्णश्च चक्रे तस्य क्रियाः शुभाः ।
स चापि ववृधे बालः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥४७॥

श्रीकृष्ण ने जन्म से ही उसके लालन-पालन की सुन्दर व्यवस्थाएँ की थीं। बालक अभिमन्यु भी शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति बढ़ने लगा।

चतुष्पादं दशविधं धनुर्वेदमरिन्दमः ।
अर्जुनाद् वेद वेदज्ञः सकलं दिव्यमानुषम् ॥४८॥

उस शत्रुदमन बालक ने वेदों का ज्ञान प्राप्त करके अपने पिता अर्जुन से चार पदों[1] और दशविध[2] अङ्गों से युक्त दिव्य एवं मानुष[3] सब प्रकार के धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

विज्ञानेष्वपि चास्त्राणां सौष्ठवे च महाबलः ।
क्रियास्वपि च सर्वासु विशेषानभ्यशिक्षयत् ॥४९॥

अस्त्रों के विज्ञान, सौष्ठव=प्रयोगपटुता और सम्पूर्ण क्रियाओं में भी महाबली अर्जुन ने उसे विशेष शिक्षा दी थी।

आगमे च प्रयोगे च चक्रे तुल्यमिवात्मनः ।
तुतोष पुत्रं सौभद्रं प्रेक्षमाणो धनञ्जयः ॥५०॥

धनंजय ने अभिमन्यु को [अस्त्र-शस्त्रों के] आगम और प्रयोग में अपने समान बना दिया था।[4] वे सुभद्राकुमार को देखकर बहुत सन्तुष्ट रहते थे।

---

१. धनुर्वेद में निम्न चार पाद बताये गये हैं—

मन्त्रमुक्तं पाणिमुक्तं मुक्तामुक्तं तथैव च ।
अमुक्तं च धनुर्वेदे चतुष्पाच्छस्त्रमीरितम् ॥

मन्त्रमुक्त, पाणिमुक्त, मुक्तामुक्त और अमुक्त—धनुर्वेद में शस्त्र के ये चार पाद बताये गये हैं।

जिसका मान्त्रिक प्रयोग होता है, उपसंहार नहीं होता उसे 'मन्त्रमुक्त' कहते हैं। जिसे हाथ में लेकर धनुष द्वारा छोड़ा जाए, उसे 'पाणिमुक्त' कहते हैं। जिसका प्रयोग और उपसंहार दोनों हों, वह 'मुक्तामुक्त' कहलाता है। जो छोड़ा नहीं जाता, जिसके देखने मात्र से ही शत्रु भाग जाते हैं, वह 'अमुक्त' कहलाता है।

अथवा—सूत्र, शिक्षा, प्रयोग और रहस्य—ये धनुर्वेद के चार पाद हैं।

२. धनुर्वेद के दश अङ्ग निम्न हैं—

आदानमथ सन्धानं मोक्षणं विनिवर्तनम् ।
स्थानं मुष्टिः प्रयोगश्च प्रायश्चित्तानि मण्डलम् ।
रहस्यं चेति दशधा धनुर्वेदाङ्गमिष्यते ॥

आदान, सन्धान, मोक्षण, विनिवर्तन, स्थान, मुष्टि, प्रयोग, प्रायश्चित्त, मण्डल और रहस्य—ये धनुर्वेद के दश अङ्ग हैं।

तरकस से बाण को निकालना 'आदान' है। बाण को धनुष की प्रत्यञ्चा पर चढ़ाना 'सन्धान' है, उसे लक्ष्य पर छोड़ने को 'मोक्षण' कहते हैं। छोड़े हुए बाण को वापस लौटाना 'विनिवर्तन' है। शरसन्धान-काल में धनुष और प्रत्यञ्चा के मध्यदेश को 'स्थान' कहते हैं। तीन अथवा चार अंगुलियों का सहयोग 'मुष्टि' कहलाता है। तर्जनी और मध्यमा अंगुलि के अथवा मध्यमा और अंगुष्ठ के मध्य से बाण का सन्धान करना 'प्रयोग' कहा जाता है। स्वतः अथवा दूसरे से प्राप्त होने-वाले ज्याघात [धनुष की डोरी के आघात] और बाण के आघात को रोकने के लिए दस्तानों के प्रयोग को 'प्रायश्चित्त कहते हैं। चक्राकार घूमते हुए रथ के साथ-साथ घूमनेवाले लक्ष्य का वेध 'मण्डल' कहलाता है। शब्द सुनकर लक्ष्य-वेधन अथवा एक ही समय में अनेक लक्ष्यों को बींध डालना—ये सब 'रहस्य' के अन्तर्गत आते हैं।

३. ब्रह्मास्त्र आदि को दिव्य और खड्ग आदि को मानुष कहते हैं।

४. लोक में ऐसी मिथ्या धारणा है कि युद्ध के समय अभि-मन्यु की अवस्था केवल सोलह वर्ष थी। पाठक इस स्थल को ध्यानपूर्वक पढ़ें। यदि युद्ध के समय अभिमन्यु की अवस्था सोलह वर्ष थी, तो पाण्डवों के वनवास से पूर्व उसकी अवस्था लगभग तीन वर्ष होनी चाहिए। क्या अर्जुन ने तीन वर्ष के अभिमन्यु को सारे अस्त्र-शस्त्रों में पारंगत बना दिया था?

सर्वसंहननोपेतं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
दुर्धर्षमृषभस्कन्धं व्यात्ताननमिवोरगम् ।।५१।।
सिंहदर्पं महेष्वासं मत्तमातङ्गविक्रमम् ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ।।५२।।
कृष्णस्य सदृशं शौर्ये वीर्ये रूपे तथाऽऽकृतौ ।
ददर्श पुत्रं बीभत्सुर्मघवानिव तं यथा ।।५३।।

दूसरों को तिरस्कृत करनेवाले, समस्त सद्गुणों से सम्पन्न, सभी उत्तम लक्षणों से सुशोभित एवं दुर्धर्ष, वृषभ के समान हृष्ट-पुष्ट कन्धोंवाले, शत्रुओं को मुँह खोले हुए सर्प की भाँति भयानक प्रतीत होनेवाले, सिंह के समान गर्वीले और मदमस्त, गजराज की भाँति पराक्रमी, महाधनुर्धर, मेघ और दुन्दुभि के समान गम्भीर स्वरवाले, पूर्ण चन्द्रमा के समान मुखवाले, शौर्य, पराक्रम, रूप और आकृति में श्रीकृष्ण के समान प्रतीत होनेवाले अपने उस पुत्र को अर्जुन वैसी ही प्रसन्नता से देखते थे, जैसे इन्द्र उन्हें देखा करते थे ।

इति महाभारते आदिपर्वणि पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।।३५।।